संस्थापक
शिव वर्मा

संपादकीय परामर्श
दूधनाथ सिंह
ज़ुबैर रज़वी

संपादक
मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
चंचल चौहान

संपादकीय सहयोग
कांतिमोहन 'सोज़'
रेखा अवस्थी
जवरीमल्ल पारख
संजीव कुमार

आवरण चित्र
गुजरात 2002

कंपोज़िंग सहयोग
कंचन सिन्हा

इस अंक की सहयोग राशि
साठ रुपये
(डाक ख़र्च अलग)

कार्यालय सहयोग
सुजीत कुमार

संपादकीय कार्यालय
42, अशोक रोड
नयी दिल्ली–110001
Email : jlscentre@yahoo.com
jlsind@gmail.com
फोन : 011-23738015
मो. : 9818859545, 9811119391
Website: www.jlsindia.org

प्रकाशन, संपादन, प्रबंधन पूर्णतः गैरव्यावसायिक और अवैतनिक।

पत्रिका में प्रकाशित विचार लेखकों के अपने हैं, जलेस की सहमति आवश्यक नहीं।

जनवादी लेखक संघ की केंद्रीय पत्रिका

नया पथ

सांप्रदायिक फ़ासीवाद पर केंद्रित

वर्ष 28 जनवरी-मार्च 2014 अंक 1

अनुक्रम

संपादकीय / 3

इलाहाबाद घोषणा / 5

नवउदारवाद और सांप्रदायिक फ़ासीवाद का उभार / *प्रभात पटनायक* / 10

संघ परिवार का फ़ासीवाद / *सुमित सरकार* / 20

जर्मन फ़ासीवाद (1933-34) : आतंक और लफ्फाजी की भूमिका / *कुर्ट पेट्ज़ोल्ड* / 31

गुजरात विकास की यथार्थ गाथा / *कृष्ण मुरारी* / 43

'संघ-स्वदेशी' और भूमंडलीकरण / *अभय कुमार दुबे* / 52

कॉरपोरेट पूंजी, फ़ासीवाद और मीडिया / *मुकेश कुमार* / 58

समकालीन भारतीय चित्रकला पर सांप्रदायिक हमले / *मनोज कुलकर्णी* / 63

हिंदू राष्ट्रवाद तथा उड़ीसा : अन्य के तौर पर अल्पसंख्यक / *अंगना चटर्जी* / 67

उड़ीसा : गुजरात बनाने की प्रक्रिया में / *अंगना चटर्जी* / 79

गुप्त 'धर्मयुद्ध' / *प्रियंका कोटमराजु* / 83

पांडित्य और सहानुभूति से निर्मित एक कृति / *गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे* / 86

सांप्रदायिक फ़ासीवाद के ख़तरे के ख़िलाफ़ लेखकों, कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों की एकता / *इलाहाबाद से लौटकर राजेंद्र शर्मा द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट* / 90

सांप्रदायिक सद्भाव की ऐतिहासिक अनिवार्यता / *मृणाल* / 104

कविताएं

अथ राक्षस चालीसा / *स्वामी सदानंद सरस्वती* / 114; **इन्तज़ाम** / *कुंवर नारायण* / 116; **उपदेश नहीं** / *भगवत रावत* / 117; **गुजरात के मृतक का बयान** / *मंगलेश डबराल* / 119; **हलफ़नामा** / *असद ज़ैदी* / 121; **वली दकनी** / *राजेश जोशी* / 123; **कार्तिक स्नान** / *मनमोहन* / 126; **मोदी** / *विष्णु नागर* / 128; **कौमी एकता का गीत** / *चंचल चौहान* / 129; **ईश्वरीय संगठन** / *कुमार अंबुज* / 130; **रात** / *निर्मला गर्ग* / 132; **अपराध** / *एकान्त श्रीवास्तव* / 133; **अथ श्री पूंजी प्रपंचम्** / *दिनेश कुमार शुक्ल* / 135; **नई सदी** / *नीलेश रघुवंशी* / 136; **हमारे समय की प्रार्थना** / *अनिल गंगल* / 137; **कविता मेरी नहीं** / *बोधिसत्व* / 138; **यह आवाज़ मुझे सच्ची नहीं लगती** / *पवन करण* / 139; **फ़ासिस्ट** / *मुकेश मानस* / 141; **सोख़्ता ग़ज़ल** / *मुज़फ़्फ़र हंफ़ी* / 142; **सितम** / *मंज़र शहाब* / 143; **बगिया लहूलुहान** / *हबीब जालिब*

कहानियां

शाह आलम कैम्प की रूहें / *असग़र वजाहत* / 144; **नींव की ईंट** / *हुसैन उल हक़* / *148*; **बालकोनी** / *सुरेंद्र प्रकाश* / 155; **अली मंज़िल** / *अवधेश प्रीत* / 166; **दंगा भेजियो मौला!** / *अनिल यादव* / 179; **अंधेरी दुनिया के उजले कमरे में गुर्र-गों** / *राकेश तिवारी* / 185

समीक्षाएं

ज़ब्तशुदा नाटकों पर अनूठी शोध दृष्टि / *मुरली मनोहर प्रसाद सिंह* / 193; **भाषा बोलती उतना नहीं, जितना देखती है** / *मुकेश मिश्र* / 195;

विशिष्ट आयोजन

'हल्ला बोल' उत्सव / *अशोक तिवारी* / 200

संपादकीय

सांप्रदायिक फ़ासीवाद के विरुद्ध आह्वान पर केंद्रित इस अंक में एक ओर जहां 14 फरवरी 2014 को इलाहाबाद में आयोजित *साझा संस्कृति संगम* में दिये गये प्रभात पटनायक के उद्घाटन भाषण को यथावत् मुद्रित किया जा रहा है, वहीं उसी अवसर पर जलेस, प्रलेस, जसम तथा स्वतंत्र संस्कृतिकर्मियों के द्वारा सर्वसम्मति से स्वीकृत की गयी *घोषणा* भी यथावत् प्रकाशित की जा रही है। इसके अलावा 15 फरवरी के दिन संपन्न जलेस सम्मेलन में पारित सभी प्रस्ताव तथा दोनों दिनों के कार्यक्रम की विस्तृत रिपोर्ट भी प्रकाशित की जा रही है।

इस अंक के द्वारा हम यह बताना चाहते हैं कि सांप्रदायिक फ़ासीवाद के विरुद्ध जनवादी-वामपंथी ताक़तों की ओर से लंबे अर्से से निरंतर अभियान चलाया जा रहा है। इसी अंक में जर्मन फ़ासीवाद के विश्लेषणकर्त्ता एक चिंतक का लेख भी हम छाप रहे हैं और वेंडी डोनिगर की हिंदुत्व संबंधी पुस्तक पर जी.पी. देशपांडे का रिव्यू भी छाप रहे हैं। उल्लेखनीय है कि हिंदू उग्रवादियों के दबाव में आकर पेग्विंन प्रकाशन के उक्त पुस्तक का वितरण बंद कर दिया है।

बड़े औद्योगिक घरानों तथा अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी का राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और भाजपा के साथ गठबंधन मुद्रित समाचार पत्रों और इलेक्ट्रॉनिक चैनल में मोदी-मोदी के नाम जाप, तमाम तस्वीरों और विभिन्न तरह से पेश किये गये कार्यक्रमों के माध्यम से साफ़-साफ़ झलकता है। देशभर के लोकतंत्र प्रेमी लोग जिस व्यक्ति को गुजरात के मुस्लिम जनसंहार का खलनायक समझते हैं, जिसने गुजरात को हिंदू राष्ट्रवाद के द्वीप के रूप में तब्दील कर दिया है, जिसने तमाम कॉरपोरेट घरानों के हितों की पूर्ति के साथ गुजरात के किसानों-मज़दूरों, दलितों, आदिवासियों और स्त्रियों समेत सामान्य नागरिकों के साथ छल-कपट कर उन्हें कल्याणकारी राजसत्ता के लाभों से वंचित कर रखा है, उसे ही संपूर्ण मीडिया *'विकास पुरुष'* के रूप में प्रस्तुत करता है। गुजरात के विकास मॉडल की सच्चाइयों पर भी इस अंक में कृष्ण मुरारी का आलेख प्रकाशित किया जा रहा है। इसी पहलू पर इस अंक के छपने की प्रक्रिया में देर से हमें एक लेख प्रो. कमल नयन काबरा का मिला। उक्त लेख को यद्यपि हम प्रकाशित नहीं कर पा रहे हैं, लेकिन उसके कुछ महत्वपूर्ण अंशों को हम उद्धत कर रहे हैं। उनके लेख का शीर्षक है, 'गुजरात के कु-विकास की कहानी।' भूमंडलीकरण के दौर में भारत के सभी राज्य एक ही तरह की नीति का पालन करते रहे हैं, गुजरात कोई अपवाद नहीं है। प्रो. काबरा का कहना है--सब राज्यों में प्रचलित आर्थिक विकास नीति के सर्वसामान्य मुख्य अंग हैंः नियमनहीन बाज़ारीकरण, निजी बड़ी कंपनियों और विदेशी कंपनियों द्वारा किये गये निवेश, भारतीय अर्थ-व्यवस्था का पूरी तरह भूमंडलीकरण, महंगे विलासिता के साज़ो-सामान और आलीशान इमारतों, शॉपिंग मॉलों, मोटरकारों के उत्पादन को उच्च प्राथमिकता,

खेतीबाड़ी की ज़मीन तथा दूसरे प्राकृतिक साधनों, सार्वजनिक उद्यमों तथा शिक्षा, स्वास्थ्य आदि सेवाओं को भी निजीकरण द्वारा मोटी निजी आमदनी और संपत्ति को अधिकतम करने का राज्य द्वारा स्वीकृत और प्रोत्साहित साधन बनाना।' इसके बावजूद मोदी और भाजपा के लोगों के अनुकूल मीडिया गुजरात के विकास के मॉडल के ढोल बजा रहा है। वास्तविकता तो यह है कि 'गुजरात मॉडल अखिल भारतीय आर्थिक नीतियों की कार्बन कॉपी है, आकंठ भ्रष्टाचार में डूबी, स्वार्थ-केंद्रित नौकरशाही और याराना पूंजीवादियों द्वारा जनपक्षीय प्राथमिकताओं, आकांक्षाओं को नकारने वाले निर्णयों द्वारा संचालित। आम सभाओं में असत्य, अर्धसत्य और भ्रामक दावों द्वारा राष्ट्रीय और राज्य स्तर पर ग़लतबयानी और विकास के झूठे और खोखले दावों का नया निकॉर्ड रचा जा रहा है।' इन निष्कर्षों के ठोस साक्ष्य के रूप में कृष्ण मुरारी का आलेख पढ़ना चाहिए, जो इस अंक में प्रकाशित हो रहा है। भारत के 28 राज्यों में विकास और कल्याण के ठोस 8 मानकों की कसौटी पर गुजरात बारहवें स्थान पर है। न तो भाजपा, न मोदी, न सामाचारपत्र और न इलेक्ट्रानिक मीडिया यह बताते हैं कि अकेले गुजरात में दुर्दशाग्रस्त 800 किसानों ने आत्महत्या की है, 60 हज़ार से ज़्यादा छोटी-मंझोली औद्योगिक इकाइयां बंद हो चुकी हैं और मुस्लिम समाज समेत सभी भाजपा-विरोधी मतदाताओं को मतदान में हिस्सा लेने से रोका जाता है। गुजरात की लोकतांत्रिक प्रक्रिया विकलांग बना दी गयी है।

ऐसे हालात में पूरे देश पर एक तानाशाह को थोपने की तैयारियां जारी हैं। लोकतंत्र से भरोसा ख़त्म हो जाने की प्रक्रिया में जनसाधारण को बताया जाता है कि कोई मसीहा, अवतारी पुरुष या तानाशाह ही देश के दुर्दिन दूर कर भारत को एक महान राष्ट्र बना सकता है। बड़े औद्योगिक घराने और अंतर्राष्ट्रीय वित्तीय पूंजी के वर्चस्व तले संचालित मीडिया यही काम कर रहा है। इसे ही मीडिया प्रबंधन की संज्ञा से अभिहित किया जा रहा है। मुकेश कुमार का लेख इन्हीं बातों का खुलासा करता है।

गुजरात के ही प्रसिद्ध समाजवैज्ञानिक धीरू भाई शेठ ने 2005 में एक लंबा आलेख लिखा था जिसका शीर्षक था--'गुजरात के बाद हिंदुत्व और राज्य का सेकुलरत्व'। इस लेख के निष्कर्ष मौजूदा लोकसभा चुनाव के संदर्भ में स्मरणीय हैं। प्रो. धीरू भाई शेठ ने कहा था--'गुजरात हमारे देश में एक द्वीप की तरह है। गुजरात जो कभी 'गांधी का गुजरात' कहलाता था, वह उदार लोकतांत्रिक भारत में हिंदू राष्ट्र का एक द्वीप बन गया है। वहां हिंदू राष्ट्र उन्हीं अर्थों में बन चुका है जिन अर्थों में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ इस देश को हिंदू राष्ट्र बनाना चाहता है।' कॉरपोरेट पूंजी और हिंसक सांप्रदायिकता के गठजोड़ से गुजरात का जो मॉडल तैयार किया गया है, उसी मॉडल को पूरे देश में थोपने के लिए मोदी की तानाशाही के गुणगान किये जा रहे हैं। भाजपा यह भी कह रही है कि भारतीय सेना को स्वायत्तता प्रदान की जाये जिसका मतलब है कि फौजी गठजोड़ से देश पर तानाशाही थोपी जा सके। एक हत्यारे की चुनाव सभाओं में दहाड़ से यही संकेत मिलता है। मुज़फ़्फ़रनगर में दंगे के लिए आरोपी हुकुम सिंह यह मांग कर रहे हैं कि राहत शिविरों में शरण लेने वालों को मतदान से वंचित कर दिया जाये।

उपर्युक्त संदर्भों में ही *नया पथ* के इस अंक की अधिकांश सामग्री का चयन किया गया है।

इस बीच हिंदी कथाकार अमरकांत, समाजशास्त्री व साहित्यकार पी.सी. जोशी और अंग्रेजी तथा पंजाबी के लेखक खुशवंत सिंह हमारे बीच नहीं रहे। *नया पथ* इनके निधन पर श्रद्धांजलि और इनके शोक-संतप्त परिवार के प्रति अपनी संवेदना व्यक्त करता है।

साझा संस्कृति संगम, इलाहाबाद (14 फरवरी) में पारित

इलाहाबाद घोषणा

भारतीय समाज इस समय फ़ासीवाद के मुहाने पर खड़ा है। सच तो यह है कि देश के अनेक हिस्सों में लोग अघोषित फ़ासीवाद की परिस्थिति में ही सांस ले रहे हैं। यह ख़तरा काफी समय से मंडरा रहा था पर अब एक अलग क़िस्म के और ज़्यादा निर्णायक चरण में दाख़िल होना चाहता है। सामराजी सरमाया के दबाव में थोपे गये आर्थिक उदारीकरण ने बेतहाशा आर्थिक तबाही के साथ देश की संवैधानिक संरचना, लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं और सामाजिक और सांस्कृतिक परस्परता के ढांचे को ध्वस्त करना शुरू किया, और ऐसी हालत आन पहुंची है कि प्रतिक्रियावाद के ये बहुमुखी आक्रमण रोके नहीं गये तो हिंदुस्तानी मुश्तरका तहज़ीब, जीवन शैली और पिछले डेढ़ सौ सालों में विकसित राजनीतिक पहचान और क़ौमी परंपराएं ही लापता हो जायेंगी। संगठित पूंजी ने राज्य और राजकीय संस्थाओं पर, प्रमुख राजनीतिक दलों में, कार्यपालिका, सुरक्षातंत्र और न्यायपालिका पर अपनी घुसपैठ इतनी बढ़ा ली है कि वह लगभग सभी दूरगामी आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक नीतियों की दिशा निर्धारित करने लगी है और हुक्मरान तबका इसके अर्दली की तरह काम करता दिखायी देता है। मीडिया के बड़े हिस्से पर पूंजी का क़ब्ज़ा हो चुका है। सूचना, प्रचार, समाचार और मनोरंजन के साधनों पर वह लगभग एकाधिकार की स्थिति में है। क़ानून, व्यवस्था और सुरक्षा के तंत्र अब पूंजी के चौकस प्रहरी, उसकी साज़िशों के प्रभावी वाहक और जन-हितों को कुचलने वाली हिंसक मशीन में बदल चुके हैं।

यह परिस्थिति सिर्फ़ अमरीकी दबाव या कॉरपोरेट घरानों के इशारे भर से नहीं बनी है। इसके पीछे प्रतिक्रियावादी ताक़तों द्वारा तालमेल के साथ भारतीय मध्यवर्ग और आम जनता के बहुत से हिस्सों की लामबंदी के संगठित प्रयास हैं और इन प्रयासों का एक लंबा इतिहास है। हमारे देश में भी फ़ासीवादी विचारधारा का एक अतीत है, वह अरसे से ताक़त इकट्ठा करती आ रही है, अब वह नाज़ुक हालत आ पहुंची है कि यह हमारे भविष्य को निर्धारित करना चाहती है। पिछले दो दशकों में शासक वर्ग की अवाम दुश्मन और लुटेरी नीतियों के नतीजे के तौर पर आनन फानन में धनी हुए मध्यवर्ग का एक बड़ा टुकड़ा, जिसमें नौकरीपेशा लोग भी शामिल हैं, अब इस पूंजी के पीछे लामबंद है। दूसरी तरफ दक्षिणपंथी, फ़िरकावाराना और मज़हबी जुनून फैलाने वाली कुव्वतें, ख़ासकर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ और उससे संबद्ध दर्जनों संगठन हिंदुत्ववादी अस्मिता के निर्माण, प्रचार-प्रसार, योजनाबद्ध साज़िशों और आतंकवादी तरीक़ों से भारतीय समाज के प्रतिक्रियावादी पुनर्गठन में मुब्तिला हैं। इसी दौर में राष्ट्रीय आंदोलन की उदारवादी और जनोन्मुखी प्रेरणाएं और मूल्य तेज़ी से टूटे बिखरे हैं और बांये बाजू की वैकल्पिक चुनौती और प्रतिरोध की परंपरा भी कमज़ोर पड़ी है। संक्षेप में, सामराजी भूमंडलीकरण, कॉरपोरेट पूंजी और हिंदू राष्ट्रवाद का यह गठजोड़ हमारे राष्ट्रीय जीवन के हर हिस्से पर क़ाबिज़ होना चाहता है, और ऐसी हालत बनायी जा

रही है कि लोगों को लगे कि अब और कोई विकल्प बचा नहीं है। जबकि सच यह है कि ऐन इसी समय समाज के बड़े हिस्से, ख़ासतौर पर वंचित तबक़े, अपनी कशमकश और अपने संगठित-असंगठित निरंतर संघर्षों से बार-बार और तरह-तरह से जनवाद के विस्तार की तीव्र और मूलगामी आकांक्षा का संकेत दे रहे हैं। विश्वविजय के अभियान को पूरा कर चुका पूंजीवाद अभी गंभीर संकट में है और अपनी विध्वंसक मुहिम को बढ़ाने के अलावा उसे कोई विकल्प दिखायी नहीं देता। दुनिया भर में उसके ख़िलाफ़ व्यापक जनअसंतोष की तीव्र अभिव्यक्ति स्वतःस्फूर्त और संगठित संघर्षों के रूप में सामने आ रही है, जिसे कुचलने या विकृत करने या दिशाहीन बनाने या अराजकता की ओर ले जाने की कोशिशें भी बड़े पैमाने पर चल रही हैं। मौजूदा फ़ासीवादी उभार इसी चुनौती का मुक़ाबला करने का मंसूबा लेकर सामने आया है। लोकतांत्रिक और वामपंथी ताक़तें इस समय एक अलगाव के हालात के बीच कॉरपोरेट फ़ासीवाद के भारी दबाव और हमलों का सामना कर रही हैं। यह एक विडंबना है कि जिस समय ऐसी ताक़तों की पारस्परिकता और विशाल एकजुटता की सबसे ज़्यादा ज़रूरत है, वे काफी कुछ बिखराव की शिकार हैं।

हमने देखा है कि हर प्रकार की तानाशाही - फ़िरकावाराना हो या किसी और तरह की - जनाधार ढूंढ़ती है और ख़ास हालात में वह उसे हासिल भी कर लेती है। जर्मनी और इटली की मिसालें लंबे समय से हमारे सामने हैं। भारतीय समाज की सामाजिक बनावट, विचारधारात्मक तंत्र और दैनिक सांस्कृतिक जीवन में निरंकुशतावादी या फ़ासीवादी तत्वों की मौजूदगी और सक्रियता का इतिहास बहुत पुराना है। पिछले बीस-तीस वर्षों में इस प्रतिक्रियावादी अवशिष्ट का एक विशाल कारोबार ही खड़ा हो गया है और इसमें नयी जान पड़ गयी है। 'पॉपुलर कल्चर' के परंपरागत रूपों और मास कल्चर के नमूने की नयी लुम्पेन बाजारी संस्कृति में ढल कर फ़ासीवाद के अनेक तत्व इस वक़्त सतत क्रियाशील हैं। साधु, संत, मठ, आश्रम, धार्मिक टी.वी. चैनल, हिंदुत्ववादी प्रचारतंत्र, रूढ़िवादी सामाजिक और धार्मिक सीरियलों की बढ़ती लोकप्रियता ने जहां एक तरफ धर्म और 'देवत्व' का एक विशाल बाजार पैदा कर दिया है, वहीं दूसरी तरफ नृशंसता का उत्सव मनाती सत्य कथाओं और अपराध कथाओं के जरिये मनोरंजन उद्योग फलफूल रहा है, जिसमें शिक्षित मध्यवर्ग सहित आबादी के विशाल तबके प्रशिक्षित और अनुकूलित हो रहे हैं। इस विशाल कारोबार में फ़ासीवादी कुव्वतें पूरी तरह संलग्न हैं और इसमें बेशुमार पूंजी लगी हुई है। इस तरह फ़ासीवाद के लिए अनुकूल सांस्कृतिक वातावरण पहले से तैयार है और ये कुव्वतें अपनी हेकड़ी से मीडिया में मौजूद विवेकशील स्वरों को दबाने में सफल हो रही हैं। अभिव्यक्ति की आज़ादी पर लगातार हमले हो रहे हैं। किताबें जलाना, सिनेमा और नाटक का प्रदर्शन रुकवाना, चित्र-प्रदर्शनियों पर हिंसक हमले करना - सांप्रदायिक फ़ासीवाद के उन्मत्त गिरोहों के द्वारा अंजाम दी जानेवाली ऐसी घटनाएं आये दिन घट रही हैं।

मुज़फ़्फ़रनगर का हत्याकांड और अल्पसंख्यकों का विस्थापन बताता है कि फ़ासीवादी शक्ति किस तरह से रूढ़ि-पोषक खाप पंचायतों, हरित क्रांति तथा पुरुष सत्तावाद के आधार पर खड़ी राजनीति और प्रतिक्रियावादी सामाजिक संस्थाओं से तालमेल बिठाकर उन्हें अपने नियंत्रण में लेती है। उन्होंने नियोजित तरीके से 'लव जिहाद' का दुष्प्रचार करके सांप्रदायिकता को बहू-बेटी की इज्जत का मामला बनाया और एक साथ वर्गीय और जेंडर हिंसा का षड्यंत्र रचा, जिसमें हम आज़ादी के बाद संपन्न हुए भूस्वामी वर्ग और पूंजीपति वर्ग की आपसी सुलह और कारस्तानियों का सबसे भद्दा रूप देख सकते हैं।

जिस आसानी से और बिना किसी जवाबदेही के भारतीय राज्य, विरोधी आवाज़ों को दबाता जा रहा है, जिस तरह आतंकवाद की झूठी आड़ में निरपराध मुस्लिम नवयुवकों को गिरफ़्तार कर लेता है और माओवाद के नाम पर किसी भी मानवाधिकार कार्यकर्ता को पकड़ लेता है और यातनाएं देता है, जिस तरह श्रम कानूनों की सरेआम धज्जियां उड़ायी जाती हैं, लोकतांत्रिक विरोध-प्रदर्शनों को जिस तरह कुचला जाता है, जिस तरह से बड़े पैमाने पर कश्मीर और उत्तरपूर्व के राज्यों में मानवाधिकार हनन हो रहा है, दलितों और महिलाओं के विरुद्ध हिंसा के मामलों में सरकारी तंत्र कोई कार्रवाई करने के बजाय हमलावरों के बचाव में जिस तरह लग जाता है, और कॉरपोरेट मीडिया तंत्र लोगों को इन चीज़ों की ख़बर तक नहीं देता, यह सब न केवल यह दर्शाता है कि हमारे समाज और राजनीति का संकट गंभीर रूप अख़्तियार कर चुका है बल्कि यह भी बताता है कि हमारे इस संवैधानिक-लोकतांत्रिक निजाम के अंदर ही इन सब चीज़ों के लिए गुंजाइश बन चुकी है और यह निजाम अब इसी दिशा में आगे जाये, इसकी तैयारी भी पूरी है। मौजूदा फ़ासीवादी मुहिम राज्य की इसी निरंकुशता को एक नयी आपराधिक आक्रामकता और स्थायित्व देने के लक्ष्य से संचालित है। इस संदर्भ में आने वाले आम चुनावों में फ़ासीवादी ताकतों को नाकामयाब करना बेहद ज़रूरी है।

रोजगारविहीन 'विकास' का जो मॉडल राज्य ने लागू किया है, उसने इस चुनौती को और विकराल बना दिया है। विस्थापन और बेदख़ली के जरिये संचय का नजारा आज का मुख्य नज़ारा है। देश के बेशकीमती प्राकृतिक संसाधनों और लाखों-करोड़ों की सार्वजनिक परिसंपत्तियों की बेरहम लूट और बर्बादी एक लंबे समय से जारी है। लोगों से खेत, जंगल, जमीन, पंचायती जमीनें छीनी जा रहीं हैं और खनन करने, राजमार्ग बनाने से लेकर बैंक, बीमा, जनसंचार, शिक्षा, स्वास्थ्य यहां तक कि डिफेंस जैसे क्षेत्रों को कॉरपोरेट पूंजी और विदेशी निवेशकों के हवाले करने के उपक्रम लगातार चल रहे हैं, जिससे असमानता बेतहाशा बढ़ी है और सामाजिक ध्रुवीकरण चरम बिंदु पर पहुंच रहा है। आबादियों के विशाल हिस्से उजड़ रहे हैं और रोजी रोटी के लिए वे मारे-मारे फिर रहे हैं। ज़िंदगी बसर करने के हालात कठिन से कठिनतर होते जा रहे हैं। अवाम की प्रतिरोध की ख़्वाहिश को मुख्यधारा की सियासी पार्टियों का समर्थन लगभग नहीं मिल रहा। कई बार छोटे छोटे ग्रुप विभिन्न मुद्दों पर अपनी सीमित क्षमता के सहारे, कई बार बिना नेतृत्व के भी, लड़ते और कभी कभी थकते नज़र आते हैं। आदिवासियों, गरीब किसानों, दलितों, बेसहारा शहरी गरीबों, उत्पीड़ित स्त्रियों, अल्पसंख्यकों का विशाल जनसमुदाय मुख्यधारा के राजनीतिक प्रतिष्ठान की हृदयहीनता से हैरान और ख़फा है, और उससे उसका भरोसा उठता जा रहा है।

असंगठित, असहाय, हताश आबादियों और बेरोज़गार भीड़ों का गुस्सा अक़्सर आसानी से दक्षिणपंथी और फ़ासिस्ट लामबंदी के काम आता है। अस्मिता की प्रतिक्रियावादी राजनीति कई बार इसका उपयोग करती है। इसके लिए जहां वर्चस्ववादी अस्मिता की शासक वर्गीय राजनीति से लड़ना ज़रूरी है वहीं यह भी ज़रूरी है कि वंचित तबकों की प्रतिरोधी अस्मिता के सकारात्मक और जनतांत्रिक सारतत्व के प्रति हम ग्रहणशील हों और उसकी रक्षा करें और साथ ही वंचित तबकों की व्यापक जनतांत्रिक एकता के निर्माण की चुनौती को स्वीकार करें। हमें यह भी समझना होगा कि अल्पसंख्यकों में काम करने वाली फिरक़ेवाराना और दक़ियानूसी ताक़तें भी अन्ततः हिंदुत्ववादी फ़ासिस्ट मुहिम की ख़ुराक़ और इसके विनाशक दुष्चक्र को चलाने का औज़ार ही सिद्ध होती हैं। इसलिए सांप्रदायिक फ़ासीवाद से कारगर ढंग

से लड़ने के लिए हर रंगत की सांप्रदायिक, कट्टरतावादी और रूढ़िवादी ताक़तों से एक साथ वैचारिक संघर्ष भी ज़रूरी है।

इस वक़्त जहां सियासी सतह पर वामपंथी और लोकतांत्रिक व सेक्यूलर ताकतों और संगठनों की ऐतिहासिक जिम्मेदारी है कि वे बिना वक़्त गंवाये एकजुट हो कर मुकाबले की तैयारी करें, वहीं इसमें कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों, बुद्धिजीवियों, समाजविज्ञानियों, शिक्षकों, पत्रकारों और अन्य पेशेवर लोगों की बहुत ही महत्वपूर्ण भूमिका होगी। राजनीति की अक्षमता का हवाला देकर हम अपनी जिम्मेदारी से मुंह नहीं मोड़ सकते।

लेखक और कलाकार आज के हालात में लेखक-नागरिक और कलाकार-नागरिक ही हो सकते हैं, अपनी कलम और अपनी कला के साथ इस अवामी जंग में शिरकत करते हुए। सभी तरक्कीपसंद, जम्हूरियतपसंद और मानवतावादी सांस्कृतिक संगठनों की इस जंग में शिरकत लाजिम है।

हम भूले नहीं हैं कि 1930 के दशक में जब हिंदी-उर्दू इलाके के इंक़लाबी नौजवान लेखक और लेखिकाओं की कोशिशों के नतीजे के तौर पर प्रेमचंद की सदारत में प्रोग्रैसिव मूवमेंट की बुनियाद पड़ी तो कुछ ही समय में यह पहल किस तरह एक विराट, बहुमुखी अखिल भारतीय सांस्कृतिक आंदोलन में बदल गयी थी। भारतीय संस्कृति में मध्ययुग के बाद इस पैमाने का परिवर्तन नहीं हुआ था। उस समय, 1930 और 40 के दशक में यह दुनिया विकल्पहीन नहीं लग रही थी। सब एक बेहतर, न्यायपूर्ण समाज का सपना ही नहीं देख रहे थे, उसे पूरा करने की लड़ाई में हिस्सा लेने को तत्पर थे। यही दौर यूरोप और जापान में फ़ासीवाद के उदय, स्पेनी गृहयुद्ध और दूसरे विश्वयुद्ध का भी था। दुनिया भर में उपनिवेशवाद के ख़िलाफ़ चले स्वतंत्रता आंदोलन हों या फ़ासिज़्म का प्रतिरोध, लेखकों और संस्कृतिकर्मियों ने उनमें अग्रगामी भूमिका अदा की। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के अंतर्विरोधों के चलते जैसी क्षतिग्रस्त और ख़ून में रंगी आज़ादी हमें मिली, उसके बावजूद हमारे फनकारों और अदीबों ने हिम्मत नहीं हारी और उपमहाद्वीप की जनता के दिल में प्रगतिशील मानव-मूल्यों को परवान चढ़ाने वाली रचनाशीलता की जगह बनायी। सिनेमा, रंगमंच, संगीत, चित्रकला और साहित्य में प्रगतिशील रचनाकारों ने जनमानस को नयी दिशा देने वाले काम किये जिनका असर आज तक हमारी ज़बान और बरताव में दिखायी देता है। उस समय प्रेमचंद ने कहा था कि साहित्य राजनीति का पिछलग्गू नहीं, उसके आगे चलने वाली मशाल है, या होनी चाहिए। हम इसी परंपरा के वारिस हैं।

आज एक बड़ी और नयी साहसिक पहलकदमी की ज़रूरत है। फ़ासीवादी ताकतें जिस पैमाने पर सक्रिय हैं, उसी पैमाने पर उनका जवाब देना होगा। छोटे मोटे वक्तव्य या प्रतीकात्मक कार्रवाइयों की भी अहमियत है, मगर इतने भर से इस जद्दोजहद में कामयाबी हासिल नहीं होगी। स्थिति की विडंबना है कि अभी भी ऐसे बहुत से मोर्चे हैं जिन पर सांप्रदायिक फ़ासीवादी ताकतें लंबे समय से उपस्थित और आक्रामकता के साथ सक्रिय हैं, उन पर धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक इदारों की सक्रियता नहीं के बराबर है। लेकिन इस कठिन घड़ी में भी फ़ासीवाद का मुकाबला किया जा सकता है, उसे रोका जा सकता है और यहां तक कि उसे शिकस्त दी जा सकती है बशर्ते कि हम इसके लिए एकजुट हो कर खड़े हों। तमाम विषम चुनौतियों के बावजूद अंततः यह हमारा समय है। इसके लिए ज़रूरी है कि हम साहित्यिक परिदृश्य में व्याप्त अपसंस्कृति से ख़ुद को आज़ाद करें, आपाधापी, आत्मपूजा, गुटबाजी, लालच और तुच्छताओं से ऊपर उठते हुए, संघर्षशील चेतना के साथ आसन्न चुनौती का मिलकर सामना करें।

प्रतिरोध की शक्तियों के लिए यह समय गहन पारस्परिक संवाद, सहकार और एकजुटता का समय है। आज ज़रूरी है कि देशभर में (और ख़ासकर उत्तर भारत में) तमाम प्रगतिशील, जनवादी, सेक्युलर और सच्चे उदार मानववादी साहित्यिक सांस्कृतिक संगठन और व्यक्ति, छोटे बड़े मंच और पत्र-पत्रिकाएं, लेखक, नाट्यकर्मी, संगीतकार, चित्रकार, शिल्पी और समाजविज्ञानी एक बृहत्तर संजाल बना कर काम करें, नयी योजनाएं बनायें, वर्कशाप करें, हर फोरम पर वैचारिक-सांस्कृतिक अभियानों को संगठित करें, प्रदर्शनियां तैयार करें, जत्थे निकालें और तमाम सांस्कृतिक कलात्मक व वर्चुअल माध्यमों और रूपों का उपयोग करते हुए साधारण लोगों को बड़े पैमाने पर संबोधित करें। फ़ासीवाद के कुटिल कुत्सित प्रचार-तंत्र का मुक़ाबला यही चीज़ कर सकती है।

हम इस देश की ज़रख़ेज़ सेकुलर सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत और नवजागरण की संपन्न मानवतावादी जनतांत्रिक और प्रगतिशील साहित्यिक परंपराओं के सच्चे वारिस हैं। यह विरासत कहीं गयी नहीं है। बस विस्मृति की धूल में दबी हुई है। प्रतिरोध का निश्चय करते ही वह हमारे लिए फिर से जी उठेगी और उसके अर्थ चमकने लगेंगे। स्वतंत्रता, समानता और जनवाद के लिए संघर्ष और कुरबानियों की अपनी महान राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय प्रगतिशील विरासत की शान के मुताबिक इस कठिन समय में भी यक़ीनन व्यापक जनतांत्रिक शक्तियों के साथ एकजुटता से इस चुनौती का सामना किया जा सकता है। हमें यक़ीन है कि अपनी प्रतिबद्धता, लगन, रचनात्मक कल्पना और आविष्कारशील प्रतिभा की मदद से हम अपनी इस भूमिका का कारगर ढंग से निर्वाह कर सकेंगे।

नवउदारवाद और सांप्रदायिक फ़ासीवाद का उभार

प्रभात पटनायक

जनतंत्र की वैधता के लिए अवाम के बीच इस यक़ीन की ज़रूरत पड़ती है कि वे जनतांत्रिक प्रक्रिया में शिरकत करके अपनी ज़िंदगी में बेहतरी ला सकते हैं। यह यक़ीन झूठा भी साबित हो सकता है, यह केवल एक भ्रांति भी हो सकता है। जब यह भ्रांति नहीं रहती तो लोग न केवल जनतंत्र के बारे में सर्वनिषेधवादी होने लगते हैं, बल्कि उन्हें यह भी लगने लगता है कि वे अपने इन प्रयत्नों से अपनी ज़िंदगी में बेहतरी नहीं ला सकते। इस तरह की हताशा उन्हें किसी **उद्धारक** या **अवतारी पुरुष** की खोज की ओर ले जाती है जिसमें उन्हें बेहतर ज़िंदगी दे पाने की अभूतपूर्व ताक़त की झलक दिखायी देती हो और जो उनको बदहाली से उबार सके। अवाम तब 'तर्कबुद्धि के पक्ष में' नहीं रह जाते, वे अतर्क की दुनिया में विचरण करने लगते हैं।

वित्तीय पूंजी के वर्चस्व के ज़माने में ऐसे **उद्धारकों** और **अवतारी पुरुषों** को अजीबोग़रीब तरीक़े से उस कॉरपोरेट क्षेत्र के द्वारा गढ़ा जाता है या उछाला जाता है, या ऐसे मामलों में जहां वे अपने कारनामों से उठने लगते हैं, कॉरपोरेट वित्तीय पूंजी अपने नियंत्रण वाले मीडिया का इसके लिए इस्तेमाल करती है, उनका निज़ाम कॉरपोरेट निज़ाम का समानार्थी हो जाता है। फ़ासीवाद का बीजबिंदु यही है। (मुसोलिनी ने, जैसा कि यहां याद आ रहा है, लिखा था कि फ़ासीवाद को वास्तविक अर्थों में कॉरपोरेटवाद कहना समीचीन होगा क्योंकि इसमें राजसत्ता कॉरपोरेट सत्ता में विलीन हो जाती है) इस तरह अवाम के, जनतंत्र के माध्यम से अपनी ज़िंदगी बेहतर बनाने की प्रक्रिया में यक़ीन के ख़ात्मे से वे हालात पैदा होते हैं जिनमें फ़ासीवाद फलता फूलता है।

इसकी मिसाल जर्मनी के 'वाइमार रिपब्लिक' में देखी जा सकती है। अवाम की नज़रों में 'वाइमार रिपब्लिक' की वैधता ख़त्म हो चुकी थी क्योंकि वर्सीलीज़ संधि के फलस्वरूप मित्र शक्तियों ने हर्ज़ाने का जो बोझ अवाम पर डाला था जिसकी वजह से अवाम की बढ़ती हुई बदहाली दूर कर पाने में एक के वाद एक चुनाव से बनी सरकार कामयाब न हो पायी थी। जनतंत्र की वैधता से यक़ीन उठ जाना ही वह विशेष कारण बना जिसने अवाम को नाज़ीवाद के आकर्षण के जाल में फंसा लिया।

'वाइमार रिपब्लिक' की असफलता को कम से कम उस शांति संधि में तलाश तो किया जा सकता है (जिसके ख़िलाफ़ अर्थशास्त्री केंस ने आवाज़ उठायी थी)। मगर आज 'ग्लोबलाइज़ेशन' के इस ज़माने में उसी तरह अवाम के बीच राजनीतिक प्रक्रिया के माध्यम से बेहतर ज़िंदगी जी पाने में यक़ीन का ख़ात्मा हो गया है, साथ ही इस यक़ीन के ख़ात्मे की जड़ें इसी व्यवस्था के भीतर हैं। नव-उदारवाद के तहत यह

प्रवृत्ति उभरती है कि जनतांत्रिक संस्थाओं की शक्ति पर से विश्वास उठ जाये और इसी से जुड़ा हुआ अतर्क बुद्धि का और फ़ासीवाद का विकसित रूप है।

इसी तथ्य को दूसरे तरीक़े से समझा जा सकता है : नव-उदारवाद राजनीति के क्षेत्र को 'अंत' यानी 'क्लोज़र' की ओर धकेलता है जहां लोगों के सामने राजनीतिक विकल्पों में आर्थिक नीतियों पर एकरूपता दिखायी देती है, इससे अवाम की ज़िंदगी के हालात में उनके द्वारा चुने गये विकल्प से बहुत ज़्यादा फ़र्क़ नहीं पड़ता।

यह 'अंत' या 'क्लोज़र' केवल 'नज़रिये' का मामला नहीं है। दार्शनिक हेगेल ने इस ऐतिहासिक प्रक्रिया को प्रशियाई राजसत्ता के गठन के साथ आये अंत के रूप में देखा था। दर्शनशास्त्र में हेगेलवाद के विकास के समांतर ही अर्थशास्त्र में जो नया सिद्धांत विकसित हुआ, उसने भी पूंजीवादी उत्पादन पद्धति के उभार के साथ इतिहास के अंत की बात की थी। मगर ये सिर्फ़ 'नज़रिये' ही थे। इसके विपरीत, नव-उदारवाद एक साथ दो स्थितियां पैदा करता है, एक ओर वह एक वास्तविक मोड़ ले आता है जहां अवाम के सामने सचमुच का राजनीतिक विकल्प लाने के बजाय राजनीति के अंत की दशा या विकल्पहीनता होती है, इसकी प्रवृत्ति विकल्पों को एक जैसा बना देने की होती है जिससे अवाम के माली हालात में कोई सुधार नहीं होता। और यही वजह है कि अवाम की हताशा उन्हें अतार्किकता व फ़ासीवाद की ओर धकेलती है। मगर सवाल उठता है कि नवउदारवाद, 'अंत' का यह रुझान, क्यों उत्पन्न करता है? आइए , इस सवाल पर ग़ौर करें।

1

इसका जो सबसे अहम कारण है, उसे ज़्यादातर लोग जानते हैं, इसलिए इस पर यहां ज़्यादा बात करना ज़रूरी नहीं। 'ग्लोबलाइज़ेशन' के साथ जुड़ा यह तथ्य है कि यह मालों व सेवाओं की पूरी दुनिया में आवाजाही की आज़ादी देता है, इन सबसे ऊपर, पूंजी की आवाजाही की आज़ादी है जिसमें वित्तीय पूंजी भी शामिल है। इस युग में जहां पूंजी तो पूरी दुनिया को अपनी चपेट में ले लेती है, देश उसी जगह राज्य-राष्ट्र बने रहते हैं। हर देश की आर्थिक नीतियां 'निवेशकों का भरोसा' बनाये रखने के विचार से नियंत्रित होती हैं, यानी भूमंडलीकृत पूंजी को फ़ायदा पहुंचना चाहिए, वरना वह पूंजी एकमुश्त उस देश को छोड़कर कहीं और चली जायेगी, इस तरह वह देश बुरी तरह आर्थिक संकट की खंदक में जा गिरेगा। इस तरह के आर्थिक संकट में फंसने से बचने की ख़्वाहिश देश की तमाम राजनीतिक संरचनाओं को मजबूर करती है कि वे उसी एजेंडे को लागू करें जो भूमंडलीकृत पूंजी को मंज़ूर हो। यह तब तक चलता है जब तक कोई देश ख़ुद ग्लोबलाइज़ेशन के दायरे में रहना जारी रखना चाहता है यानी वह पूंजी पर और व्यापार पर नियंत्रण लगाने की सोच कर भूमंडलीकरण की सीमा से बाहर जाने की कोशिश नहीं करता। इससे अवाम के सामने किसी सही विकल्प का चुनाव रह ही नहीं जाता। वे जिसे भी चुनें, जिस किसी की सरकार बने, वह घूम फिर कर उन्हीं 'नवउदारवादी' नीतियों पर चलती है।

हम यह अपने देश में भी देख रहे हैं। यूपीए सरकार और एनडीए सरकार और यहां तक कि 'थर्ड फ्रंट' की अल्पायु सरकार भी आर्थिक नीतियों के मामले में एक जैसी सरकारें ही रहीं। आज भी, जब चुनावी विकल्प के रूप में राहुल गांधी और नरेंद्र मोदी का शोरशराबा हो रहा है, आर्थिक नीतियों के स्तर पर दोनों में शायद ही कोई बुनियादी फ़र्क़ हो। सचाई तो यह है कि मोदी ख़ुद इस बात पर ज़ोर देता

है कि उसमें 'शासन करने' की यूपीए के मुक़ाबले बेहतर क्षमता है, आर्थिक नीतियों के मामले में कोई बुनियादी अंतर नहीं जिनसे अवाम की बदहाली दूर हो सके। इससे यही साबित होता है कि भूमंडलीकरण के इस दौर में अवाम के सामने आर्थिक नीतियों के स्तर पर वास्तविक विकल्प मौजूद नहीं है।

इस बुनियादी तथ्य के अलावा इस युग में देश के वर्गीय ढांचे में कुछ ऐसे बदलाव आये हैं जिनकी वजह से भी विकल्प की ओर बढ़ पाने में दुश्वारी आ रही है। इन तब्दीलियों में एक बुनियादी तब्दीली यह है कि मज़दूरों और किसानों की शक्ति में कमी आयी है। चूंकि राज्यसत्ता की रीतिनीति तो वित्तीय पूंजी को ख़ुश करने की है, इससे उसकी भूमिका बड़ी पूंजी के हमले से छोटे कारोबार और उत्पादन की रक्षा करना या मदद करना नहीं रह जाती। इस असुरक्षा के माहौल में छोटे उत्पादक, मसलन किसान, दस्तकार, मछुआरे, शिल्पी आदि और छोटे व्यापारी भी शोषण की मार झेलने के लिए छोड़ दिये जाते हैं। यह शोषण दोहरे तरीक़े से होता है, एक तो प्रत्यक्ष तौर पर बड़ी पूंजी उनकी संपदा जैसे उनकी ज़मीन वग़ैरह को कौड़ियों के मोल ख़रीदकर, दूसरे, उनकी आमदनी में गिरावट पैदा करके। इससे लघु उत्पादन के माध्यम से उनकी ज़िंदा बने रहने की क्षमता कम रह जाती है। अपनी आजीविका के साधनों से वंचित ये लोग काम की तलाश में शहरों की ओर पलायन करते हैं, इससे बेरोज़गारों की पांत और बढ़ती जाती है।

इसके साथ ही नव-उदारवादी अर्थव्यवस्था में नये रोज़गार भी सीमित ही रहते हैं, भले ही आर्थिक विकास में तेज़ी दिखायी दे रही हो। उदाहरण के तौर पर, भारत में आर्थिक विकास की चरमावस्था में भी रोज़गार की विकास दर, 2004-5 और 2009-10 में नेशनल सेम्पल सर्वे की रिपोर्ट के मुताबिक 0.8 प्रतिशत ही रही। जनसंख्या की वृद्धि दर 1.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष रही और इसे ही काम के लायक जनसंख्या की वास्तविक वृद्धि दर माना जा सकता है। इसमें उन लघु उत्पादकों को भी जोड़ लें जो अपनी आजीविका से वंचित हो जाते हैं और रोज़गार की तलाश में शहर आ जाते हैं तो बेरोज़गारी की विकास दर 1.5 प्रतिशत से ज़्यादा ही ठहरेगी। उसमें केवल 0.8 प्रतिशत को रोज़गार मिलता है। तो इसका मतलब यह है कि बेरोज़गारों की रिज़र्व फ़ौज की तादाद में भारी मात्रा में इज़ाफ़ा हो रहा है। इसका असर मज़दूरवर्ग की सौदेबाज़ी की ताक़त पर पड़ता है। वह ताक़त कम हो जाती है।

इस तथ्य में एक सचाई और जुड़ जाती है, यानी बेरोज़गारों की सक्रिय फ़ौज और रिज़र्व फ़ौज के बीच फ़र्क़ का मिट जाना। हम अक्सर सक्रिय फ़ौज को पूरी तरह रोज़गारशुदा मान कर चलते हैं, रिज़र्व फ़ौज को पूरी तरह बेरोज़गार। मगर कल्पना करिए, 100 की कुल तादाद में से 90 को रोज़गारशुदा और 10 को बेरोज़गार मानने के बजाय, यह मानिए कि ये अपने समय के 9/10 वक़्त तक ही रोज़गार में हैं, इससे वह धुंधली अंतररेखा स्पष्ट हो जायेगी जिसे हम रोज़गार में 'राशनप्रणाली' या सीमित रोज़गार अवसर की प्रणाली के रूप में देख पायेंगे। दिहाड़ी मज़दूर की तादाद में लगातार बढ़ोतरी हो रही है, स्थायी और अस्थायी नौकरियों में लगे लोग, या ख़ुद कभी कभी नये काम करने वाले लोग जो किसानों के पारंपरिक कामों से हट कर हैं, यही दर्शाते हैं कि रोज़गारों में सीमित अवसर ही उपलब्ध हैं। बेरोज़गारों की तादाद में बढ़ोतरी जहां मज़दूरों की स्थिति को कमज़ोर बनाती है, वहीं रोज़गारों के सीमित अवसर इन हालात को और अधिक जटिल बना रहे हैं।

'रोज़गारों के सीमित होने के नियम' में तब्दीली के अलावा रोज़गार पाने के नियम भी बदले हैं जिनके तहत स्थायी नौकरियों के बजाय ठेके पर काम कराने की प्रथा चल पड़ी है। हर जगह 'आउटसोर्सिंग' के माध्यम से बड़े ठेकेदारों से काम लिया जाता है जो भाड़े पर वही काम कराते हैं जो पहले उस विभाग

में स्थायी कर्मचारी करते थे (रेल विभाग इसका उल्लेखनीय उदाहरण है)। इससे भी मज़दूरों की सौदेबाज़ी की, यानी हड़ताल करने की क्षमता में कमी आयी है।

दो अन्य तथ्य इसी दिशा का संकेत देते हैं। एक उद्योगों का निजीकरण जो कि भूमंडलीकरण के दौर में तीव्र गति हासिल कर रहा है। यूनियन सदस्यों के रूप में मज़दूरों का प्रतिशत पूरी पूंजीवादी दुनिया में प्राइवेट सेक्टर के मुक़ाबले पब्लिक सेक्टर में ज़्यादा है। अमेरिका में जहां प्राइवेट सेक्टर में केवल 8 प्रतिशत मज़दूर यूनियन सदस्य हैं, वहीं सरकारी क्षेत्र में, जिसमें अध्यापक भी शामिल हैं, कुल संख्या का एक तिहाई यूनियन सदस्य है। सरकारी क्षेत्र का निजीकरण इस तरह यूनियन सदस्यता में कमी लाता है और इस तरह मज़दूरों की हड़ताल करने की क्षमता कम होती जाती है। फ्रांस में पिछले दिनों कई बड़ी हड़तालें हुई हैं तो इसकी एक वजह यह भी है कि सारे विकसित पूंजीवादी देशों के पब्लिक सेक्टरों के यूनियनबद्ध मज़दूरों की संख्या के मुक़ाबले फ्रांस में उनकी तादाद अभी भी सबसे ज़्यादा है।

एक और कारक भी है, जिसे 'रोज़गार बाज़ार में लचीलापन' कहते हैं, जिसके द्वारा मज़दूरों के एक सीमित हिस्से को (फ़ैक्टरी में एक ख़ास संख्या के मज़दूरों से ज़्यादा रोजगारशुदा होने पर) श्रम कानूनों के तहत जो सुरक्षा मिली हुई है (जैसे मज़दूरों को निकालने के लिए तयशुदा समय पर नोटिस देना), उसे भी ख़त्म करने की कोशिश चल रही है। यह अभी भारत में नहीं हो पाया है, हालांकि इसे लागू करवाने का दबाव बहुत ज़्यादा है। 'रोज़गार बाज़ार में लचीलापन' का यह दबाव कम अहम लग सकता है क्योंकि इसका असर सीमित मज़दूरों की तादाद पर ही दिखायी दे सकता है, मगर इसका मक़सद उन मज़दूरों से हड़ताल करने की क्षमता छीन लेना है जो अहम सेक्टरों की बड़ी बड़ी इकाइयों में काम कर रहे हैं और जिनकी हड़ताल क्षमता सबसे ज़्यादा है।

ये तमाम तब्दीलियां यानी मज़दूरों की संरचना में, सौदेबाज़ी की उनकी क्षमता में, क़ानून के तहत मिले उनके अधिकारों में आयी तब्दीलियां मज़दूरवर्ग की राजनीति की ताक़त को कमज़ोर बनाने में अपनी भूमिका निभा रही हैं। ट्रेड यूनियनों के कमज़ोर पड़ने का असर स्वतः ही मजदूरवर्ग के राजनीतिक दबाव के कमज़ोर होने में घटित होता है, एक वैकल्पिक सामाजिक-आर्थिक समाधान आगे बढ़ाने की उसकी क्षमता भी कमज़ोर होती है, और उसके इर्दगिर्द अवाम को लामबंद करने में दुश्वारियां आती हैं।[1] इस तरह कॉरपोरेट-वित्तीय पूंजी भूमंडलीकृत पूंजी से गठजोड़ करके जितनी ताक़तवर होती जाती है, उतनी ही मज़दूर वर्ग, किसान जनता और लघु उत्पादकों की राजनीतिक ताक़त में कमज़ोरी आती है, वे ग़रीबी और ज़हालत की ओर धकेल दिये जाते हैं। भूमंडलीकरण का युग इस तरीक़े से वर्ग-शक्तियों के संतुलन में एक निर्णायक मोड़ ले आया है।

2

इस परिवर्तन के दो अहम नतीजे ग़ौर करने लायक़ हैं। पहला, वर्गीय राजनीति में गिरावट के साथ 'पहचान की राजनीति' वजूद में आती है। दरअसल, 'पहचान की राजनीति' एक भ्रामक अवधारणा है

1. नवउदारवाद के युग में मजदूरवर्ग को संगठित करने में आने वाली कठिनाइयों का अंदाज़ इस बात से लगाया जा सकता है कि मारुति फ़ैक्टरी में, जो कि दिल्ली राजधानी क्षेत्र के इलाक़े में ही क़ायम है, अगर कोई मज़दूर किसी ट्रेड यूनियन कार्यकर्ता से बात करता हुआ या किसी पर्चे के साथ पकड़ा गया तो वह नौकरी से मुअत्तिल हो सकता है।

क्योंकि इसमें अनेक असमान, यहां तक कि एक दूसरे के एकदम विपरीत तरह के आंदोलन समाहित हैं। यहां तीन तरह के अलग अलग संघटकों की पहचान की जा सकती है। एक, 'पहचान से जुड़े प्रतिरोध आंदोलन' जैसे दलित आंदोलन या महिला आंदोलन, जिनकी अपनी अपनी विशेषताएं भी हैं; दूसरे, 'सौदेबाज़ी वाले पहचान आंदोलन' जैसे जाटों की आरक्षण की मांग जिसकी आड़ में वे अपनी स्थिति मज़बूत बना सकें; तीसरे, 'पहचान की फ़ासीवादी राजनीति' (जिसकी स्पष्ट मिसाल सांप्रदायिक फ़ासीवाद है) जो हालांकि एक ख़ास 'पहचान समूह' से जुड़ी हुई है और दूसरे 'पहचान समूहों' के ख़िलाफ़ ज़हरीला प्रचार करके उन पर हमला बोलती है। इस राजनीति को कॉरपोरेट वित्तीय पूंजी पालती पोसती है और इसका वास्तविक मक़सद उसी कॉरपोरेट जगत को मज़बूती प्रदान करना होता है, न कि उस पहचान समूह के हितों के लिए कुछ करना जिनके नाम पर वह राजनीति संगठित होती है।

जहां ये तीनों तरह की 'पहचान राजनीतियां' एक दूसरे से काफ़ी जुदा हैं, वर्गीय राजनीति में आयी कमज़ोरी का अहम असर उन सब पर है। इस तरह की राजनीति ऐसे किसी ख़ास पहचान समूह को 'पहचान के नाम पर सौदेबाज़ी की राजनीति' के माध्यम से एक उछाल प्रदान करती है जो अपने वर्गीय संगठनों के तहत कोई असरदार काम नहीं कर सकते। इस राजनीति से 'पहचान की फ़ासीवादी राजनीति' को भी बल मिलता है क्योंकि कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजात का वर्चस्व इस तरह की राजनीति को बढ़ावा देता है। जहां तक 'प्रतिरोध के पहचान आंदोलनों' का सवाल है, वर्गीय राजनीति के चौतरफ़ा कमज़ोर पड़ने से उनमें भी प्रगतिशीलता का तत्व कमज़ोर हुआ है और इससे वे भी अधिक से अधिक 'सौदेबाज़ी की पहचान राजनीति' की ओर धकेल दिये गये हैं। कुल मिला कर, वर्गीय राजनीति में गिरावट से 'पहचान की राजनीति' के ऐसे रूपों को मज़बूती हासिल हुई है जो व्यवस्था के लिए कोई ख़तरा पैदा नहीं करते बल्कि उल्टे, अवाम के एक हिस्से को दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा करके इस व्यवस्था के लिए किसी आसन्न ख़तरे की संभावना को कमज़ोर ही करते हैं। इससे उस नयी संरचना के विचार को आघात पहुंच रहा है जिसमें, देश के भीतर जाति आधारित सामंती व्यवस्था के तहत 'पुरानी व्यवस्था' को ढहा कर, उसकी जगह 'नयी सामुदायिक व्यवस्था' की स्थापना पर बल था, जो कि हमारे जनतंत्र की मांग है।

इस आघात का एक और पहलू है, जो इस समाज के लंपटीकरण से जुड़ा है। पूंजीवादी समाज की यह ख़ासियत है कि इसकी सामाजिक स्वीकार्यता इस व्यवस्था के तर्क से उद्भूत नहीं होती, बल्कि तर्क के बावजूद होती है। ऐसी दुनिया जिसमें मज़दूर अपनी तरह तरह की गुज़र बसर की जगहें छोड कर एक जगह ठूंस दिये जाते हैं, जहां वे अकेले अकेले पड़ जाते हैं, एक दूसरे के साथ बुरी तरह प्रतिस्पर्धा कर रहे होते हैं, जैसी कि पूंजीवाद के तर्क की मांग है, वह दुनिया सामाजिक रूप से असुरक्षा से घिरी दुनिया ही होगी (जिसे शायद ही 'समाज' की संज्ञा दी जा सके)। पूंजीवाद के तहत सामाजिक वजूद इसलिए संभव होता है क्योंकि इसके नियमों के विपरीत मज़दूर शुरू में एक दूसरे से अनजान होते हैं, बाद में वे अपने 'समूह' बना लेते हैं जो कि ट्रेडयूनियनों के माध्यम से वर्गीय संगठनों में विकसित हो जाते हैं। यही वह 'नया सामुदायिक समाज' हो सकता है जिसका अभी हमने ज़िक्र किया है।

अतीत में पूंजीवाद के तहत इस तरह के समाज का विकास संभव हुआ था क्योंकि बड़े पैमाने पर आबादी के बड़े शहरों में आ जाने से और नयी अनुकूल श्वेत बस्तियों में बस जाने से स्थानीय कामगारों की फ़ौज के रूप में उनकी तादाद सीमित रही और ट्रेडयूनियनें शक्तिशाली हो गयीं। आज तीसरी दुनिया के मज़दूरों के लिए इस तरह की संभावनाएं मौजूद नहीं हैं, और नव-उदारवाद ने, जैसा कि हम देख रहे

हैं, बेरोज़गारों की तादाद बढ़ा दी है, जबकि ट्रेडयूनियनों और मज़दूरवर्ग की सामूहिक संस्थाओं को कमज़ोर कर दिया है। अलग थलग पड़ जाने से लंपट सर्वहारावर्ग की वृद्धि हो रही है। आपसी सामाजिक रिश्तों में लगातार गिरावट या उनकी नामौजूदगी उन मेहनतकशों को, जो भिन्न प्रकार के रहन सहन के हालात से निकल कर आते हैं, लंपटीकरण की ओर धकेल देती है। यह एक सच्चाई है कि इस तरह का लंपटीकरण सारे पूंजीवादी समाजों में मौजूद है, मगर उन पर विकसित समाजों के मज़दूरवर्ग के सामूहिक संस्थानों का नियंत्रण रहता है, जो कि इधर नव-उदारवादी निज़ाम में ढीला भी हो रहा है, मगर तीसरी दुनिया के समाजों में तो उन संस्थानों का नियंत्रण बेअसर हो रहा है जो कि नव-उदारवाद की भयंकर चपेट में आ गये हैं। भारत में महिलाओं पर होने वाले अत्याचारों में इधर जो बढ़ोतरी हो रही है, इस घटनाविकास के बारे में मेरे नज़रिये से मेल खाती है।

3

नव-उदारवादी व्यवस्था का एक और बिंदु है जिसकी ओर मैं ध्यान दिलाना चाहूंगा। इसका संबंध 'भ्रष्टाचार' से है। इस तरह की अर्थव्यवस्था की ख़ासियत यह है कि इसमें बड़ी पूंजी में लधु उत्पादकों के शोषण का रुझान होता है। मगर लघु संपत्ति उसका एकमात्र निशाना नहीं होती। उसकी प्रवृत्ति तो मुफ़्त में या कम क़ीमत पर आम संपत्ति हड़प लेने की होती है जिसमें सिर्फ़ लघु उत्पादकों की संपत्ति ही नहीं, आम संपत्ति, आदिवासियों की संपत्ति और राज्य की संपत्ति शामिल है। नव-उदारवाद का युग उस प्रक्रिया को घटित होते हुए देख रहा है जिसमें पूरी निर्ममता से 'पूंजीसंचय की आदिम प्रक्रिया' चल रही है जिसके लिए राज्य तंत्र की ओर से सहमति या साझेदारी ज़रूरी होती है। ऐसी सहमति प्राप्त कर ली जाती है जिसके लिए भूमंडलीकरण के ज़माने में हर राष्ट्र-राज्य पर नीतिगत मामलों का दबाव बना हुआ है, उस सहमति के लिए जो भी क़ीमत अदा करनी होती है, वह दे दी जाती है और उसी को हम 'भ्रष्टाचार' कहते हैं।

हम जिसे 'भ्रष्टाचार' कहते हैं, वह असल में एक तरह का टैक्स है जिसे राज्य तंत्र वसूल करता है जिसमें 'राजनीतिक वर्ग' भी सबसे बड़े हिस्से के रूप में शामिल होता है। यह टैक्स बड़ी पूंजी के द्वारा 'पूंजीसंचय की आदिम प्रक्रिया' से अर्जित लाभ पर वसूला जाता है। यह ग़ौरतलब है कि 'भ्रष्टाचार' के बड़े बड़े मामले जो भारत में इधर प्रकाश में आये हैं, जैसे 2जी स्पेक्ट्रम या कोयला ब्लाकों की औने पौने दामों पर आबंटन की प्रक्रिया आदि, उन्हें बेचने का फ़ैसला लेने वालों को बदले में जो धन मिला उसे हम 'भ्रष्टाचार' कहते हैं। इस तरह 'पूंजीसंचय की आदिम प्रक्रिया' पर यह एक तरह का टैक्स है और इस प्रक्रिया में इधर जो तेज़ी दिखायी देती है, उसके मूल में नवउदारवादी दौर में पूंजीसंचय की आदिम प्रक्रिया का बड़े पैमाने पर मौजूद होना ही है।

'भ्रष्टाचार' के रूप में इस तरह के टैक्स के स्वरूप को दो कारकों के संदर्भ से ख़ासतौर पर देखा जा सकता है। पहला कारक है, राजनीति का माल में तब्दील हो जाना। यह सच है कि भिन्न भिन्न राजनीतिक संरचनाएं जो नव-उदारवादी निज़ाम के तहत काम कर रही हैं, अलग अलग आर्थिक एजेंडा नहीं रख सकतीं, तो उनमें अवाम की सहमति किसी नये तरीके. से लेने की होड़ रहती है। इसके लिए ख़ास क़िस्म से अपनी 'मार्केटिंग' के लिए, प्रचार करने वाली भाड़े की फ़र्मों का सहारा लेना पड़ता है और उन्हें मीडिया को 'कैश दे कर ख़बर बनवाने' का उपक्रम करना पड़ता है, हेलीकाप्टर भाड़े पर लेकर

ज़्यादा से ज़्यादा जगहों की यात्रा करनी होती है जिससे अपनी सूरत ज़्यादा से ज़्यादा लोगों को नज़र आ सके, वग़ैरह वग़ैरह। ये सारे काम बहुत ज़्यादा ख़र्चीले हैं जिसकी वजह से राजनीति को संसाधन जुटाने का काम करना पड़ता है, राजनीतिक पार्टियां किसी भी तरह संसाधन जुटाती ही हैं।

इसके अलावा, 'राजनीतिक वर्ग' को काम चलाने के लिए संसाधन जुटाने पड़ते हैं, मगर फ़ैसले लेने की प्रक्रिया में उसकी भूमिका बहुत अहम नहीं रह जाती। विश्वबैंक और आइ एम एफ़ के अधिकारी रह चुके अफ़सर या बहुराष्ट्रीय बैंकों और वित्तीय संस्थानों के आला अफ़सर अर्थव्यवस्था चलाने के लिए तेज़ी से नियुक्त किये जा रहे हैं, यानी 'ग्लोबल वित्तीय समुदाय' के लोग ही सरकारों के फ़ैसलाकुन पदों पर बिठाये जाते हैं क्योंकि अंतरराष्ट्रीय वित्तीय पूंजी को पारंपरिक राजनीतिक वर्ग के हाथों में अर्थनीति संबंधी फैसले लेने का दायित्व सौंपना बर्दाश्त नहीं। पारंपरिक राजनीतिक वर्ग को इस पर गुस्सा आना स्वाभाविक है, मगर वह इससे कुछ हासिल कर लेता है तो उसे समझौता करने से कोई गुरेज भी नहीं। और यह 'कुछ' पूंजी के आदिम संचयन के लाभ में से मिलने वाले अंश या टैक्स के रूप में होता है जिसे हम 'भ्रष्टाचार' कहते हैं और उसकी ज़रूरत इसलिए भी पड़ती है क्योंकि राजनीति माल में तब्दील हो चुकी है।

'भ्रष्टाचार' इस तरह नव-उदारवादी निज़ाम में बहुत सक्रिय भूमिका अदा करता है। यह 'राजनीतिक वर्ग' में अचानक आये 'नैतिक' पतन का परिणाम नहीं है, यह नव-उदारवादी पूंजीवादी व्यवस्था का अपरिहार्य हिस्सा है। 'भ्रष्टाचार' का जो असर नव-उदारवादी पूंजीवाद पैदा करता है, उससे कॉरपोरेट वित्तीय अभिजात को एक दूसरी वजह से फ़ायदा होता है। यह 'राजनीतिक वर्ग' को बदनाम करके छोड़ता है, वह संसद को और जनतंत्र के दूसरे प्रातिनिधिक संस्थानों को कलंकित करा देता है, और साथ ही, अपने नियंत्रण वाले संचारमाध्यमों के फ़ोकस द्वारा चालाकी से यह सुनिश्चित कर लेता है कि 'भ्रष्टाचार' के इन कारनामों से पैदा हुए नैतिक कलंक की कालिख उसके काम में बाधा न बने। 'भ्रष्टाचार' विमर्श इसके रास्ते में आने वाले रोड़ों को साफ़ करते हुए कॉरपोरेट निज़ाम के युग की शुरुआत आसान बना देता है।

4

बात दरअसल और आगे जाती है। हमने देखा है कि नव-उदारवाद का दौर बेरोज़गारी के सापेक्ष आकार को बढ़ाता है, जिसके चलते वह निरपेक्ष दरिद्रता की शिकार आबादी के सापेक्ष आकार में भी बढ़ोतरी करता है। छोटे उत्पादक- चाहे वे अपने पारंपरिक व्यवसाय में लगे रहें या रोज़गार के अवसर की तलाश में शहरी इलाक़ों, जहां ऐसे अवसर आवश्यकता से कम ही हैं, की ओर चले जाएं- उनका निरपेक्ष जीवन-स्तर और बदतर हो जाता है। कामगारों की तादाद में जो नया इज़ाफ़ा होता है, उसे बढ़ती बेरोज़गारी के कारण अपने पुरखों के मुक़ाबले व्यक्तिगत स्तर पर बदतर भौतिक जीवन-स्थितियां झेलनी पड़ती हैं। और वे कामगार भी, जो बाक़ायदा रोज़गार पा लेते हैं, श्रम की रिज़र्व फ़ौज के बढ़ते सापेक्ष आकार द्वारा थोपी गयी आपसी होड़ की वजह से उदारीकरण से पहले के दौर का वास्तविक वेतन-स्तर हासिल नहीं कर पाते। कामगार आबादी के न सिर्फ़ बड़े, बल्कि बढ़ते हुए हिस्से को प्रभावित करती भयावह ग़रीबी आम बात हो जाती है।

यह ऐसा नुक़्ता है जिसे उत्सा पटनायक लंबे समय से सामने लाती रही हैं। नेशनल सेंपल सर्वे

के आंकड़ों पर आधारित उनके निष्कर्ष बताते हैं कि 2100 कैलोरी प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन ('शहरी ग़रीबी' के लिए आधिकारिक सीमारेखा) से कम पाने वाली शहरी आबादी 1993-94 में जहां 57 फ़ीसद थी, वहीं 2004-5 में वह बढ़ कर 64.5 फ़ीसद हो गयी और 2009-10 में 73 फ़ीसद हो गयी। 2200 कैलोरी प्रतिव्यक्ति प्रतिदिन ('ग्रामीण ग़रीबी' के लिए आधिकारिक सीमारेखा) से कम पाने वाली ग्रामीण आबादी इन्हीं वर्षों में क्रमशः 58.5, 69.5 और 76 फ़ीसद थी। यह ग़ौरतलब है कि उच्च जीडीपी बढ़ोतरी के दौर में, जिसके भीतर 2004-5 से 2009-10 तक के साल आते हैं, ग़रीबी में ज़बर्दस्त बढ़त हुई। संक्षेप में,नव-उदारवाद के तहत ग़रीबी में बढ़ोतरी एक ऐसी व्यवस्थागत परिघटना है जिसकी जड़ें इस तरह के अर्थतंत्र की फ़ितरत का ही हिस्सा हैं; जीडीपी की ऊंची बढ़ोतरी से ग़रीबी दूर हो, यह ज़रूरी नहीं।

लेकिन कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन और उसके द्वारा नियंत्रित मीडिया जिस विमर्श को बढ़ावा देता है, वह 'भ्रष्टाचार' को जनता की आर्थिक बदहाली का, और इसीलिए बढ़ती ग़रीबी का, कारण बताता है। इस तरह नवउदारवाद के व्यवस्थागत रुझान का दोष मुख्य किरदार निभाने वाले कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन के सर नहीं मढ़ा जाता, बल्कि 'राजनीतिक वर्ग' और संसद समेत उन तमाम लोकतांत्रिक संस्थाओं के मत्थे मढ़ दिया जाता है जहां यह राजनीतिक वर्ग मौजूद होता है। इस तरह जनता को मुसीबत में झोंकने का व्यवस्था का अंतर्निहित रुझान विडंबनापूर्ण तरीक़े से जनता की निगाह में व्यवस्था को एक सहारा देने के लिए इस्तेमाल किया जाता है, उसी कॉरपोरेट पूंजी के शासन को वैधता देने के लिए इस्तेमाल किया जाता है जो इस काम में मुख्य किरदार निभा रहा होता है।

यह बात संकट के ऐसे दौर में और भी महत्वपूर्ण हो जाती है जैसे दौर से इस समय भारतीय अर्थव्यवस्था गुज़र रही है। ऊंची बढ़त का दौर निकल गया है, जो कि कतई हैरतअंगेज़ नहीं; हिंदुस्तान में ऊंची बढ़त का चरण अंतरराष्ट्रीय और घरेलू 'बुलबुले' के मेल पर क़ायम था। इस 'बुलबुले' को देर-सबेर फूटना ही था। पहला वाला 2008 में फूटा, और दूसरा कुछ साल बाद।

इस संकट का मतलब है कि रोज़गार की वृद्धि दर में और कमी आ रही है, जिससे कि कामगार जनता जो बढ़त के समय भी पीसी जा रही थी, उसकी हालत तो और ख़राब हो ही रही है, वह शहरी मध्यवर्ग जो बढ़त का महत्वपूर्ण लाभार्थी था, उसकी भी हालत ख़राब हो रही है। लेकिन कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन की देखरेख में 'राजनीतिक वर्ग' के ख़िलाफ़ खड़ा किया गया विमर्श न सिर्फ़ जनता के गुस्से को आर्थिक व्यवस्था और संसद समेत लोकतांत्रिक संस्थाओं के ख़िलाफ़ जाने से रोकता है, बल्कि यह समझ भी बनाता है कि आज ज़रूरत एक अधिक 'ताक़तवर', अधिक निर्मम नव-उदारवाद की है। और यह चीज़ 'भ्रष्टाचार' में लिप्त 'राजनीतिक वर्ग' मुहैया नहीं करा सकता, जबकि कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन और 'विकास पुरुष' के रूप में पेश किए जा रहे नरेंद्र मोदी जैसे उसके भरोसेमंद राजनीतिक एजेंट करा सकते हैं। इस तरह कॉरपोरेट शासन यानी फ़ासीवाद के लिए राह हमवार की गई है।

5

कहने की ज़रूरत नहीं कि फ़ासीवाद की ओर संक्रमण को किसी एकल कड़ी के रूप में, एक *घटना* के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए जो किसी विशेष व्यक्ति के सत्ता में आने से घटित होती है। इस मामले में हमें 1930 के दशक की सोच में नहीं फंसना चाहिए। आज के हिंदुस्तान में तो पहले से ही ऐसे अनेक क्षेत्र हैं, मिसाल के लिए उत्तरप्रदेश, जहां 'आतंकवादी' होने के संदेह पर ही किसी मुसलमान युवक

को गिरफ़्तार किया जा सकता है और बिना सुनवाई, बिना जमानत के सालों-साल जेल में रखा जा सकता है। उसे क़ानूनी मदद भी नहीं मिल सकती क्योंकि वक़ील आम तौर पर किसी 'आतंकवादी' की पैरवी करने से इंकार कर देते हैं; और वे वक़ील, जो क़ानूनी मदद पहुंचाने की हिम्मत रखते हैं, सांप्रदायिक-फ़ासीवादी ताक़तों के हाथों हिंसा झेलते हैं। अगर आरोपी की ख़ुशक़िस्मती से एकाध दशक के बाद सुनवाई पूरी हो जाए और क़िस्मत ज़्यादा अच्छी हुई तो समुचित क़ानूनी बचाव के बग़ैर भी निर्दोष क़रार दिया जाए, तब भी जनता की निगाह में एक 'आतंकवादी' होने का कलंक उस पर लगा ही रहता है और उसे नौकरी नहीं मिलती; और जिन लोगों ने उसे गिरफ़्तार करके जेल में अपनी ज़िंदगी के बहुमूल्य वर्ष बिताने के लिए मजबूर किया, उन पर कभी कोई कार्रवाई नहीं होती।

इसी तरह, दिल्ली के पास मारुति कारख़ाने के सौ से ज़्यादा मज़दूर महीनों से बिना किसी सुनवाई के, बिना ज़मानत या पैरोल के, जेल में बंद हैं। उन पर एक व्यक्ति की हत्या का संदेह है (जिसकी हत्या करने का कोई कारण सीधे-सीधे नज़र नहीं आता) और इसे लेकर कोई समुचित जांच अभी तक नहीं हुई है।

यह स्थिति, जिसे मैं 'मोज़ाइक फ़ासीवाद' की स्थिति कहता हूं, इस मुल्क में पहले से मौजूद है। अगर कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन द्वारा समर्थित सांप्रदायिक-फ़ासीवादी तत्व अगले चुनाव के बाद सत्ता में आते हैं तो उन्हें लंपट तत्वों के बाहुबल पर फलते-फूलते स्थानीय सत्ता-केंद्रों की मदद पर निर्भर रहना होगा, जैसा कि अभी पश्चिम बंगाल में देखने को मिलता है। ये स्थानीय सत्ता-केंद्र कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन से सीधे-सीधे जुड़े नहीं हैं और इसीलिए सीधे-सीधे इन्हें फ़ासीवादी नहीं कहा जा सकता; पर वे शिखर पर एक फ़ासीवादी व्यवस्था को बनाये रखने में मददगार हो सकते हैं। दूसरे शब्दों में, देश 'मोज़ाइक फ़ासीवाद' से 'फ़ेडरेटेट फ़ासीवाद' की ओर बढ़ सकता है और ज़रूरी नहीं कि एक एकल एपीसोड के रूप में एकीकृत फ़ासीवाद का तजुर्बा हो।

इनमें से कोई बात इस पर्चे की बुनियादी बात को बदलती नहीं है। वह बात यह कि नवउदारवाद से पैदा हुआ 'राजनीति का अंत' फ़ासीवाद की ओर संक्रमण की ज़मीन तैयार करता है और यह संक्रमण उस तरह के संकट के दौर में तेज़ी पकड़ लेता है जिस तरह के संकट से हम आज गुज़र रहे हैं।

6

स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि इन हालात में प्रगतिशील ताक़तें क्या कर सकती हैं? हेगेलीय दर्शन से उलट और इतिहास का अंत वाले अंग्रेज़ी राजनीतिक अर्थशास्त्र से उलट, मार्क्स ने सर्वहारा को बदलाव के एजेंट के रूप में देखा था जो सिर्फ़ इतिहास को आगे नहीं ले जाता बल्कि ख़ुद 'इतिहास के फंदे' से मानवजाति के निकलने की सूरत भी बनाता है।

यह बुनियादी विश्लेषण आज भी वैध है, और हमारी गतिविधियों को इससे निर्देशित होना चाहिए, बावजूद इसके कि नवउदारवाद ने वर्गीय राजनीति को कमज़ोर किया है। लेकिन इस कमज़ोरी को देखते हुए ज़रूरत इस बात की है कि न सिर्फ़ मज़दूरों को संगठित करने के लिए नये क्षेत्रों की ओर बढ़ा जाये, मसलन अब तक असंगठित रहे मज़दूरों और घरेलू कामगारों को संगठित करना, बल्कि वर्गीय राजनीति के लिहाज से नये क़िस्म के हस्तक्षेप भी किये जायें।

वर्गीय राजनीति को अधिक सोद्देश्य तरीक़े से 'पहचान की प्रतिरोध राजनीति' में हस्तक्षेप करना

चाहिए, और उसे महज़ पहचान की राजनीति से ऊपर उठाना चाहिए। इसे अधिक सोद्देश्य विधि से दलितों, मुसलमानों, आदिवासी आबादी और महिलाओं के प्रतिरोध को संगठित करना चाहिए, और यह सुनिश्चित करना चाहिए कि अगर एक पहचान समूह को किसी दूसरे की क़ीमत पर राहत मुहैया करायी गयी है तो दूसरे को भी बोझ की ऐसी सिरबदली के ख़िलाफ़ प्रतिरोध के लिए संगठित किया जाए। वर्गीय राजनीति और 'पहचान की प्रतिरोध राजनीति' का अंतर, दूसरे शब्दों में, इस बात में निहित नहीं है कि इनके हस्तक्षेप के बिंदु अलग-अलग हैं, बल्कि इस तथ्य में निहित है कि वर्गीय राजनीति 'पहचान की प्रतिरोध राजनीति' के मुद्दो ं पर भी अपने हस्तक्षेप को स्वयं 'पहचान समूह' से परे ले जाती है। अलग तरह से कहें तो जातिसंबंधी या स्त्री के उत्पीड़न के मुद्दों पर हस्तक्षेप करने में विफलता स्वयं वर्गीय राजनीति की विफलता है, वर्गीय राजनीति का लक्षण नहीं।

इसी तरह, वर्गीय राजनीति को एक वैकल्पिक कार्यसूची के सवाल को ख़ुद संबोधित करना चाहिए। इसे व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्ष में, एक 'संक्रमणकालीन मांग' के तौर पर, जनता के 'अधिकार' के रूप में बदहाली को रोकने वाले उपायों के संस्थानीकरण पर ख़ास तौर से फ़ोकस करना चाहिए। मिसाल के लिए, इसे सार्वभौमिक अधिकारों के एक समूह जैसे खाद्य अधिकार, रोज़गार का अधिकार, मुफ़्त स्वास्थ्य सेवाओं का अधिकार, एक ख़ास स्तर तक मुफ़्त गुणवत्तापूर्ण शिक्षा, और एक सम्मानजनक जीवन सुनिश्चित करने के लिए वृद्धावस्था पेंशन तथा विकलांगता मदद का अधिकार के संस्थानीकरण के लिए अभियान चलाना चाहिए और अवसर मिलने पर इन्हें अमल में लाना चाहिए।

यह सब पहली नज़र में महज़ एनजीओ की कार्यसूची जैसा लग सकता है जिसका वर्गीय राजनीति से कुछ लेना-देना नहीं। लेकिन वर्गीय राजनीति और पहचान की राजनीति या एनजीओ राजनीति के बीच बुनियादी अंतर मुद्दों को लेकर उतना नहीं है जितना इन मुद्दों को बरतने के पीछे निहित ज्ञानमीमांसा में है। वर्गीय राजनीति जब मुद्दों को उठाती है तो व्यवस्था के अतिक्रमण के ज़रिये ही उनके समाधान की संभावना को देखती है; और यह तथ्य उसे बाधित करने के बजाय ऐसे मुद्दों को उठाने के लिए प्रेरित करता है। दूसरी ओर एनजीओ राजनीति सिर्फ़ ऐसे मुद्दों को उठाती है, या मुद्दों को उसी हद तक उठाती है, जहां वे व्यवस्था के भीतर हल होने के लायक़ हों। वस्तुतः इस पर्चे का मुख्य बल इसी रूप में वर्गीय राजीनति संबंधी नज़रिये को बदलने पर है।

यह तर्क, कि मुल्क के पास इन अधिकारों की मांग को पूरा करने के लिए संसाधन नहीं हैं, ठीक नहीं है। इनके लिए कुल घरेलू उत्पाद का लगभग 10 फ़ीसदी ही दरकार होगा; और भारत जैसे मुल्क में, जहां अमीरों से बहुत कम टैक्स वसूला जाता है, वहां इस काम के लिए अतिरिक्त संसाधन जुटाना कोई बहुत बड़ी चुनौती नहीं है। इसके मुमकिन होने में सबसे बड़ी बाधा नवउदारवादी शासन है, और ठीक इसी वजह से वामपंथ को बामक़सद इस मामले को उठाना चाहिए। जहां भी वाम ताक़तें सत्ता में आती हैं, उन्हें संसाधनों को जुटाने के लिए जिस हद तक जाना मुमकिन हो, जाना चाहिए।

सबसे अधिक जिस चीज़ की ज़रूरत है, वह है नवउदारवाद के वैचारिक वर्चस्व को स्वीकार न करना। लोकतंत्र पर नवउदारवाद के हमले को रोकने और लोकतंत्र की हिफ़ाज़त से आगे समाजवाद के संघर्ष तक जाने के लिए नवउदारवादी वर्चस्व को नकारना और नवउदारवादी विचारों के ख़िलाफ़ प्रति-वर्चस्व गढ़ने का प्रयास करना एक शर्त है। विचारों के इस संघर्ष में लेखकों की भूमिका केंद्रीय है।

E-mail: prabat.ptnk@gmail.com

संघ परिवार का फ़ासीवाद

सुमित सरकार

यह एक पुराना लेख है, 1993 में लिखा गया, लेकिन यूरोप के फ़ासीवाद के ज़रिए भारत की स्थिति को समझने के लिए बहुत मौजूं लेख है यह। -सं.

फ़ासीवाद को यूरोपीय ऐतिहासिक संदर्भ से अलग समकालीन भारतीय संदर्भ में अभी हाल तक महज़ निरे विशेषण के तौर पर ही देखा जाता था। यह विशेषण अंधाधुंध प्रयोग के कारण सत्तावादी दमन तथा प्रतिक्रियावादी हिंसा के कुछ खुल्लम-खुल्ला कृत्यों के अर्थ का ही संकेत दे पाता था। 6 दिसम्बर और उसके बाद की घटनाओं के बाद हमारी गलियों में इसकी भयावह समग्रता की याद दिलाने वाले तत्व, जिनकी सत्ता के सर्वोच्च गलियारों से सांठगांठ थी या जिन्हें अव्यक्त पोषण मिला हुआ था, विचरने लगे और हमारे रिश्तेदारों, सहकर्मियों और दोस्तों के साथ बातचीत के दौरान भी उभरने लगे। हालांकि एकदम समानता नहीं देखी जा सकती, 1992-93 के हिन्दुस्तान के अधिकांश हिस्से 60 साल पहले के जर्मनी से काफी अलग थे, लेकिन इनकी समानता और भिन्नता के नमूनों पर बारीकी से नज़र डालने पर कुछ निश्चित निर्णायक लक्षण उजागर होते हैं—ख़ास तौर पर जिन तरीक़ों से संघ परिवार के वर्तमान पुरज़ोर हमलों के निहितार्थ बढ़े हैं। हिन्दू राष्ट्र के अभियान ने हमारे गणतंत्र के समूचे धर्मनिरपेक्ष और जनवादी ढांचे को जोख़िम में डाल दिया है। नेहरू की एक पुरानी चेतावनी इन दिनों ख़ास तौर पर मौजूं लगने लगी है—मुस्लिम सांप्रदायिकता अपनी प्रकृति में उतनी ही बुरी है जितनी कि हिन्दू सांप्रदायिकता, और मुस्लिमों में यह उनके बहुसंख्यक प्रतिरूपों की तुलना में ज़्यादा जमी हुई भी हो सकती है, 'लेकिन मुस्लिम सांप्रदायिकता कभी भी भारतीय समाज पर हावी नहीं हो सकती और न फ़ासीवाद ला सकती है, यह सिर्फ़ हिन्दू सांप्रदायिकता कर सकती है' (*फ्रन्टलाइन*, 1 जनवरी, 1993 में से उद्धृत)। इसलिए फ़ासीवादी समानता की जांच-पड़ताल आज हमारे सम्मुख उपस्थित ख़तरों की बेहतर समझ बनाने में सहायक हो सकती है। कभी-कभी, संभव है, इससे हमें वह चीज़ भी हासिल हो जाये जिसकी सबसे ज़्यादा ज़रूरत है और जो खेदजनक रूप से क़ाफी कम उपलब्ध है : उम्मीद के साधन।

इटली और जर्मनी में फ़ासीवाद का सत्ता में उभार सड़कों पर चलने वाले युद्ध (जिसे ऊपर से संचालित किया गया था लेकिन जिसे निस्संदेह जनसाधारण का समर्थन था), प्रशासन, पुलिस और सेना में गहरी घुसपैठ और 'केन्द्रवादी' राजनैतिक नेताओं की मिलीभगत का संयोजन था। न्याय-व्यवस्था और संवैधानिक परंपराओं के घोर उल्लंघन बाद को फ़ासी तथा नाज़ी व्यवहार में वैधानिकता के सम्मान की

में उठी बुलंद आवाज़ में बदल गये। यह बात अक्सर याद नहीं रखी जाती कि हिटलर 30 जनवरी, 1933 को रायख़स्टैग में सबसे बड़ी पार्टी का नेता होने के कारण प्रेसिडेंट हिन्डनबर्ग़ के आमंत्रण पर निहायत संवैधानिक तरीके से जर्मनी का चांसलर बना था। अगले एक महीने तक वह अपनी पार्टी के द्वारा वैधानिकता का सम्मान किये जाने की बात पर बार-बार ज़ोर देता रहा—इसी दौरान गोरिंग ने बर्लिन पुलिस को नाज़ीकृत कर लिया, सड़कों पर हुई मुठभेड़ों में 50 से अधिक नाज़ीविरोधी मार डाले गये और फिर रायख़स्टैग की वह बदनाम आगजनी नियोजित की गई जिसके बाद पहले कम्यूनिस्ट और फिर सारे विरोधी दलों और ट्रेड यूनियनों को तेज़ी से ख़त्म कर दिया गया।

दुर्भाग्यवश, यह प्रसंग हमें बहुत कुछ याद दिलाता है। सर्वोच्च न्यायालय के स्पष्ट आदेश और मुख्य विपक्षी पार्टी और उसके सहयोगियों के बार-बार भरोसा दिलाने के बावजूद एक मस्जिद 5 घंटों में व्यवस्थित तरीक़े से मलबे के ढेर में बदल दी जाती है और केन्द्र सरकार अपनी कानी उंगली तक नहीं उठाती। देश भर में दंगे भड़क उठते हैं जिनमें पुलिस का घोर पक्षपात नज़र आता है, कानून के अभिभावक अक्सर खुद दंगाई बने दीखते हैं। और इसके बाद एक विचित्र राजनैतिक और कानूनी चाल के तहत ज़मीन हड़पनेवाले हुड़दंगियों को 'दर्शन' की व्यवस्था के साथ एक अस्थायी 'मंदिर' खड़ा करने की इजाज़त मिल जाती है, जिस जगह मुस्लिमों के लिए कर्फ्यू लागू है, हिन्दुओं के लिए नहीं। और 462 वर्ष पुराने स्मारक की जगह लाया गया यह मंदिर 'विवादित ढांचा' नहीं बल्कि एक ऐसी चीज़ है जिसे सुरक्षित रखना दरकार है। इसी बीच भाजपा बारी बारी से कभी माफ़ी मांगती है और अक्सर आक्रामक ढंग से मस्जिद ढहाने का औचित्य बताती रहती है तथा विहिप के नेता वाराणसी और मथुरा की सूची में दिल्ली की जामा मस्जिद को शामिल करते हैं और खुले आम भारतीय संविधान को हिन्दू-विरोधी कहकर उसकी भर्त्सना करते हैं।

फैलता हुआ लक्ष्य-क्षेत्र

यही वह वृहत्तर आयाम है, जिसमें परम्परागत सांप्रदायिक मुस्लिम लक्ष्य-क्षेत्र का लगातार विस्तार किया जाता है और संभावित मतभेद वाले ज़्यादा से ज़्यादा बड़े दायरों को धमकाने के प्रयास तेज़ होते जाते हैं। हिटलर से तुलना यहां फिर से सटीक होगी : यहूदी और कम्यूनिस्टों का दायरा बड़ी तेज़ी से फैलकर सोशल डेमोक्रैटों, उदारवादियों, कैथोलिकों, और जो भी किसी तरह की आज़ादी से सोचते हों, उन तक फैल गया, यहां तक कि जून 1943 तक कई नाज़ियों को भी 'लंबे चाकुओं की रात' (नाइट ऑफ़ द लांग नाइव्स) में क़त्ल कर दिया गया। भाजपा की ओर से खुली दहशत फैलाने का काम मध्य प्रदेश की दो घटनाओं से हुआ जो राम जन्मभूमि आंदोलन से संबंधित नहीं थीं—असाधारण नेतृत्व और मौलिकता वाले मज़दूर नेता शंकर गुहा नियोगी की 1991 में हत्या और सेवानिवृत्त विख्यात प्रगतिशील सिविल सर्वेन्ट बी. डी. शर्मा का सार्वजनिक अपमान (शिव सेना ने महाराष्ट्र में काफ़ी पहले बॉम्बे की एक समय की साहसी लाल झंडा वाली मज़दूर यूनियनों को 1970 में सड़कों पर युद्ध के ज़रिये चूर-चूर करके रास्ता दिखा दिया था)। 6 दिसंबर को पत्रकारों की पिटाई कोई अनहोनी बात नहीं थी बल्कि एक बड़ी योजना का हिस्सा थी। हिन्दुत्व की ताक़तों ने बड़े जुगाड़ से प्रेस को पनपाया जिसमें अभी हाल तक काफ़ी सफलता भी मिलती रही, लेकिन फ़ासीवादी लोग हमेशा से समझाने-बुझाने के काम के साथ-साथ गाहे-बगाहे डंडे का प्रयोग भी करते आये हैं।

यहां दिल्ली की कुछ ऐसी घटनाओं का, जो अल्पज्ञात रहीं, ज़िक्र करना मुफ़ीद होगा जिनसे एक बार फिर सड़कों पर छेड़ी गयी लड़ाई और उसके साथ प्रशासनिक सांठगांठ एक ऐसे शहर में भी देखी जा सकती है जहां दिसम्बर के दंगे अपेक्षतया स्थानीय और गौण थे[1], और यह एक ऐसी केन्द्रीय सरकार की नाक के नीचे हो रहा था जिसने कथित तौर पर आरएसएस, विहिप और बजरंग दल पर प्रतिबंध लगा दिया था। गीत गानेवाले, सद्भावना फैलाने की गुहार करने वाले पर्चे बांट रहे और नुक्कड़ नाटक करनेवाले अमन की मांग करनेवाले कार्यकर्ताओं पर बार-बार हमले किये गये : पुलिस देर से आती है, प्रतिबंधित बजरंग दल-आरएसएस के तत्वों की अनदेखी करते हुए सांप्रदायिकता विरोधी समूह के लोगों को गिरफ़्तार करती है और परेशान करती है। यहां तक कि पी. एन. हक्सर और हबीब तनवीर जैसे सम्माननीय लोगों के शांति-मार्च को पुलिस रोक देती है और दिल्ली विश्वविद्यालय का एक छात्र, जो कि सांप्रदायिकता विरोधी दल में शामिल था और जिसका नाम राम से शुरू होता है, उसे गिरफ्तार करनेवाला सिपाही उसे थप्पड़ मारकर कहता है कि ऐसे नाम वाले आदमी को ऐसी हरकतें नहीं करना चाहिए।

बजरंग दल के गुंडे खुले तौर पर बार बार ये ऐलान करते हैं कि जो बाबरी मस्जिद के तोड़े जाने की निन्दा करता है उसे पाकिस्तान चले जाना चाहिए और दूसरी ओर जिन चंद इलाक़ों में कर्फ्यू लगाया गया, उनमें पूर्वी दिल्ली के सीलमपुर जैसे मुस्लिम क्षेत्र में पुलिस ने कुछ इलाक़ों में सभी मुस्लिम पुरुषों को एक जगह इकट्ठा कर दिया, 'जय श्री राम' न कहने पर उनकी मरम्मत की, यहां तक कि एक मुस्लिम भलेमानस की दाढ़ी भी खींची।

मिथकों का सामान्य बोध में रूपांतर

जिस बात के कारण यह सारा कुछ संभव हो पा रहा है, वह स्पष्ट रूप से सर्वव्यापकता से काफ़ी कम लेकिन एक व्यापक सम्मति की अवस्था है जिसमें काफी संख्या में लोग सांप्रदायिक दंगों से दूर रहते हैं या शायद गंभीरतापूर्वक उनकी निन्दा भी करते हैं, लेकिन एक सांप्रदायिक सोच के भागीदार होते हैं जिसमें मिथकों और धारणाओं की पूरी शृंखला सामान्य बोध में बदल जाती है। लेकिन यह सम्मति वैध 'हिन्दू आहत मन' को अभिव्यक्त करनेवाली लोकप्रिय अभिलाषा का स्वतःस्फूर्त या 'प्राकृतिक' उत्पाद नहीं है, जैसा कि हिंदुत्व की संगठित शक्तियां लगातार प्रचारित करती हैं। यह बनायी हुई और सावधानी से पोसी गई सम्मति है जो 60 वर्षों से अधिक समय से किये जा रहे कठोर और धैर्यपूर्ण प्रयास का नतीजा है। आरएसएस, जो 1925 में स्थापित हुई और 1950 से अब तक जिससे संबद्ध संस्थाओं की एक पूरी शृंखला (जिसमें जनसंघ/भाजपा तथा विहिप सबसे मुख्य हैं) में विभिन्न स्तरों उसके कैडर भरे गये हैं, कई बरसों से अप्रकट रूप से धीरे धीरे 'सांस्कृतिक' कार्य पर ध्यान दे रहा है। *शाखा* में युवा मर्दों के शारीरिक प्रशिक्षण के साथ साथ *बौद्धिक* सत्रों के ज़रिये दीक्षा दी जाती रही है, स्कूलों की एक शृंखला बनायी गयी है, व्यक्तिगत संपर्क और बातचीत के जरिये विचार बोये जाते रहे हैं, यहां तक कि एक बहुत लोकप्रिय हिन्दू कॉमिक्स शृंखला भी निकाली गयी (*अमर चित्र कथा* जो हिन्दू मिथकीय या ऐतिहासिक चरित्रों का गुणगान करती है)। यह लंबे समय से चली आती, सूक्ष्मतम स्तरों तक व्याप्त होकर वर्चस्व निर्मित करने की एक लगभग ग्राम्शीयन प्रक्रिया थी। इसके बाद 1980 के दशक के आरंभ और मध्य के बरसों में इंदिरा और राजीव के 'हिन्दू कार्ड' खेलने के प्रयास होते हैं जब 1984 के सिख

नरसंहार के ज़रिये राज्य के उपकरणों का अभूतपूर्व सांप्रदायीकरण किया जाता है और दोषियों को बचाया जाता है। इसके बाद घोर भ्रष्टाचार से क़ानून के राज को और भी नुकसान पहुंचाया जाता है। इन सब बातों ने संघ परिवार के राम जन्मभूमि आंदोलन के धावे के लिए ज़मीन तैयार कर दी जिस पर विहिप ने अग्रणी भूमिका संभाल ली। यह नहीं भुलाया जाना चाहिए कि कांग्रेस सरकार के शासन के दौरान ही *रामायण* महाकाव्य को एक नकली राष्ट्रवादी टेलीविज़न सीरियल के रूप में प्रस्तुत किया गया और बाबरी मस्जिद के अन्दर रखी मूर्तियों के पूजन की अनुमति 1986 में दी गयी जिन्हें एक पूर्ववर्ती कांग्रेस सरकार के दौरान ही दिसम्बर 1949 में प्रशासकीय सांठगांठ के ज़रिये चोरी से मस्जिद में रख दिया गया था। संघ परिवार द्वारा अब तक चलाया जा रहा स्थिति का युद्ध अब गतिशीलता के युद्ध में बदल गया जिसमें विज्ञापन और दृश्य-श्रव्य माध्यमों का प्रयोग तथा संसाधनों का इतने बड़े पैमाने पर इस्तेमाल किया गया जो इससे पहले इस उपमहाद्वीप में नहीं देखा गया था। वैसे, हिटलर इन मामले में भी अगुआ था जिसे उस वक़्त के हिसाब से अपेक्षाकृत नई तकनीक के लाउड-स्पीकर और रेडियो के माध्यम से किये जानेवाले वाचिक प्रचार का महत्व ज्ञात था।[2]

जहां इटली और जर्मनी में फ़ासीवाद एक दशक या उससे कम समय में ही एक राजनैतिक ताक़त के रूप में उभर गया था, वहां हिन्दुत्व को एक लंबी गर्भावस्था से गुज़रना पड़ा। निस्संदेह, इससे उसे और भी ताक़त और स्थिरता मिली और सामान्य बोध में घुलमिल जाने का समय मिला। लेकिन इसमें एक उम्मीद की किरण यह है कि दशकों तक इसके ज़बर्दस्त प्रयास करने के बावजूद लोगों के दिलोदिमाग़ पर काबू पाने का इसका अभियान पूरा नहीं हो पाया। यह याद रखा जाना चाहिए कि 1991 में भी हर 5 में से 4 भारतीयों ने भाजपा के ख़िलाफ़ मतदान किया(इसका अखिल भारतीय मत-प्रतिशत 21.9 था)— और यदि राम के आधार पर मतदान को देखें तो यूपी की जीत ज़्यादा से ज़्यादा राम मंदिर बनाने के लिए जनादेश था, मस्जिद ढहाने के लिए नहीं। संघ परिवार का असली जनाधार मुख्यतः हिन्दी प्रदेश के शहरों और क़स्बों के सवर्ण व्यापारी-व्यावसायी पेटी-बुर्जुआजी ही रहे या फिर संभवतः गांवों के ऊर्ध्वमुखी गतिशील भूमिधर समूहों के साथ इसके संबंध बने। इसके बाहर इनका प्रसार अस्थिर रहा, जैसा कि मंडल से उत्पन्न खलबली और बिहार के उदाहरण प्रतीत होता है—और आज हिन्दुत्व के पूरे स्फीत ढांचे को सहारे के लिए लगातार एक उत्तेजना की, एक तीखे उन्माद की या सांप्रदायिक दंगों के उत्प्रेरक की ज़रूरत होती है। संभवतः इसीलिए भाजपा सरकारों के बलिदान का दांव खेला गया जो थोड़े लंबे समय सरकार चलाने के बाद खुद ही जनता की नजरों में विश्वास खो बैठतीं और कांग्रेस सरकारों से बुरी नहीं तो जरा भी भिन्न नहीं ठहरतीं।

फ़ासीवाद की पहले की एक अनुभव-आधारित परिभाषा में इसे 'न केवल बड़े व्यापारी समूहों का उपकरण बल्कि साथ ही साथ पेटी बुर्जुआजी का भी एक रहस्यमय उभार' कहा गया है।[3] यह 'रहस्यमय उभार' यहां राम के नारे के साथ आया, यह तो अविवादित है और इसका ख़र्चीला आयोजन बहुत स्पष्ट रूप से यह संकेत देता है कि पैसे की कोई कमी नहीं थी। लेकिन यूरोप के लिए भी यह एक विवादित मुद्दा है कि क्या फ़ासीवाद का पूंजीवादी हितों से विशेष संबंध था और ज़्यादातर इतिहासकार विभिन्न देशों में नाना प्रकार की पूंजियों के बीच अंतर करना ज़रूरी समझते हैं। उदाहरण के लिए, निहायत औद्योगीकृत जर्मनी में अपेक्षाकृत अविकसित इटली से मूलभूत रूप में स्थिति भिन्न थी। इस बात पर भी विवाद है कि क्या पूंजीवादी हितों को फ़ासीवाद के साथ सकारात्मक इरादों के तहत जोड़ दिया गया

था, जैसा कि 'उपकरण' पद का प्रयोग सूचित करता है, या फिर यह मौजूदा परस्थितियों से तालमेल बिठाने की क़वायद थी।[4] भारत में स्थिति इन सभी से अलग है, क्योंकि सम्पत्तिशाली हितों को संगठित मजदूर वर्ग या किसी आसन्न समाजवादी क्रान्ति से कोई बड़ा ख़तरा नहीं है। आर्थिक संकट की प्रकृति और अनुपात भी तुलनीय नहीं है। मंदी के बाद जर्मनी में कई व्यापारी समूहों के लिए नाज़ीवाद 'पूंजीवादी व्यवस्था को बनाए रखने का आख़िरी उपलब्ध ज़रिया' था[5] जबकि इटली में फ़ासीवाद का एक विकासात्मक, भले ही अलोकप्रिय, 'सुषुप्त क्रांति' वाला आयाम था जिसे ग्राम्शी ने वास्तविक तौर पर फ़ासीवादी जेल के अन्दर रहते हुए भी पहचान लिया था। भारत में दोनों में से कोई भी लक्षण विशेष रूप से नहीं दिखता जहां नरसिंह राव आर्थिक नीतियों में बड़े पैमाने पर बदलाव उस दृढ़ता और दक्षता से कर रहे हैं जो अयोध्या के मामले में ज़ाहिर तौर पर गैरहाज़िर थी। जनसंघ और भाजपा नेहरू युग की आत्मनिर्भरता और नियोजन की विरासत के परित्याग की वक़ालत कई सालों से कर रहे थे, लेकिन हिन्दुत्व की ताक़तें, जिनके प्रचार और क्रियान्वन में आर्थिक मुद्दे अक्सर गौण स्थान पर होते हैं, इस बदलाव को लाने का जरा भी श्रेय नहीं ले सकते। जिन भारतीय व्यापारी समूहों (सारा वर्ग जरूरी नहीं) ने मनमोहन सिंह की नई आर्थिक नीति का समर्थन किया था, वे एक अधिक सख़्त श्रम-विरोधी नीति के लिए एक ऐसी हिन्दू दक्षिणपंथी हुकूमत को तरजीह दे सकते थे जो संसद में वामपंथी मतों पर बिलकुल निर्भर न हो। वैसे इसके उलट यदि इस समय तक भी हिन्दुत्व के फ़ासीवादी दबाव को दृढ़ प्रतिरोध मिल रहा है, बूर्जुआ समूहों को पारंपरिक मध्यमार्गी विकल्प अधिक विश्वसनीय और आकर्षक प्रतीत हो रहा है, तो इसलिए कि दो महायुद्धों के बीच में इटली और जर्मनी में जो हालात थे, उसके मुक़ाबले हमारे यहां पूंजीवाद के निर्वाह और मुनाफ़ाख़ोरी के लिए फ़ासीवाद की 'जरूरत' काफ़ी कम है।

आत्मघाती लड़खड़ाहट

इस संदर्भ में 6 दिसंबर से पहले और बाद की लड़खड़ाहट—तिस पर भी कांग्रेस और ख़ासकर उसके प्रधान मंत्री की लड़खड़ाहट—इतनी विनाशकारी हो जाती है कि पार्टी के संकीर्ण हितों के नज़रिये से भी आत्मघाती जान पड़ती है। वाजपेयी का अक्सर उद्धृत किया जानेवाला साक्षात्कार इस बात का संकेत देता है कि कुछ दिनों तक भाजपा रक्षात्मक मुद्रा में आ गई थी। लेकिन नरसिंह राव, जैसा कि एक पत्रकार ने सटीक टिप्पणी की थी, 'जीत के चंगुल से हार को छीन लाने में सफल रहे'। छिटफुट जगहों पर बेमन से लगायी गयी रोक, जो अधिकतर लागू भी नहीं हुई और जिसके साथ कांग्रेस का कोई राजनैतिक अभियान भी नहीं चला। फिर इसकी जगह लेने लगे, भाजपा से 'हिन्दू कार्ड' के लिए प्रतियोगिता जैसे प्रयास। सिद्धान्तों को छोड़ भी दें तो आरंभिक स्तर की व्यावहारिक राजनीति भी यह कहती है कि इस तरह के खेल में ज़्यादा दृढ़ और संकल्पनिष्ठ ही हमेशा जीतता है। 6 दिसंबर के तुरंत बाद जो दिल्ली के दैनिक अख़बार भाजपा की खुलकर भर्त्सना कर रहे थे, उनके रवैये का अब काफी अस्पष्ट हो जाना इस ख़तरनाक माहौल का संकेत देता है।

जो नेता खुद को बिला शक अपने प्रमुख राजनैतिक प्रतिद्वन्द्वी भाजपा से अलग करते हैं, वे भी इस हद तक अवसरवादी हो सकते हैं, यह तथ्य उस चीज़ के व्यापक फैलाव को बताता है जिसे मैंने वर्तमान त्रासदी के केंद्र में स्थित बताया हैः यानी, अनवरत प्रयास के द्वारा गढ़ा गया एक सांप्रदायीकृत सामान्य बोध। इस सामान्य बोध के, जिसे कई सीमाओं के साथ भारतीय क़िस्म का फ़ासीवाद कहा जा

सकता है, विविध घटकों का विश्लेषण और आलोचन उसके किसी भी प्रकार के प्रतिरोध के लिए अत्यावश्यक है।

फ़ासीवादी विचारधारा ने यूरोप में जगह जगह बिखरे जड़ राष्ट्रवादी, नस्लवादी और जर्मनी में सामी-विरोधी/एंटी-सेमेटिक पूर्वाग्रहों को अधिक जटिल दर्शनों के टुकड़ों के साथ गूंथ दिया था। इसका संबंध कुछ-कुछ प्रबोधनकालीन बुद्धिवाद की तथाकथित बंजर जड़ताओं को छोड़ देनेवाले 'टर्न ऑफ़ द सेंचुरी' के विचारों से भी है—यह एक ऐसा तथ्य है जो आज भी प्रासंगिक है, क्योंकि ऐसे ही विचार पश्चिम में बौद्धिक प्रचलन में हैं और विस्तार पाकर भारतीय अकादमिक जीवन को भी प्रभावित कर रहे हैं। संघ परिवार के विचारक (गिरिलाल जैन या स्वपन दासगुप्ता के अलावा) भले ही उत्तर-आधुनिकता की विविध संभावनाओं से अभी तक अपरिचित हों: लेकिन कुछ प्रचलित अकादमिक धाराएं बुद्धिजीवियों द्वारा हिन्दुत्व की विचारधारा के प्रतिरोध को घटा सकती हैं, यह ज़ाहिर हो चुका था। उदाहरणार्थ, एडवर्ड सईद के प्राच्यवाद से प्रेरणा लेकर किये गये 'औपनिवेशिक विमर्श के आलोचन' से जो देसीवाद पनपा, उसे संघ परिवार के उस नियत तर्क से अलगाना बहुत आसान नहीं था जो सावरकर के समय से चला आ रहा था कि हिन्दुत्व अपने विशिष्ट देसी जड़ों के कारण इस्लाम और ईसाइयत से (और इसी तर्क से आधुनिक पश्चिम की निर्मिति विज्ञान, लोकतंत्र या मार्क्सवाद से भी) श्रेष्ठ है। 'लोकप्रिय' या 'सबाल्टर्न' के अनालोचक पंथ, ख़ास तौर पर जब वह प्रबोधनकालीन बुद्धिवाद को औपनिवेशिक सत्ता-ज्ञान संबंध के तहत स्थायी तौर पर दाग़दार मान कर ख़ारिज करने के साथ जुड़े हों, कई बार उग्र परिवर्तनवादी इतिहासकारों को भी विचित्र रास्तों पर ले जाते हैं।[6] यह याद करना ज़रूरी है कि जियोवानी जेन्तील ने फ़ासीवाद को 'विधेयवाद के विरुद्ध विद्रोह' के तौर पर परिभाषित किया है, या मुसोलिनी ने 1933 में प्रगति की 'उद्देश्यपरक' (टेलियोलॉजिकल) अवधारणाओं के साथ साथ '18वीं सदी के स्वप्नदर्शियों, और पंडितों के आन्दोलन' की भी निन्दा की थी। इतालवी तानाशाह का एक और उद्घोष दुर्भाग्यवश प्रासंगिक है जब जुलाई 1934 में उसने ' राष्ट्र के लिए ख़तरनाक नपुंसक बुद्धिजीवियों और बौद्धिकीकरण' को ख़त्म कर देने का आह्वान किया था। अगले बरस न्यूरेमबर्ग नाज़ी कांग्रेस में हिटलर ने भी इसी प्रकार 'बाल की खाल निकालनेवाली बुद्धि' के बजाय जर्मन लोक के 'हृदय', 'आस्था' और 'अंतर की आवाज' को गौरवान्वित किया था।[7]

'शत्रु' छवि

पुराने और बिखरे हुए पूर्वाग्रह के तत्वों को अपना कर उनका पुराने वस्त्रों में सावधानीपूर्वक सजाये गये नए तत्वों के साथ संयोग करते हुए एक प्रभावशाली और विस्तारणीय शत्रु छवि को विकसित करना और उसे अत्याधुनिक मीडिया तकनीक के द्वारा जोर शोर से प्रसारित करना—यह एक जन उभार के रूप में हिंदुत्व के (या फ़ासीवाद के भी) केन्द्र में है। यहां मुसलमान यहूदियों के लगभग समतुल्य हो जाते हैं—या समकालीन श्वेत नस्लवाद के अश्वेतों के भी (सामान्यतः शरणार्थी किसी न किसी कारण से नीचे जताये जाते हैं)। नाज़ी प्रोपेगेंडा में जैसा यहूदियों के बारे में कहा जाता था, वैसे ही भारत में मुसलमान के बारे में बताया जाता है कि अनुचित रूप से विशेषाधिकृत हैं—जर्मनी के मुक़ाबले, जहां यहूदी बौद्धिक कर्म, व्यवसाय और वाणिज्य में काफ़ी प्रमुख थे, यह इल्जाम यहां पर और भी ज़्यादा असंगत है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में मुसलमान सभी उच्च स्तरों पर, चाहे उन स्तरों को जैसे भी परिभाषित करें,

प्रतिनिधित्व से बुरी तरह वंचित हैं। जिन विशेषाधिकारों का दोषारोपण किया जाता है, वे 'छद्म धर्मनिरपेक्षों(सूडो सेकुलरिस्ट)' द्वारा मुसलमानों के 'तुष्टीकरण' की उपज हैं, इसीलिए बड़ी आसानी से जो सांप्रदायिक लक्ष्य है, उसका विस्तार किया जाना शुरू हो जाता है और इसके कई उदाहरणों में से एक लें तो मुलायम सिंह यादव को भी 'मुल्ला' घोषित कर दिया जाता है। आजकल इस 'तुष्टीकरण' के आम उदाहरण में मुस्लिम पर्सनल लॉ में बहुविवाह की अनुमति होना और कश्मीर में मंदिरों के ध्वंस पर 'छद्म-धर्मनिरपेक्षों' की चुप्पी है। ध्वंस की निन्दा की जानी चाहिए, चाहे वह हिन्दू करें या मुस्लिम, पर यह निंदा तब विचित्र लगती है जब इसे 6 दिसंबर को किये गये ध्वंस को उचित ठहराने या उसकी अनदेखी करने के लिए की जाती है। और ज़ाहिर है कि दंगों के दौरान बहुत सारे मस्जिदों के ध्वंस (मसलन भागलपुर में) की चर्चा भी नहीं की जाती। प्रसंगवश, कश्मीर के मंदिरों का मुद्दा बाबरी मस्जिद ध्वंस के बाद काफ़ी चर्चा में आ गया जो एक संगठित निंदा अभियान का संकेत है तथा साथ में संभवतः वाचालता के ज़रिये अपराध बोध को दबा देने का तत्व इसके पीछे हो। मुसलमानों को अपने वर्तमान और अतीत के अत्याचारों के लिए पछताना या प्रायश्चित करना चाहिए, बार बार दुहराये जानेवाले इस तर्क ने बम्बई से आनेवाली इन ख़बरों के संदर्भ में एक और ही रंग ले लिया। ध्वस्त मंदिरों के पुनर्निर्माण की मुसलमानों की पेशकश को शिव सेना ने ठुकरा दिया और धारावी में मुसलमानों का एक दल जब वाक़ई एक मंदिर का पुनर्निर्माण कर रहा था, तब उन्हें छुरा मारा गया (पायोनियर, 9 जनवरी 1993)।

मुस्लिम पर्सनल लॉ के मुद्दे पर संघ परिवार ने एक बार फिर राजीव गांधी की कारगुज़ारी का पूरा लाभ उठाया, जब उन्होंने अयोध्या में ताला खुलवाने की भरपाई मुस्लिम महिला विधेयक से करने का प्रयास किया। मुसलमान रूढ़िवादियों के तुष्टीकरण (जिससे सीधे ओर वास्तविक पीड़ित मुसलमान महिलाएं होती हैं) का बार-बार ज़िक्र किया जाता है लेकिन साथ ही साथ जो हिन्दू संप्रदायवादियों का तुष्टीकरण किया जाता है, उसका ज़िक्र कभी नहीं होता। वैसे इस प्रश्न का वास्तविक महत्व हिन्दुत्व की विचारधारा के पूर्वग्रह को, जो लगभग नस्लवादी हैं, उजागर करने के लिए है। मुसलमानों के बहुविवाह के अधिकार को जारी रखने को इस दावे से जोड़ दिया जाता है कि मुसलमान बच्चे बहुत पैदा करते हैं : 'हम पांच हमारे पच्चीस', अप्रैल 1991 को हमारे समूह को दिये गये एक साक्षात्कार में दिल्ली के विहिप नेता (जो भाजपा के सांसद भी रहे) बी. एल. शर्मा ने बड़ी शान से इसे वर्णित किया था। हालांकि भारत में महिलाओं की स्थिति पर जारी रिपोर्ट (1975) के अनुसार बहुविवाह की दर, दरअसल, मुसलमानों के मुक़ाबले हिन्दुओं में ज़्यादा है (4.31% के मुकाबले 5.06%)। फिर मुसलमानों का मूलभूत जैविक कार्यों को करना ही ख़तरनाक बता दिया जाता है—चाहे वह जन्म हो, संतान पैदा करना हो या मौत ही क्यों न हो, क्योंकि नयी दिल्ली में 1991 के निज़ामुद्दीन दंगों के दौरान एक जांच में हमें कहा गया कि एक मृत मुसलमान अपने दफ़न के साथ थोड़ी ज़मीन भी हथिया लेता है जबकि संतोषी हिन्दू मरने पर चिता में जल जाता है। 'बाबर की औलाद' इस पद की गढ़न्त में नस्लवादी रवैया पूरी तरह नज़र आता है। सिर्फ बाबर के वंशज होने का उल्लेख ही निन्दा के लिए पर्याप्त है, उसे कोई दुष्कृत्य करने की दरकार भी नहीं, वैसे ही जैसे ईसा के सूली चढ़ाने के समय यहूदियों के पूर्वजों की करनी का हवाला देकर कुछ कट्टर ईसाई दायरों में सभी यहूदी निंदनीय समझे जाते हैं।

अपने अपरिष्कृततम रूप में सांप्रदायिक दंगों का प्रत्यक्ष औचित्य हिन्दुत्व की यह विचारधारा सिद्ध करती रहती है। इसके जो जरा 'नरम' या प्रच्छन्न स्तर हैं, उन पर भी ध्यान देने की ज़रूरत है, क्योंकि

वे हिन्दू राष्ट्र के फ़ासीवादी निहितार्थों को स्पष्ट रूप में दर्शाते हैं। फ़ासीवाद जिस समाज पर क़ाबिज़ होना चाहता है, अक्सर उस समाज में प्रगतिशील और सराहनीय समझे जानेवाले आदर्शों के तत्वों को हथियाने की कोशिश करता है : इसीलिए नाज़ियों को उत्तर-वार्साय कालीन जर्मनी में 'राष्ट्रवादी' ही कहलाना काफ़ी नहीं था बल्कि वायमार गणराज्य में मज़दूर वर्ग की सशक्त उपस्थिति को ध्यान में रखते हुए 'समाजवादी' और 'श्रमिकों' का प्रतिनिधि होने का दावा भी करना पड़ा था। इसी प्रकार संघ परिवार भी स्वयं के असली और अनूठे तौर पर 'राष्ट्रवादी' होने का दावा 'लोकतांत्रिक' तर्क के आधार पर करता है : भारत में सदा हिन्दू हित ही प्रमुख होने चाहिए, और संभव हो तो किसी चरण में जाकर इसे हिन्दू राष्ट्र घोषित कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि आख़िर यहां हिन्दू बहुमत में हैं, जनगणना के अनुसार जनसंख्या का 85 प्रतिशत। लेकिन बहुमत के शासन के अलावा सच्चे लोकतंत्र के दो और लक्षण होते हैं : अल्पमतों की जीवन-पद्धति और आस्थाओं की रक्षा तथा, इससे भी महत्वपूर्ण बात, यह वैधानिक संभावना कि जो आज राजनैतिक अल्पमत में है, वह कभी चुनावी बहुमत प्राप्त करके शान्तिपूर्ण तरीक़े से सरकार को बदल सकता है। अन्यथा हिटलर, मुसोलिनी (या स्टालिन) की एकदलीय हुकूमत को लोकतंत्र का दर्जा देने से इंकार करना कठिन हो जायेगा, क्योंकि इनमें से सभी ने कभी न कभी एक सूची वाले जनमत-संग्रहनुमा चुनाव कराये हैं और वे पूरी बेईमानी से नहीं किये गये थे। दूसरे शब्दों में, लोकतांत्रिक सिद्धान्त स्थायी बहुमत के किसी भी ख़याल के पूरे विरोध में खड़ा होता है—लेकिन संघ परिवार की परिभाषा के अनुसार सभी हिन्दुओं की ओर से बोलने का दावा करने वाली पार्टी—भाजपा—का स्थान ऐसा ही है। इस वक्तव्य में एक और दावा निहित है जो कि फ़ासीवाद की याद दिलाता है : वही सच्चा हिन्दू है जो आरएसएस-भाजपा-विहिप गठजोड़ का नेतृत्व स्वीकार करे। किसी भी प्रकार की असहमति को छद्म धर्मनिरपेक्ष तुष्टीकरण करार दिया जायेगा। इसी प्रकार हिटलर और नाज़ियों ने सभी 'शुद्ध' जर्मनों की ओर से बोलने का अधिकार हड़प लिया था और साथ में यह तय करने का अधिकार भी कि कौन 'शुद्ध' नस्ल का है। चाहे 'नरम' हो या 'कठोर', हिन्दुत्व की विजय का परिणाम मुसलमान और अन्य अल्पसंख्यक समूहों के लिए क्या अर्थ रखता है, यह काफ़ी हद तक स्पष्ट है : ज़्यादा से ज़्यादा एक दूसरे दर्जे की नागरिकता, दंगों का—जो कभी भी नरसंहार में बदल जा सकते हैं—अनवरत भय, नतीजतन ऐसे सभी समुदायों में कट्टर और रूढ़िवादी तत्वों का मज़बूत होना। आख़िरकार बाबरी मस्जिद का ध्वंस और प्रोफ़ेसर मुशीरुल हसन पर हमले का लगभग साथ साथ होना आकस्मिक नहीं था—और रोचक बात यह है कि पुलिस अजीबोग़रीब तरीक़े से दोनों ही मामलों में ग़ायब या निष्क्रिय थी। 6 दिसंबर की घटना के फलस्वरूप पाकिस्तान और बांग्लादेश, दोनों जगह मुस्लिम रूढ़िवादी ताक़तें मज़बूत हुई हैं। यह कहने की ज़रूरत है कि भारत में मुसलमान नगण्य अल्पसंख्यक नहीं हैं बल्कि 12 करोड़ हैं—इंडोनेशिया के बाद विश्व में सर्वाधिक। भारतीयों की निपट संख्या और विविधता के कारण संभवतः दुनिया के किसी भी अन्य देश की तुलना में यहां धर्मनिरपेक्षता, लोकतंत्र और राष्ट्रीय एकता का परिरक्षण एक दूसरे पर अधिक घनिष्ठता से निर्भर करते हैं। भाजपा जिस पूर्ण और स्थायी अलगाव की नीति का अनुसरण कर रही है, वह यहां कहीं बड़े पैमाने पर एक यूगोस्लाविया या लेबनान घटित कर सकता है। संघ परिवार शेखी बघार कर जिस 'राष्ट्रवाद' पर अपना दावा औरों से अधिक करता है, उस पर आचरण करने का इसका तरीक़ा निस्संदेह निराला है।

साझा कार्रवाई की गुंजाइश

आज के हिन्दुत्व और यूरोपीय फ़ासीवाद, ख़ासकर उसके नाज़ी संस्करण, में एक प्रमुख अन्तर स्थापित धार्मिक परम्पराओं से उनके असमान संबंधों की वजह से है। नाज़ियों ने अपनी अस्मिता को नस्ल पर आधारित किया था, धर्म पर नहीं, और उन्होंने युवाओं से एक ऐसी सभ्यता के निर्माण का आह्वान किया था जो कई बार स्पष्ट रूप से ईसाइयत-विरोधी लगने लगती थी। संघ परिवार अपनी घोषित मान्यता में ही हिन्दू परम्पराओं के प्रति पूर्ण निष्ठा और सम्मान रखने का उपदेश देता है, तब भी जब वह इन्हें मूल रूप से बदल रहा होता है। कहना न होगा कि यह उसके लिए शक्ति का जबर्दस्त स्रोत है, लेकिन यदि प्रभावी ढंग से सामना किया जाए तो यह कमज़ोरी में भी बदल सकती है। क्योंकि हिन्दुत्व वास्तव में एक बड़े पैमाने पर हिन्दू रीति-रिवाजों और मान्यताओं को बदल रहा है और इसे असल में एकरूप बना रहा है। एक विहिप नेता ने बाबरी मस्जिद के समीप के मुस्लिम घरों के ध्वंस पर अपनी प्रसन्नता ज़ाहिर करते हुए जो कुछ कहा, वह इस बदलाव का सार प्रस्तुत करता है—उसने कहा कि यह इस इलाक़े को वैटिकन बनाने के लिए ज़रूरी था। मगर इस वृहत और अत्यधिक बहुरंगे हिन्दू जगत में वह कभी नहीं था जो विहिप राम और अयोध्या को बना डालने का प्रयास कर रही है—एक सर्वोच्च देवता तथा सर्वोच्च तीर्थ-स्थान जो क्षेत्र, पंथ, जात, लिंग, वर्ग की अस्तित्वमान विविधताओं को पीस कर बराबर कर दे। इससे भी ज़्यादा बुनियादी प्रयास करोड़ों हिन्दुओं के इस गहरे विश्वास को, कि उनका धर्म अत्यंत सहिष्णु और उदार है, बदल डालने और उसे एक बर्बर, हत्यारे और राजनैतिक सत्ता हथियाने के औजार के रूप में तब्दील कर देने का है। हमारे देश में उदारता की परम्पराएं काफ़ी गहरी और स्वयं में अत्यंत विविधतापूर्ण हैं। उनकी परास समन्वयवादी और उग्र मूर्तिभंजकों से लेकर रूढ़िवादियों तक है। समन्वयवादियों में भक्त-सूफी संत और पीर रहे हैं जिनमें कुछ तो मंदिर, मस्जिद और पुरोहित और मुल्ला को राह रोकनेवाला मानते हैं, जैसा कि एक बाउल गीत में कहा गया है। दूसरी ओर वे हैं जो रामकृष्ण की तरह रूढ़िवादी होते हुए भी अत्यंत उदार हैं, जिनकी नज़र में हिन्दू, मुसलमान और ईसाई में वही अन्तर है जो जल, पानी या वाटर में है। और आज अनिवार्यतः हमारा ध्यान बार बार अतीत में 45 बरस पहले के अंधकारमय जनवरी महीने में चला जाता है जब एक आदमी मारा गया था, जो एक धर्मनिष्ठ हिन्दू था, जिसने अपने आख़िरी शब्दों में राम को ही याद किया था। उसे मारनेवाला संघ परिवार की संस्कृति में पला हुआ युवक था। महात्मा गांधी के राम जो कि ईश्वर और अल्लाह दोनों नामों से जाने जाते हैं और जिस राम के नाम पर बाबरी मस्जिद तोड़ी गयी, दोनों में एक समंदर जितना बड़ा अन्तर है।

धर्म-निरपेक्षता के कई अर्थ हैं

आज इस बात की पहचान करना ज़रूरी है कि धर्म-निरपेक्षता के कई अर्थ हो सकते हैं और हैं। इसका विस्तृत और विविध वर्णपट श्रद्धालु धार्मिक से लेकर स्वतंत्रचेता नास्तिक तक फैला हो सकता है, इस भावभूमि पर कि सांप्रदायिक घृणा और धर्मतांत्रिक राज्य का पूर्ण बहिष्कार हो। इसका अर्थ यह नहीं कि नास्तिक धर्म-निरपेक्ष लोग खुद को 'मुख्यधारा' से 'पराया' कर दिए जाने का विलाप करना शुरू कर दें और सहसा स्वयं को विहिप या कट्टर मुसलमानों से अधिक 'सच्चा' हिन्दू या मुसलमान बताना शुरू कर दें।[8] इसका अर्थ एक ऐसी सजगता को जगाना है कि गहरे मतभेद होते हुए भी मौलिक मानव मूल्यों की रक्षा में एक साथ सक्रिय होने को टाला नहीं जा सकता है, जैसा कि ट्रॉटस्की ने एक दफ़े फ़ासीवाद

के ख़िलाफ़ साझा मोर्चा बनाने की वक़ालत करते हुए कहा था कि संभव है कि हम 'कूच अलग अलग करें, लेकिन हमला तो साथ साथ करें'।[9]

हिन्दुत्व की ताक़तें ऐसी एकता से घबराती हैं। धर्म-निरपेक्षता और सांप्रदायिकता-विरोधी हर गतिविधि को हिन्दूविरोधी करार देने के उनके अनवरत प्रयासों से यह संकेत मिलता है। इसके साथ-साथ वे धर्मनिरपेक्षता को 'नेहरूवियन' राज्य की नीतियों से मिलाने की कोशिश भी करती हैं ताकि अवसरवाद, अत्यधिक नौकरशाही वाले केन्द्रीकरण और दमन जैसे गुनाहों, जिनका दोषी राज्य अक्सर होता है, का भार इस पर डाला जा सके। एक बार फिर यहां भी प्रचलित बौद्धिक प्रवृत्तियों ने ऐसी आलोचनाओं को एक प्रतिष्ठा दी है, क्योंकि आजकल बहुधा यह माना जाता है कि धर्म-निरपेक्षता प्रबोधन के, जो आजकल बहुत बदनाम है, बुद्धिवाद और संशयवाद की उपज है जो भारत में औपनिविक विमर्श के बोझ के तहत लादी गयी और फलस्वरूप पश्चिमी पद्धति पर बने दमनकारी राष्ट्र-राज्य में शामिल कर ली गयी। दरअसल, यूरोप में ही धर्मनिरपेक्षता की जड़ें 200 वर्ष पुरानी हैं, जब धर्मसुधार ने धर्मयुद्धों (हम उन्हें वैध रूप से 'सांप्रदायिक दंगे' कह सकते हैं) को छेड़ दिया था। धर्म और राज्य के अलगाव पर आधारित सहिष्णुता के पहले पैरोकार बुद्धिवादी स्वतंत्रचेता नहीं बल्कि एनाबैप्टिस्ट थे जो अपनी ख़ास ईसाइयत में पूरी भावना से धर्मनिष्ठ थे और आज भी यह मानते हैं कि दमन, उत्पीड़न या किसी भी प्रकार का अनिवार्य राजधर्म सच्ची आस्था के ख़िलाफ़ है।

भारत में, अन्य देशों की तरह, विविध धार्मिक परम्पराएं रही हैं, इसलिए सह-अस्तित्व की बुनियादें और ज़रूरतें काफी विस्तृत और गहरी रही हैं। इन्हें सभी पन्थों के महापुरुषों की वाणियों और कई राजाओं की नीतियों में देखा जा सकता है, जिनमें अकबर सबसे प्रसिद्ध है। ये दैनिक जीवन की ज़रूरतों में पिरो दी गयी हैं, जिनसे कभी कभी द्वन्द्व उत्पन्न हो सकता है लेकिन जिनमें परस्पर निर्भरता की ओर भी रुख है—यदि सांप्रदायिक ताक़तें उन्हें ऐसा करने दें जो कि आजकल न्यूनतर होता जा रहा है।[10] यदि सांप्रदायिकता हमारे इस दैनिक अस्तित्व को मिटाती है तो वह शोषण और दरिद्रता को कम करके जीवन-स्थितियों को बेहतर बनाने के हर प्रयास को भी साथ ही साथ रोक देगी। ऐसा दो बुनियादी तरीक़ों से होगा : मेहनतकशों और सभी मातहत समूहों की एकता और संघर्ष छिन्न-भिन्न करके और कठोर सांप्रदायिक सीमाएं खड़ी करके उनके अन्दर निष्ठुर एकरूपता की प्रवृत्तियों का पोषण करना। यह एकरूपता निरपवाद रूप से सत्तासीन समूहों और हितों की मदद करती है—हिन्दू सांप्रदायिकता के संदर्भ में स्पष्ट रूप से सवर्ण उच्च वर्ग। यह ध्यातव्य है कि किस प्रकार मंडल आयोग की उन सिफ़ारिशों तक को, जो काफ़ी सीमित तौर पर सामाजिक न्याय के प्रति कदम उठाती हैं, लागू करने में हिन्दू हमले हो रहे हैं। हिन्दुत्व के कार्यक्रमों और गतिविधियों में ख़ास सामाजिक-आर्थिक मुद्दों पर फैली चुप्पी (नारे में राम के साथ साथ जुड़ी 'रोटी' को व्याख्यायित करने का कोई प्रयास नहीं हो रहा है, और जैसे यह नारा भुला ही दिया गया है) को धर्मनिरपेक्ष हस्तक्षेप का इलाक़ा बनाया जा सकता है, बशर्ते कि 'सांस्कृतिक' और 'विचारधारात्मक' में से 'आर्थिक' और 'राजनैतिक' को अलग कर देनेवाली प्रवृत्ति को छोड़ा दिया जाए जो कि भारतीय वामपंथ में गहराई तक व्याप्त है। सांप्रदायिकता-विरोधी मुहिम मात्र सेमिनारों या मध्यवर्गीय सांस्कृतिक कार्यक्रमों तक सीमित नहीं रखी जा सकती, ये भी जरूरी हैं, लेकिन रोज़मर्रा के आर्थिक संघर्ष सांप्रदायिकता, धर्म और विचारधारा के सवालों को इस अबोध आशा में परे रखकर नहीं किया जा सकता कि ठोस भौतिक मुद्दे और 'वास्तविक' वर्ग-अस्मिता खुद को स्वतः स्थापित कर लेगी।

यूरोप के फ़ासीवादी युग के बारे में विचार करना एक मनहूस और उदास क़वायद हो सकती है, अब जबकि अंध राष्ट्रवादी शक्तियां अपना सिर प्रायः हर जगह उठाने लगी हैं। लेकिन 1930 के दशक और 1940 के आरंभिक दशक की यादें केवल स्ट्रॉम-ट्रूपरों, हॉलोकाउस्ट, कनसन्ट्रेशन कैम्पों और उन विकृतियों की ही नहीं जिन्होंने आज दुनिया के पहले समाजवादी प्रयोग को नष्ट कर दिया। उनमें संयुक्त और अपने समय में विजयी फासीवाद-विरोधी संघर्ष, लोकप्रिय मोर्चों, पिछले बरस (1992) टेलीविजन पर देखे गए बार्सिलोना से बिलकुल अलग बार्सिलोना, स्टालिनग्राद के शौर्य (मात्र स्टालिन का आतंक नहीं) की यादें भी जुड़ी हैं। शायद अब स्पेनी गणतंत्र के रखवालों के नारे से भरोसा पाने का समय फिर हमारे सामने है : फासीवाद को बढ़ने नहीं देंगे।

E-mail: sumitsarkar_2001@yahoo.co.uk

अनुवाद : विभास वर्मा
मो. : 09968281417

संदर्भ

1. बेशक कानपुर, सूरत, भोपाल, बॉम्बे और देश के कई शहरों में काफी उच्च मानक स्थापित किये गये, जहां 6 दिसंबर के बाद एक समय 213 जगहों पर कर्फ्यू लगाया गया था जिसमें 9.7 करोड़ लोग प्रभावित हुए। *क्राई द बिलवेड कन्ट्री (पीपुल्स यूनियन ऑफ़ डेमोक्रेटिक राइट्स)*, दिल्ली, दिसंबर 1992।
2. संघ परिवार के उदय की विस्तृत जानकारी के लिए देखें, तपन बसु, प्रदीप दत्ता, सुमित सरकार, तनिका सरकार, और सम्बुद्ध सेन, *खाकी शॉर्ट्स एंड सैफ़्रन फ्लैग्स् : द पॉलिटिक्स ऑफ़ द हिन्दू राइट* (न्यू डेल्ही 1993)।
3. डेनियल गुएरिन, *फ़ासिज़्म एंड बिग बिजनेस* (मूल 1936, न्यूयॉर्क, 1973)।
4. गुएरिन, वही : एलन एस. मिल्वार्ड, ' फ़ासिज़्म एंड इकोनोमी', वाल्टर लाक्वर सं. *'फ़ासिज़्म : ए रीडर्स गाइड'* (बर्कले, कैलीफोर्निया, 1976. पेंग्विन बुक्स, 1979)।
5. मिल्वार्ड, वही।
6. गौतम भद्रा ने एक बांगला पत्रिका को 1991 के आरंभ में दिये गये एक साक्षात्कार में पहले कार सेवा आन्दोलन, यहां तक कि साध्वी ऋतंभरा के भाषणों में भी अस्मिता के सबाल्टर्न दावे के प्रशंसनीय तत्व पाये थे। सबाल्टर्न स्टडीज संपादक मंडल के एक और सदस्य दीपेश चक्रवर्ती ने हाल में एक लेख में तर्क दिया है कि प्रबोधनोत्तर पश्चिम के 'हिज़ मास्टर्स वॉयस' ने जिन चीज़ों की भर्त्सना की है, उन सभी चीज़ों में रचनात्मक तत्वों की खोज करना चाहिए। उनकी दृष्टि में इस 'वॉयस' में मैकाले के साथ साथ मार्क्स भी शामिल हैं (*नैया*, फरवरी 1991; *बारोमास*, अक्टूबर 1992)।
7. जीव स्टर्नहाल, *फ़ासिस्ट आयडियोलॉजी*, लाक्वर में, वही; ग्वेरिन, वही।
8. वे भारतीय संस्कृति या मूलभूत मानव-मूल्यों से निस्संदेह सूरत के उन युवकों से कम परायापन महसूस करेंगे जिन्होंने हिन्दुत्व के नाम पर मुसलमान औरतों का सामूहिक बलात्कार का वीडियोटेप बनाया। मुझे कहा गया है कि यह टेप बम्बई के कुछ धनाढ्य परिवारों की शाम की पार्टियों में खुले तौर पर देखा जाता है।
9. लियोन ट्रॉटस्की, 'फॉर ए वर्कर्स यूनाइटेड फ्रंट अगेन्स्ट फ़ासिज़्म' (दिसंबर 1931)।
10. 15 जनवरी 1933 के *फ्रंटलाइन* में 6 दिसंबर के बाद कुछ आम लोगों द्वारा संप्रदायों के बीच के तार-तार कर दिये गये भरोसे और परस्पर निर्भरता को फिर बहाल करने की मर्मस्पर्शी रिपोर्ट है।

जर्मन फ़ासीवाद (1933-34) : आतंक और लफ्फाजी की भूमिका

कुर्ट पेट्ज़ोल्ड (Kurt Pätzold)

फ़ासीवादी राजनेताओं ने किस तरह लाखों जर्मन नागरिकों को अपने पक्ष में कर लिया और उन्हें अपने ही हितों के खिलाफ गोलबंद कर दिया, यह प्रश्न जर्मनी और विश्व के कई इतिहासकारों के दिल-दिमाग को झकझोर कर रख देता है। जर्मनी के निकटवर्ती इतिहास में कभी ऐसी राज्य-व्यवस्था कायम नहीं हुई, अस्थायी तौर पर ही सही, जिसे इतने विशाल जनमत का समर्थन मिला हो और न कभी ऐसी व्यवस्था भी संभव हुई जिसने अपने ही अनुयायियों को विनाशकारी परिस्थितियों में ढकेल दिया हो।

कई दशकों से विभिन्न क्षेत्रों जैसे आर्थिक, वैचारिक, सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, दार्शनिक, नृतत्वशास्त्रीय और यहां तक कि धार्मिक क्षेत्रों में यह प्रश्न तथा इससे जुड़े पहलुओं ने लोगों का ध्यान अपनी ओर खींचा है। इसी से जुड़ा सवाल यह भी रहा है कि सामान्य जनों का सामर्थ्य किस प्रकार का है, उनके साथ क्या घटित हो सकता है और वे अपने साथ होने वाले किन व्यवहारों को सहन कर सकते हैं? यह तथ्य कि बर्बर नाजीवादी राज लाखों को अपने पक्ष में कर सका, कई लोगों को मानव जीवन व स्थितियों के बारे में संदेहवाद तथा निराशा की ओर भी ले जाता है। इन्हीं कारणों से इतिहासकारों द्वारा भी अपनी सैद्धांतिकी के निर्माण की चुनौतियों को भी महसूस किया जाना चाहिए।

अत्यंत जटिल समस्याओं के बारे में इतिहास की अति सामान्यीकृत अवधारणाओं का सहारा लिया जाता है। पर ऐसी अवधारणाओं को नकार कर जर्मनी के फ़ासीवादी इतिहास से संबंधित प्रश्नों पर गंभीरता से विचार करने की ज़रूरत है। वास्तव में जर्मनी में फ़ासीवादी तानाशाही के संदर्भ में यह बात महत्वपूर्ण हो गई है कि इतिहास के बारे में विशेषज्ञों की समझ तथा सामान्य लोगों की समझदारी में व्यापक अंतर है। यह अंतर केवल इतिहासकारों की इतिहास-दृष्टि के कारण नहीं है बल्कि इसलिए अधिक है क्योंकि पत्रिकाओं और सचित्र इतिहास पुस्तकों, मोशन पिक्चर्स और सबसे अधिक टेलिविजन द्वारा इतिहास के बारे में मिथ्या धारणाओं का नित प्रचार किया जाता रहा है। मिथ्या विचार तथा अफवाहें फैलाने में माहिर नाजी नेताओं तथा उनके अनुयायियों की छवियों को पत्रिकाओं, फिल्मों और टीवी स्क्रीन पर बार-बार प्रस्तुत किया जाता है और वे छवियां किसी 'बिकाऊ वस्तु' में परिवर्तित हो जाती हैं। भावोन्माद पैदा करने वाले नेताओं को आज कोई गंभीरता से नहीं लेता है और कई बार तो ऐसे नेताओं पर लोग हंसते हैं। पर इसके बावजूद कई बार जनसामान्य को हम ऐसे ही नेताओं के भाषणों से आंदोलित

होते, किन्हीं अजीब कारणों से उनकी बातों पर उत्साहित होते और उनकी कुशल वक़्तृता पर तालियां पीटते भी देखते हैं। शब्दों की कुशल बाजीगरी व अलंकृत भाषणों से ऐसी दुनिया की पुनर्रचना कर दी जाती है जो हमारे समय से भिन्न होती है और कोई सामान्य व्यक्ति कितना भी सूचना-संपन्न हो, उसे अपने जाल में समेट लेती है। प्रायः यह माना जाता है कि अतीत के फ़ासीवादी नेता बेहद चालाक और जोड़तोड़ में कुशल थे जबकि उनके अनुयायी मूर्ख एवं विचारहीन। इस कारण जर्मन फ़ासिस्टों द्वारा करोड़ों का समर्थन जुटाने का ऐतिहासिक तथ्य कई लोगों को अचंभित तो करता है लेकिन वे इससे संबंधित कठोर तथ्यों के बारे में अविश्वास प्रकट करने जैसी कोई प्रतिक्रिया व्यक्त करना चाहते हैं। इसी प्रकार इतिहास के इस त्रासद अनुभव से जुड़ी सूचनाओं की उपेक्षा की जाती है और इसके पुनः घटित होने के विचार को गंभीरता से नहीं लिया जाता, जबकि सच तो यह है कि यथार्थ में यही प्रक्रिया निरंतर जारी है। जनता को उनके ही हितों के विरुद्ध सक्रिय राजनीतिक शक्तियों के साथ गोलबंद कर दिया जाता है।

फ़ासीवादी तानाशाही का उभार

जर्मन फ़ासीवादी नेता सत्ता में चुनावी बहुमत का सहारा लेकर नहीं आए थे। वाइमार गणतंत्र (Weimer Republic) की बुर्जुआ-संसदीय व्यवस्था के अंतर्गत उन्होंने कुल चुनावी मतों का एक-तिहाई मत हासिल किया था। 1932 में नेशनलिस्ट सोशलिस्ट जर्मन वर्कर पार्टी (NSDAP) को वोटों के मामले में काफी नुकसान उठाना पड़ा था। 1933 के आरंभ में राज्यों के संसदीय चुनावों में बेहतर प्रदर्शन कर नुकसान की भरपाई करने का प्रयास किया गया पर वह ख़ास सफल न हो सका। नाजियों को भी 1932 की गर्मियों में हुए चुनाव जैसा समर्थन नहीं मिल सका था। मतदाताओं को एक सीमा से ज़्यादा प्रभावित कर पाने में नाजी पार्टी नाकाम हो रही थी और उसे महसूस हो रहा था कि विरोधी दलों को जबतक काम करने की खुली छूट रहेगी उनकी यह नाकामी बनी रहेगी। उस दौरान अगर नेशनलिस्ट सोशलिस्ट जर्मन वर्कर पार्टी ने राष्ट्रीय स्तर पर भावोन्माद की राजनीति को तेज़ कर दिया होता तो वह दक्षिणपंथियों से ज़्यादा समर्थन जुटा लेती लेकिन तब उसे बहुत सारे वामपंथी समर्थकों को खोना पड़ जाता। लेकिन अगर नाजियों ने सामाजिक मुद्दों पर भावोन्माद पैदा कर दिया होता, तो प्रक्रिया उलटे नतीजे पैदा करती। सरकार बनाने के संसदीय तरीकों पर चलकर फ़ासीवादी नेताओं द्वारा सत्ता प्राप्त करने की संभावनाएं काफी कम थीं पर फिर भी उन्हें उम्मीद थी क्योंकि हेनरी ब्रूनिंग और फ्रैंज फॉन पापेन के प्रशासन के अंतर्गत संविधान को निरंतर नष्ट व अवैधानिक बनाने का काम चल रहा था जो फ़ासीवादियों को ही लाभ पहुंचाता था।

जब राइख़ में हिटलर चांसलर बन गया तब परिस्थितियां बदलने लगीं और नाजी संगठनों की ताकत व राज्य की शक्ति का संयुक्त मोर्चा कायम होना संभव हो गया और फ़ासीवादी नेताओं को राइख़स्टैग के चुनावों में बहुमत जुटाना संभव प्रतीत होने लगा। वे 30 जनवरी 1933 को सरकार गठन के अलोकतांत्रिक तरीकों को सही नहीं ठहरा सके जोकि कानून-संविधान के नजरिए से पूरी तरह अवैधानिक था। निस्संदेह नेशनलिस्ट सोशलिस्ट जर्मन वर्कर पार्टी ने सफलता की लहर पर सवार होकर काफी वोट पाए, हर पांच में दो वोटरों ने नाजी पार्टी का समर्थन किया, लेकिन सरकार पचास फीसदी के आंकड़े को इसलिए पार कर सकी क्योंकि नाजी फ़ासिस्टों द्वारा जर्मन राष्ट्रवादियों से किए गठजोड़ ने उन्हें इसमें

सहायता दी। 5 मार्च 1933 का चुनाव जर्मन राइख़ के आधे से अधिक मतदाताओं के अत्यधिक त्रासदीपूर्ण निर्णय को व्यक्त करता है। लेकिन स्वास्तिक चिह्न के अंतर्गत बहुमत को संगठित करने का लक्ष्य अभी थोड़ा दूर ही था। पर ये काम भी कब हुआ? वर्तमान में कोई तत्कालीन ओपिनियन पोल या चुनावी आंकड़ा इस बारे में रोशनी डालने के लिए उपलब्ध नहीं है। यह मान लेना उचित न होगा कि जर्मन राइख़ द्वारा लीग आफ नेशंस से ख़ुद को अलग करने जैसी भड़काऊ कार्रवाई के मौके पर नवंबर 1933 को डाले गए मत फ़ासीवादी राज की औपचारिक घोषणा थे। वर्तमान विश्लेषकों के लिए यह समझना भी कठिन ही है कि तत्कालीन शासन-सत्ता के प्रति जनता का दृष्टिकोण क्या था। इस बारे में विभिन्न प्रकार के कयास लगाए जा सकते हैं। फ़ासीवाद का विरोध करने वाली शक्तियों के मन में आशा थी कि फ़ासीवादी शासन के अनुयायी जल्द ही पस्त पड़ जाएंगे और आम जनता से उनका अलगाव आरंभ हो जाएगा।

ऐसे में इतिहासकार किन विषयों पर अपना ध्यान केंद्रित कर सकते हैं! उन परिवर्तनशील स्थितियों व राजनीतिक वातवरण को समझना भी विश्लेषण का प्रधान विषय हो सकता है जिसमें नाजी नेता आसानी से लोगों को बहलाने-फुसलाने में कामयाब होने लगे थे। उनके द्वारा अपने समर्थकों की संख्या बढ़ाने के लिए नए तौरतरीकों का इस्तेमाल भी अध्ययन का विषय हो सकता है। यह भी स्पष्ट है कि हालांकि इसे पूरी तरह दर्ज नहीं किया गया है कि नाजियों द्वारा जनता का भारी समर्थन जुटाना केवल उनकी अपनी मेहनत तथा गतिविधियों का परिणाम नहीं था। नई सरकार द्वारा जनता के एक हिस्से के लिए पैदा की गई नई आर्थिक व अन्य जीवनगत स्थितियों का भी संदर्भ लिया जा सकता है लेकिन उनके प्रभावों का आकलन करना मुश्किल है। संक्षेप में कहें तो, इतिहासकार केवल उन कारणों का अध्ययन कर सकते हैं जिन्होंने शासन के सुदृढ़ीकरण की प्रक्रिया को तेज़ किया और शासकों को राष्ट्र की घरेलू राजनीति में अपनी शक्ति व प्रभाव का विस्तार करने में मदद प्रदान की। इस तरह विकास की प्रवृत्तियों तथा इसके कारणों को पहचान सकना संभव बना सकते हैं।

30 जनवरी 1933 से काफी पहले से ही फ़ासीवादी नेता बार-बार जर्मन लोगों को एक करने, वर्ग तथा सामाजिक स्तरों के तथाकथित रूप से पैदा कृत्रिम ध्रुवीकरण को समाप्त करने और एक 'नेशनल सोशलिस्ट पापुलर कम्युनिटी' को निर्मित करने के अपने इरादों की घोषणा कर रहे थे। हिटलर तथा नाजी दल के अन्य नेता औद्योगिक तथा भूस्वामी वर्ग से मिलने पर वर्ग-संघर्ष व सर्वहारा आंदोलन की राजनीति को कुचल डालने की ज़रूरत के बारे में बताते थे। वे जिस समुदाय तथा व्यवस्था का प्रस्ताव रखते थे, वह भी अपने में अंतिम न होता था। एक ओर इसका उद्देश्य पूंजीवादी शासन की परिस्थितियों को और बेहतर बनाना होता था तो दूसरी ओर विश्व वर्चस्व के लिए युद्ध की तैयारियां करना होता था ताकि पहले विश्वयुद्ध के 9 नवंबर 1918 से जुड़ी बुरी स्मृतियों को हमेशा के लिए ख़त्म किया जा सके। इसका मतलब था कि फ़ासीवादी शासन के अंतर्गत जनता को तब तक त्याग व कुर्बानी के लिए तैयार रहना था जब तक कि भावी युद्ध में जर्मनी की विजय न हो जाए। फ़ासिस्टों का मानना था कि (श्रमिक आंदोलन के अन्य कट्टर शत्रु भी ऐसा मानते थे) लोकप्रिय समुदाय (popular community) के गठन में सबसे ज़्यादा सर्वहारा वर्ग से जुड़े राजनीतिक दल तथा ट्रेड यूनियनें बाधक हैं। जर्मन फ़ासीवाद लोकतंत्र तथा उदारवाद का भी कट्टर विरोधी था और इतिहास की घड़ी को 1917 के पहले ही नहीं बल्कि 1789 के पहले के समय में ले जाना चाहता था। ऐसे जनविरोधी लक्ष्यों को केवल आतंक व दमन से

हासिल किया जा सकता था क्योंकि सर्वहारा वर्ग का आंदोलन स्वतः ही समाप्त नहीं हो सकता था और लोकतांत्रिकों-उदारवादियों में भी ऐसे समूह थे जो नाजियों के विरुद्ध सक्रिय होने के किसी भी अवसर का प्रयोग कर सकते थे जबतक कि उन्हें इस विकल्प से वंचित न कर दिया जाए। फ़ासीवादी नेताओं ने आतंक-हिंसा का सहारा लेने के बारे में कभी संकोच या खेद का भाव नहीं जताया। सत्ता में आने से पहले भी वह यही घोषणा करते थे कि उनके राजनीतिक विरोधियों के लिए यातना गृह (concentration camp) ही उनके अंतिम स्थल हो सकते हैं।

फ़ासिस्ट तानाशाही को सुदृढ़ करने का प्रथम चरण, जोकि जनवरी के अंतिम दिनों से लेकर जुलाई 1933 तक चला, वह नाजी नेतृत्व द्वारा आतंकवाद व क्रूरता के बल पर जनमत को अपने पक्ष में करने का था। उन्होंने विरोध करने वाली हर ताकत को बुरी तरह से दंडित किया। उन महीनों में जर्मनी में राजनीतिक दृश्य बदल गया और वह बदलाव लोगों की कल्पना से भी परे था। नाजी दलों के अतिरिक्त अन्य सभी पार्टियां अवैध घोषित कर दी गईं। ट्रेड यूनियनों को ध्वस्त कर दिया गया। ढेर सारे राजनीतिक संगठन, संस्थाएं व समूह एकदम से गायब हो गए। कुछ को नाजियों के अर्द्धसैनिक बलों की बर्बर हिंसा से नष्ट कर दिया गया जबकि बाकी संस्थाओं ने स्वेच्छा से स्वयं को भंग घोषित कर दिया। सभी मामलों में शक्ति प्रयोग, हिंसा की धमकी और दमन के भय ने फ़ासिस्ट शासकों के लिए अनुकूल स्थितियां उपलब्ध करा दीं, ख़ासतौर पर प्रभावी कानूनी प्रतिरोध की संभावना का अंत कर दिया। विपक्ष को भूमिगत होना पड़ा और इस प्रकार उनके सामाजिक प्रभाव को शुरू से ही काफी कम कर दिया गया।

फ़ासीवाद ने पहले चरण में ही स्वयं को आतंक फैलाने वाली गतिविधियों से काफी मजबूत कर लिया। राजनीतिक विरोधियों की खुलेआम हत्याएं कर दी गईं। हिटलर का विरोध करने वाले साम्यवादियों, सोशल डेमोक्रेट्स और अन्य विरोधियों को 'ब्राउन हाउसेज' तथा फ़ासीवादी पुलिस केंद्रों में बुरी तरह से यातना दी जाती और फिर अन्य लोगों को डराने के लिए यातना के शिकार लोगों को उनके घरों, फैक्ट्रियों तथा रोजगार केंद्रों में भेज दिया जाता था। शुरू में ज़्यादातर मामलों में यातना गृह शहरों के निकट और औद्योगिक स्थलों के नजदीक बनाए जाते थे ताकि आसपास के सारे लोगों तक इस बर्बरता के समाचार पहुंच सकें। बाद में सुदूर केंद्रों में भी यातना गृह स्थापित हुए जो अपने वीभत्स कृत्यों के कारण काफी बदनाम थे। आरंभ में साम्यवादियों को अदालत द्वारा भी मृत्यु दंड दिया गया।

संक्षेप में कहें तो आरंभ से ही हिंसा व आतंक के चरम-अतिवादी प्रदर्शन के बल पर ही फ़ासिस्ट शासन-सत्ता को संभव बनाया गया। इसने फ़ासीवाद से जुड़ी अन्य सभी चीज़ों के लिए पूर्व स्थिति तैयार करने और मुख्य आधार का काम किया। जनता को तीन तरह से कुचलने की कोशिश की गई : 1. भावोन्मादी राजनीति से; 2. बर्बर आतंक से; 3. घरेलू-विदेशी मामलों में सफलता मिलने पर किए गए भ्रष्टाचार से। फ़ासिस्ट सत्ता ने युद्ध पूर्व अपनी विदेश नीति से मिली सफलता को भी जनता में खूब भुनाया पर कुल मिलाकर बर्बर आतंक ही उसका असली हथियार था। इस भीषण हिंसा, जिसमें हत्याएं भी शामिल थीं, का सीधा परिणाम यह हुआ कि फ़ासीवाद के विरोधी 1933 के पहले महीने से ही भारी दबाव में आ गए और हिटलर के विरोधियों द्वारा सत्ता का सामना करने की तैयारियों पर गहरा प्रभाव पड़ा। जर्मन कम्युनिस्ट पार्टी विशेष तौर पर, तथा हिटलर के अन्य विरोधी भी असंवैधानिक लड़ाई के लिए कमर कसने लगे हालांकि वे जानते थे कि उन्हें यातना गृह या मौत के तख्त पर ही पहुंचा दिया

जाएगा। जबकि अन्य लोग फ़ासीवाद विरोधी तो बने रहे लेकिन उन्होंने किसी गतिविधि में हिस्सा न लिया।

आतंक ने केवल विरोधियों के मन में डर ही नहीं पैदा किया। इसने ख़ास तरह के प्रोपगंडा को भी फैलाया। कुछ लोग, ख़ासतौर पर सामाजिक रूप से कमज़ोर मध्यवर्ग के लोग अतिवादी हिंसा के प्रयोग के खिलाफ थे जबकि अन्य लोगों को लगता था कि भयंकर आतंक फ़ासिस्ट सत्ता के टिकाऊपन का सूचक है और इसलिए उन्होंने शासन की मांगों के आगे समर्पण कर दिया। इस प्रकार हिंसा का प्रदर्शन अपने में छद्म व धोखाधड़ी की राजनीति को बल प्रदान करने वाला साबित हुआ। इसकी कुछ पूर्वस्थितियां पहले ही स्थापित हो चुकी थीं। जर्मन जनता का एक हिस्सा शक्ति प्रयोग की सराहना करने लगा था और उसके महत्व को बढ़ा-चढ़ाकर देखने लगा था। फ़ासिस्ट शासन-सत्ता में आतंक-प्रदर्शन को इस बात के प्रमाण के तौर पर देखा जाने लगा था कि अब जर्मनी को मजबूत इच्छा शक्ति वाला नेतृत्व मिल गया है जो सही कानून-व्यवस्था की स्थापना कर सकेगा। इन्हीं प्रवृत्तियों के संदर्भ में हम देख सकते हैं कि आतंक और भावोन्मादी राजनीति में गहरा-नजदीकी संबंध था। फ़ासीवादी शासन के द्वारा फैलाए भावोन्माद के प्रभाव की जांच के लिए यह भी आवश्यक है कि उस जनमानस की दशा को भी सावधानी से परखा जाए जिसको फुसलाने के लिए नाजी नेताओं ने बड़े-बड़े वादे किए। जिन चीज़ों का वादा किया गया था, वे फ़ासिस्ट नेताओं के लिए समर्थन नहीं जुटा सके थे। जिन दिनों वैश्विक स्तर पर आर्थिक संकट चल रहा था, उन्हीं दिनों नेशनलिस्ट सोशलिस्ट जर्मन वर्कर पार्टी (NSDAP) के नेता और स्वयं हिटलर उन तरीकों पर विचार कर रहे थे जिनसे फ़ासीवादी उद्देश्यों के लिए जनता के दुःख-त्रास का शोषण किया जा सके। वे काफी पहले ही समझ गए थे कि जनता में निराशा फैलने के साथ केवल मध्यवर्ग नहीं बल्कि सर्वहारा के भी सीमांत समूहों को प्रभाव में लेना आसान हो जाएगा, बशर्ते उन्हें यह अहसास दिला दिया जाए कि इस असहनीय स्थिति को ठोस तरीके से बदला जा सकता है। सर्वहारा के इस वर्ग में शिक्षा का स्तर बड़ा नीचा था और इस कारण अति सामान्यीकरण और उथलेपन पर आधारित इस विचार को फैलाना आसान था कि हिटलर ही जर्मनी का सबसे बड़ा रक्षक है और वह जर्मनी को आर्थिक और राजनीतिक निराशा के गर्त से बाहर निकाल लाएगा।

30 जनवरी 1933 को नेशनलिस्ट सोशलिस्ट जर्मन वर्कर पार्टी को कई समस्याओं का भी सामना करना पड़ा जो कि उन्हीं के द्वारा पैदा की गई थीं। इनमें सबसे बड़ी समस्या थी उन बड़ी अपेक्षाओं को पूरा करना जो अनुयायियों के दिलों में जगाई गईं थीं। चूंकि वे इन अपेक्षाओं को पूरा नहीं कर सकते थे, इसलिए उन्हें यह कहकर शांत करना पड़ा कि बुनियादी बदलाव आने ही वाले हैं और उन बदलावों के लक्षण दिखने लगे हैं। सत्ता में आने पर, जबकि घड़ी में समय तेज़ी से भाग रहा था, फ़ासिस्ट नीतियों का दोहरा एजेंडा था। उन्हें एक ओर मौजूदा समर्थकों के जोश को बनाए रखना था, साथ ही नए समर्थक भी जुटाने थे। सच यह भी है कि सत्ता में आने के कुछ ही समय बाद कई समर्थक नाजी दलों से किनारा करने लगे थे। लेकिन लाखों अन्य लोगों ने नाजियों का साथ देना शुरू कर दिया था और कुछ पुराने लोग फिर जुड़ने लगे थे। मार्च के चुनाव से पहले हिटलर ने कहा था कि मुझे चार साल का वक़्त दीजिए ताकि 'मजदूरों के बचाव' और 'किसानों के बचाव' के बारे में योजनाओं को पूरा किया जा सके। इन बातों का मकसद जर्मन जनता की ऊंची अपेक्षाओं को शांत तथा नियंत्रित करना भी था। हिटलर के समर्थक तेज़ी से सामाजिक निर्णय लेने के लिए दबाव डाल सकते थे। इसलिए फ़ासिस्ट नेतृत्व ने तुरंत

ही यह ऐलान कर दिया कि उसका पहला काम अर्थव्यवस्था को दुरुस्त करना नहीं बल्कि नीतियों को ठीक करना होगा। यह 1932 में किए वादों से पूरी तरह भिन्न बात थी। इससे हताशा भी पैदा हुई क्योंकि आम नाजीवादियों को लगने लगा कि उनके नेता तेज़ी से अपने ही स्वार्थ पूरे करने में लग गए हैं। सामाजिक भावोन्माद पैदा करने का काम छोड़ा नहीं गया था लेकिन एक नई समयसीमा को गढ़ा गया। उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया कि सबसे पहले तो उन्हें व्यवस्था मूलकता (system period) से जुड़ी ख़तरनाक मार्क्सवादी परंपरा को मिटाना है और वे इसे वाइमार गणतंत्र (Weimer Republic) कह कर इसका उपहास उड़ाते थे। इसे मार्क्सवादी नीतियों से जुड़ी विरासत बताया जाता था हालांकि संकटकाल में ब्रूनिंग और फ़ॉन पापेन खुलकर पूंजीवादियों के स्वार्थों की पूर्ति करते थे। नए शासक भी इस बात को समझते थे कि फ़ासिस्ट सरकार को मजबूत करने का काम केवल दमन-आतंक या लच्छेदार भावुक अपीलों से नहीं हो सकता बल्कि जल्द ही कुछ काम करके भी दिखाना पड़ेगा। सर्वप्रथम तो बेरोजगारी घटाने के बारे में निर्णायक नीति ज़रूरी थी जो लाखों लोगों को पार्टी के प्रति वफादार बनाए रख सकती थी। यह मजदूर वर्ग की जीवन दशा में सुधार ला सकती थी और मध्यवर्ग की स्थितियों को थोड़ा बेहतर बना सकती थी।

वस्तुतः नए रोजगार पैदा करना 1933 के जमाने से ही नाजियों का सबसे बड़ा प्रचार अभियान था। नाजी नेताओं ने यह प्रचार किया कि बेरोजगारी मिटाना उनकी प्राथमिकता है और उन्होंने लोगों को यह विश्वास दिलाया कि यह उन्हीं के लिए है। सच यह है कि जनता की आर्थिक दशा सुधारना हिटलर, जोसेफ गोयबल्स और राबर्ट ले के लिए कभी ख़ास महत्वपूर्ण न था और अन्य नेताओं की तुलना में उन्होंने जनता से जुड़ाव का ज़्यादा सफलता के साथ दिखावा किया। युद्ध के लिए वे जल्द ख़ुद को तैयार करना चाहते थे और इसीलिए उन्होंने रोजगार पैदा करने के नाम पर हथियार निर्माण के काम को आगे बढ़ाया। लेकिन हथियार उद्योग के माध्यम से रोजगार पैदा करने का काम काफी खर्चीला काम भी था और सरकार के पास इसे रियायत देने के लिए ज़्यादा धन न था। फिर भी, घटती बेरोजगारी के आंकड़ों को सरकार खूब प्रमुखता से प्रस्तुत करती थी क्योंकि वे राजनीतिक लाभ पहुंचाते थे।

1933 की गर्मियों में नाजी विचारधारा के समर्थक अख़बार ग्रामीण क्षेत्रों में पूरी तरह से बेरोजगारी ख़त्म होने के बारे में बढ़ा-चढ़ाकर लिखने लगे थे। तब दूरदराज के कृषिप्रधान इलाकों में तुलनात्मक रूप से कम बेरोजगारी थी और जीवन की नीरसता तथा परिवर्तनहीनता के कारण बडे पैमाने पर लोग प्रवासी हो जाते थे। फ़ासिस्ट सरकार के लिए लाभप्रद बात यह भी थी कि वह तब सत्ता में आई जब अर्थव्यवस्था में धीरे-धीरे सुधार आने लगा था। रोजगार प्रदान करने वाले कदम, ख़ासतौर पर निर्माण व्यवस्था में- जिसकी योजना वाइमार गणतंत्र की पिछली कैबिनेट ने पहले ही तैयार कर ली थी और जिसे अब नवीन नीति के तौर पर प्रस्तुत किया जा रहा था- उसने बेरोजगारी दर को कम कर दिया था। 1933 की शरद ऋतु में तीव्र गति वाले यातायात मार्गों का निर्माण आरंभ कर दिया गया और यह कार्य फ़ासिस्टों के तकनीकवादी विचार का सूचक था और इसके जरिए हिटलर को जर्मन राजनेताओं के बीच नए विचार वाले नेता के रूप में प्रस्तुत किया गया।

इस तथ्य की रोशनी में कि 1933 के अंत में बेरोजगारी दर तेज़ी से बढ़ी और जल्द ही 40 लाख के आंकड़े को पार कर गई, फ़ासिस्ट सत्ता का पूर्ण रोजगार का दावा काफी नुकसानदेह साबित हो सकता था। इस विचार का भी खूब लाभ उठाया गया कि 'नया जर्मनी' ऐसा समुदाय है जिसमें हर व्यक्ति अपने

बीच के सबसे विपन्न जन की मदद करता है। राष्ट्रीय समाजवादी जन समुदाय (National Socialist Community People) इस अवस्था में किसी को उसके भाग्य के भरोसे नहीं छोड़ेगा। 1933-34 की सर्दियों में सहायता अभियान में गोयबल्स ने लोगों का खूब ध्यान खींचा और बेरोजगारी से संघर्ष की तुलना में ज़्यादा सफल रहा। लोगों से धन और आवश्यक वस्तुओं के संग्रहण के लिए सहायता मांगी गई ताकि समाज के वृद्ध और बीमार लोगों को विशेष तौर पर मदद पहुंचाई जा सके और यह राहत कार्य नाजियों के प्रचार में काफी मददगार साबित हुआ।

इन दोनों अभियानों की तुलना में अन्य प्रचार अभियान कम उपयोगी साबित हुए। जैसे कि 1933 के शरदकाल में ही 'विगर थ्रू ज्वाय' (Vigour Through Joy) नामक संगठन ने अभियान चलाया जिसका उद्देश्य मजदूरों के सामने आनंद-मनोरंजन व अवकाश का प्रदर्शन करना था। आरंभिक चरण में नाजी अनुयायियों को अवकाश देकर भ्रमण पर भेजा गया और यह एक प्रकार से आरंभ के दिनों में दिए उनके योगदान का पुरस्कार था। फ़ासिस्ट नेताओं ने प्रथम विश्वयुद्ध में अपंग लोगों के प्रति ख़ास सरोकार व्यक्त किया और दावा किया कि उन्हें ओटो डिक्स और जार्ज ग्रॉस जैसे चित्रकारों द्वारा बदनाम किया गया है जोकि अपनी कलाओं में युद्ध का लाभ उठाने वाले नहीं बल्कि उसके शिकार लोगों को दोषी ठहराते हैं।

नाजी भावोन्माद का सार उन आर्थिक और सामाजिक उपायों का प्रदर्शन करना भी था जोकि संतुष्ट लोगों से भरे जर्मनी को फिर से गतिशील मुल्क में बदल दे। इस कारण से फ़ासिस्टों को तेज़ी से अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने में मदद मिली। उस दौरान युद्ध के बारे में बातें नहीं की गईं। सरकार में शामिल किसी भी नेता ने युद्ध छेड़ने के विचार को नहीं उछाला। नाजी प्रचारतंत्र ने ख़ुद भी गोएठे के उस चित्र का प्रयोग किया जिसमें लोग उस फाउस्ट की तरह प्रतीत हो रहे हैं जो मरुस्थल को लोगों के लिए सुगम बना रहा है। यह एक चालाकी थी ताकि युद्ध छेड़कर वार्साय संधि का प्रतिशोध लेने तथा कुछ नए इलाकों में वर्चस्व बनाने के साथ-साथ 1914 के जर्मन साम्राज्यवाद के विजय स्वप्न को पूरा करने की योजनाओं की ओर से लोगों का ध्यान हटाया जा सके। वास्तव में ये सारी गतिविधियां नाजियों की मनाही के बावजूद तेज़ी से आगे बढ़ाई गईं।

इसी तरह शांति संबंधी भावप्रधान लफ्फाजी (peace demagoguery) ने भी फ़ासीवादी शासन के लिए मजबूत आधार उपलब्ध कराया। 1933-34 के दौरान शांति संबंधी राजनीतिक दावों के आधार पर लोगों को धोखे में रखना ज़्यादा आसान था क्योंकि हथियार एकत्र करने और जर्मन सैन्यबलों की ताकत बढ़ाने के काम आम जनता की निगाहों से बचे हुए थे। जो लोग सरकार द्वारा किए जा रहे इन प्रयासों को समझते थे और लोगों को जागरूक बना सकते थे, उनके प्रभाव को पहले ही काफी सीमित कर दिया गया था। इसलिए नाजियों के लिए 'लीग आफ नेशंस' से जर्मनी को अलग करना राष्ट्रीय आत्मसम्मान के रूप में पेश करना आसान था जबकि वास्तव में यह निर्बाध शस्त्रीकरण की दिशा में उठाया गया कदम था।

फ़ासिस्ट शासकों के शांति प्रेम के छद्म पर देश के सामान्य जन विश्वास नहीं करते अगर फ़ासिस्ट नेता वास्तविक फैसलों से ध्यान हटाकर केवल भावोन्मादी लफ्फाजी को ही प्रमुखता से प्रस्तुत न करते। उस समय तक जर्मनी का कूटनीतिक अलगाव पूरा नहीं हुआ था, हालांकि कुछ पूंजीवादी सरकारें नाजियों से परहेज करने लगी थीं, ख़ासतौर पर इस वजह से भी क्योंकि नाजियों का विरोध करने वाले

सर्वहारा-मध्यवर्ग के समूह उनके अपने ही देश में फ़ासिस्टों का संयुक्त विरोध कर रहे थे। यहूदियों का जब प्रथम नरसंहार हुआ तो यह विरोध और मुखर रूप में सामने आया।

फ़ासिस्ट विचारधारा को सफलता इसलिए भी मिली क्योंकि जनता छल-छद्म को स्वीकारने के लिए तैयार थी तथा राष्ट्रीय आदर्शों का आसानी से दोहन किया जा सकता था। नाजी राजनेता अपनी नीतियों का लाभ उठाते थे, साथ ही अन्य बुर्जुआ दलों के निकम्मेपन व राजनीति का भी भरपूर उपयोग करते थे। राष्ट्रीय समाजवाद शब्द के प्रयोग से भी उन्हें उतना लाभ नहीं मिलता था जितना इन चीज़ों से। हर तरह के राजनीतिज्ञ, चाहे वे मध्यमार्गी हों अथवा वामपंथी, **वार्सा** की संधि से जुड़े अपमान, बंधन व तिरस्कार का जोरदार प्रतिरोध पिछले डेढ़ दशक से कर रहे थे। जर्मनी के भीषण अपमान तथा उसकी दासता पर अंतहीन बहसें होती रहती थीं। लेकिन इन भावनाओं ने इस तथ्य की ओर से लोगों का ध्यान हटा दिया था कि प्रथम विश्वयुद्ध के पीछे जर्मन साम्राज्यवाद ही प्रमुख कारण था तथा उसने 1919 की संधि की पूर्ण समीक्षा करने और उसका प्रतिशोध लेने के संकल्प को जीवित रखा और जर्मन जनता इन बातों को काफी पसंद भी करती थी।

जब नाजी सत्ता में आए, वे जानते थे कि किस प्रकार नए व पुराने समर्थकों में राष्ट्रीय जोश को पैदा किया जाए। फिर भी उन्होंने 1933-34 में राष्ट्रीय भावोन्माद को ज़्यादा हवा नहीं दी क्योंकि उनके सामने अगले कुछ साल तक विदेश नीति के स्तर पर कुछ संयम से काम लेने की मजबूरी थी। जर्मन जागरण के नारे का बार-बार प्रयोग किया गया और इससे पता चलता था कि जनता को किस प्रकार एकजुट व गोलबंद किया जा सकता है। सभी आम जर्मन जनों ने अपने स्कूलों में सोते हुए विराट पुरुषों तथा योद्धाओं की तस्वीरें देखी थीं जिन्होंने जगने पर महान कार्य पूरे किए। सम्राट फ्रेडरिख प्रथम बरबरोजा की वीरगाथाओं से परिचित थे जो एक दिन पर्वतों में लुप्त हो गया और बाद में अपने देश की महानता को पुनर्जीवित करने के लिए अकस्मात एक दिन लौट आया। हिटलर को हालांकि होहेनस्टउफेन वंश का पुनर्जीवित सदस्य नहीं माना जाता था लेकिन मध्यवर्ग तथा निम्नवर्गीय बुर्जुआ समूह भावना के स्तर पर मुक्तिदाता की खोज में था, साथ ही नई चमकदार विजय व गौरवपूर्ण भविष्य की इच्छा को भी पाल रहा था।

फ़ासिस्ट बार-बार यही बात दोहराते थे कि उनका मकसद केवल जर्मनी तथा जर्मन नागरिकों का कल्याण करना है। बड़े सरल लेकिन प्रभावशाली शब्दों में परस्पर सहयोग व समझौते को जर्मनों का मूल चरित्र बताया जाता था जिसे उनके शत्रुओं ख़ासतौर पर उन यहूदियों द्वारा नष्ट कर दिया गया जो विश्व पर आधिपत्य जमाना चाहते हैं। जर्मन नागरिक इन्हीं यहूदियों द्वारा भ्रष्ट भी कर दिए गए। यह प्रचार भी किया गया कि सामाजिक वर्गों तथा वर्ग संघर्ष के अस्तित्व के बारे में जागरूकता वही लोग फैला रहे हैं जो जनता के शत्रु हैं। यह आरोप भी लगाया गया कि ऐसे जन-शत्रुओं का सफ़ाया, दमन और उन्हें शिक्षित कर सही रास्ते पर लाना जर्मनों की एकता के लिए आवश्यक है और उनके मध्य केवल इसी प्रकार से आपसी विवादों को समाप्त किया जा सकता है। फ़ासीवाद की विचारधारा का यह आंतरिक मकसद पूर्णतया स्पष्ट था। इसमें विरोधियों को दंडित करना सरल था और सर्वहारा आंदोलन को ख़ासतौर पर आतंकित किया जा सकता था। इसमें मार्क्सवाद को विश्व मानचित्र से मिटाने का अभियान भी शामिल था। जर्मनी में एक नए राष्ट्रीय समुदाय के निर्माण के लिए, जिसे लोगों का राष्ट्रीय समाजवादी समुदाय भी कहा गया, फ़ासीवाद विरोधियों को कारावास में भेजने या उनके पूर्ण दमन या निर्वासन को

अनिवार्य बताया गया। बदले में लोगों के इस 'राष्ट्रीय समाजवादी समुदाय' को नए जर्मनी के उभार की गारंटी के रूप में प्रस्तुत किया गया। वर्ष 1933 के आरंभ से ही फ़ासीवादियों की प्रतिक्रांति को 'नेशनल अपराइजिंग', 'थर्ड राइख़' और 'मिलेनियम' जैसे शब्दों के प्रयोग से राष्ट्रीय एवं वैश्विक महत्व की घटना की तरह प्रस्तुत किया जाने लगा था।

पूरे देश में फ़ासीवादी विचारों की आंधी चल रही थी जिसका मकसद प्रतिक्रियावादी तथा राष्ट्रवादी विचारों का प्रसार करना था और बाद में उसे युद्धोन्माद में बदलना था। इसी ने बाद में सामाजिक स्तर पर निर्णायक कार्य करने जैसे विचारों के साथ गठबंधन कायम कर लिया। यहूदियों का संहार इसकी चरम अभिव्यक्ति के रूप में सामने आया। यह निर्लज्ज नीति केवल 'आर्य' जर्मनों को ही फ़ासीवादी सिद्धांतों तथा दुस्साहसी साम्राज्यवादी उद्देश्यों से नहीं जोड़ती थी। आरंभिक दौर के यहूदी विरोध का संबंध नाजियों के अंतरराष्ट्रीय समुदाय को भी एक छतरी के नीचे लाना था। बहुत सारे नए नारों का आख़िर क्या मकसद था? जैसे कि जर्मन केवल जर्मनों से खरीदारी करें...जर्मनों, केवल जर्मनों को ही अपने बारे में न्याय करने दो...जर्मनों, केवल जर्मन लोगों से ही स्वयं को शिक्षित होने दो...जर्मनों, केवल जर्मन व्यक्ति से ही अपना इलाज कराओ...इसी तरह ढेर सारे नारे। ये सभी नारे , स्पष्टतया यहूदी विरोधी भावनाओं से भरे थे और लोगों का ध्यान वास्तविक राष्ट्रीय समस्याओं से हटाते थे। इन नारों का प्रयोग करने का प्रयास किया गया ताकि सामाजिक समस्याओं के वास्तविक कारणों पर आवरण डाला जा सके और निर्दोष लोगों को दोषी सिद्ध किया जा सके। जर्मन यहूदियों का उत्पीड़न करने से राष्ट्रीय समाजवादी क्रांति पर से ध्यान हटाया जा सकता था और ऐसी भ्रष्ट क्रांति में यह सहायक भी था जिसमें अमानवीय तथा पतित नस्लवाद तथा राष्ट्रवाद के विचारों की उपस्थिति थी। 1933 में यहूदियों व गैर जर्मन नस्लों के खिलाफ चलाया गया घृणित उत्पीड़न अभियान इस बात को नकारता था कि यहूदियों को भी समाज की मुख्यधारा में समाहित किया जा सकता है। इस अभियान ने आर्य घोषित कर दिए गए शुद्ध नस्ल वाले जर्मनों के 99 फीसदी हिस्से को एकजुट करने का काम भी किया। उन्हें शत्रुओं तथा विजातीय समूहों से दूर किया गया और राष्ट्रीय सरकार और अंतिम परिणति में फ़ासिस्ट सत्ता के प्रति वफादार बना दिया गया।

जर्मन यहूदी ही मुख्य रूप से हिटलर के सामी विरोधी (anti-sematic) विचारधारा के शिकार बने लेकिन इसका मकसद गैर यहूदी जर्मनों पर भी अनुशासन का डंडा चलाना था। यह नीति सामाजिक बुर्जुआ समूहों के अलावा भी बड़े पैमाने पर लोगों को प्रभावित कर सकी। फ़ासीवादी अधिनायकवाद की स्थापना के कुछ सप्ताह के भीतर उच्च शिक्षा में यहूदी विरोधी नियम-कानूनों को आसानी से लागू कर दिया गया। यह काम केवल फ़ासिस्टों के द्वारा ही नहीं बल्कि 30 जनवरी 1933 से पहले से चयनित रेक्टर व डीन द्वारा भी किया गया और उन्हें जर्मन विश्वविद्यालयों-कालेजों से यहूदी विचारों के प्रसार को रोकने में पूरा सहयोग भी प्राप्त हुआ। वास्तव में, पारंपरिक पदों पर मौजूद लोगों ने यहूदी मानस व यहूदी संस्कार की खोज से जुड़ी प्रश्नावली का वितरण किया, उन्हें भरवाया और फ़ासिस्ट अधिकारियों तक उन्हें पहुंचाया। प्रोफेसरों का यह वर्ग विद्धान था और यहूदियों के साथ फ़ासिस्ट बर्ताव का विरोधी पर। लेकिन उनके भीतर भी यहूदी विरोधी भाव मौजूद थे और मार्च-अप्रैल 1933 तक आते-आते उन्होंने फ़ासिस्ट सत्ता से सहयोग करना भी आरंभ कर दिया। जर्मन-यहूदी विद्धानों को निलंबित कर दिया गया, पेंशन देकर सेवानिवृत्त कर दिया गया या अध्यापन का काम उनसे छीन लिया गया।

विश्वविद्यालयों व कालेजों में घटित होने वाली ये आरंभिक घटनाएं बाद में कारपोरेशन, बैंक, अस्पतालों के प्रबंधन, थियेटर व आर्केस्ट्रा के क्षेत्रों में होने वाली उथलपुथल की ही सूचक थीं। ये घटनाएं समाज पर फ़ासिस्ट सत्ता की बढ़ती पकड़ को प्रकट करती थीं और प्रशासनिक पदों पर बैठे लोग इसे अंजाम दे रहे थे पर केवल यहीं तक उनका काम सीमित न था। फ़ासिस्ट सत्ता इसलिए भी मजबूत होती जा रही थी क्योंकि नाजी नेतृत्व को बड़ी संख्या में ऐसे वर्ग का भी समर्थन मिल रहा था जो स्वयं फ़ासिस्ट न थे पर उन्हें भ्रम था कि नई सरकार राष्ट्रीय विकास व राष्ट्रीय जागृति की प्रतीक है। फ़ासिस्ट सरकार की कुछ चीज़ों को वे भी पसंद नहीं करते थे पर उनसे यह कहकर समर्थन मांगा गया कि कुछ कठोर निर्णयों से ही लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। जर्मन-यहूदी लोगों को, जो पहले जर्मनी के समान नागरिक थे, उन्हें किसी महानतम लक्ष्य के लिए कुर्बान करना आवश्यक था। उत्पीड़ित यहूदियों के विषाद व दुर्भाग्य को अत्यंत महत्वपूर्ण राष्ट्रीय घटनाओं के समक्ष उपेक्षणीय बताया गया।

फ़ासिस्ट उन्माद ही लोगों की एकजुटता का विचारधारात्मक आधार बना। इसने समर्थकों में जोश का संचार किया और वे समर्थक फ़ासिस्टों के घिनौने कार्यों को भी उचित ठहराते थे, हालांकि उन्हें इसके लिए विवश नहीं किया जाता था और न फ़ासीवाद अभी पूरी तरह से स्थापित हो पाया था। मैं इस सत्य को नहीं नकारता कि कुछ फ़ासीवाद समर्थक इन परिस्थितियों में असहज थे और वे घनघोर मानसिक दबावों को झेल रहे थे। राष्ट्रीय जागरण की तीव्र लहर में न बहने तथा उसके विरोध में स्वयं को खड़ा करने के लिए बहुत अधिक निजी साहस तथा ऊर्जा की आवश्यकता थी। यह क्षमता उन्हीं में दृष्टिगोचर हो सकती थी जो किसी वैकल्पिक विचारधारा तथा राजनीतिक दर्शन के आधार पर फ़ासीवाद का विरोध करने के योग्य थे।

जनता पर फ़ासीवाद का दबाव इसलिए भी बढ़ा क्योंकि गैर नाजी बुर्जुआ दलों और संगठनों का धीरे-धीरे क्षरण आरंभ हो गया। पर ख़ुद को समाप्त घोषित करने से पहले इन संगठनों ने भी हिटलर का समर्थन कर दिया। इन संस्थाओं तथा दलों ने अपने कैडर तथा समर्थकों से 'राष्ट्रीय सरकार' का समर्थन करने का आह्वान भी किया। फ़ासिस्ट शासकों को और भला क्या चाहिए था? वे इस तरह का समर्थन प्राप्त होने से पूर्व भी बुर्जुआ दलों की नीतियों का लाभ उठा चुके थे। कई बुर्जुआ पार्टियां, जो विरोध करने के बावजूद नेशनलिस्ट सोशलिस्ट जर्मन वर्कर पार्टी (NSDAP) के साथ (1933 से पहले भी कुछ राज्यों में) गठबंधन में थीं, वे हिटलर की कैबिनेट के आगे समर्पण मुद्रा में आ चुकी थीं।

इन संगठनों-संस्थाओं की लंबी सूची है जो लोगों से हिटलर के पक्ष में एकजुट हो जाने या कम से कम सरकार की अधीनता स्वीकार कर लेने के लिए अपीलें जारी करती थीं। वे सभी समान रूप से महत्वपूर्ण अथवा प्रभावशाली न थीं। इनमें ईसाई चर्च सबसे ज़्यादा प्रभावशाली था। वे अपने धर्मानुयायियों को फ़ासीवाद के लिए प्रतिबद्ध होने को कहते थे और बाइबल की कहानियों के उदाहरण देते थे। 28 मार्च 1933 तक आते-आते जर्मनी के कैथोलिक चर्च ने वे सारी औपचारिक सांगठनिक बाधाएं भी समाप्त कर दीं जो पादरियों तथा सामान्य-जनों को हिटलर की सरकार से जुड़ने से रोकती थीं। नाजियों का पक्ष लेने पर पहले जो आर्थिक दंड या दूसरी सजाएं प्रदान करने का प्रावधान था, वह भी अप्रभावी हो गया।

फ़ासिस्ट सरकार का समर्थन करने के पीछे बहुत सारे उद्देश्य भी थे। इनमें कुछ बौद्धिक या भौतिक प्रकृति के थे, जबकि अन्य आर्थिक, राजनीतिक या वैयक्तिक प्रकृति के थे। कई लोगों के लिए तो यह

पूरी तरह अवसरवाद था। बदलते वक़्त के साथ फ़ासीवाद के समर्थन के नए उद्देश्य भी सामने आते गए। पूंजीवादी समूहों में, जैसे कि छोटे व्यवसायियों के संगठन में राजनीतिक-आर्थिक हित ही निर्णायक थे। ये संगठन फ़ासिस्ट सरकार का समर्थन करते थे और लोगों से भी कारोबारी हितों के मद्देनज़र ऐसा करने की अपील करते थे। इसी तरह बड़े व शक्तिशाली उद्योगपति अपने विदेशी संबंधों व संपर्कों का प्रयोग कर बिजनेस सहयोगियों को भरोसा दिलाते थे कि हिटलर प्रशासन पूंजीवाद विरोधी नीतियों को नहीं अपनाएगा और न ही पूंजी प्रवाह व विदेशी व्यापार में बाधा डालेगा। कुल मिलाकर कहें तो, साम्यवाद का कट्टर विरोधी वर्ग सत्ता में फ़ासीवाद के आने पर उसके साथ हो गया।

इसमें संदेह नहीं कि इतिहास संबंधी अवधारणाओं का एक मकसद ऐतिहासिक शक्तियों के उद्देश्यों पर प्रकाश डालना भी है लेकिन यह भी स्पष्ट है कि ऐतिहासिक घटनाक्रम केवल उद्देश्यों से नहीं बल्कि राजनीतिक व्यवहार से निर्धारित होता है। कोरे दर्शन की इतिहास में बेहद मामूली भूमिका होती है। वे तभी महत्वपूर्ण होते हैं जब आंदोलन को जन्म देते हैं। जब जर्मनी में फ़ासीवाद का विस्तार हो रहा था, तब कई दिशाओं से उसे समर्थन मिला और विभिन्न दिशाओं से आए समर्थन ने उसके आधार को दृढ़ किया। इस प्रकार के व्यापक समर्थन ने फ़ासीवाद तथा गैर-फ़ासीवादी ताकतों के बीच के संतुलन को फ़ासीवाद के पक्ष में करने का काम किया। फ़ासिस्ट प्रशासन की स्वयं को सुदृढ़ करने की शक्ति ने भावी घटनाचक्र को भी प्रभावित किया। इटली के मुसोलिनी शासन ने जिस काम को करने के लिए कई साल लगाए थे, उसकी तुलना में जर्मनी के फ़ासिस्टों ने कुछ ही हफ्तों में अपने लक्ष्य प्राप्त कर लिए थे। चर्च और राज्य के बीच समझौता कराना इसकी सबसे बड़ी मिसाल था जिसने फ़ासीवादी शासन को सुरक्षित बनाया। 1933-34 के दौरान तेज़ी से फ़ासीवाद के आधार पुख्ता होने तथा जर्मन सरकार द्वारा साढ़े छह साल के भीतर अपने को उस युद्ध के लिए पूरी तरह तैयार कर लेने में भी गहरा संबंध था जिसके लिए वह बेचैन थी। अगर फ़ासीवादियों को आरंभ में ही कड़ी चुनौती का सामना करना पड़ता तो जर्मनी का इतिहास भी कुछ और ही होता। इन तथ्यों के आलोक में कहा जा सकता है कि जर्मनी में फैली अशांति व हिंसा केवल फ़ासीवाद की विजय का परिणाम न थी बल्कि जिस रास्ते पर चलकर फ़ासीवाद विजयी हुआ, उसका भी नतीजा थी।

फ़ासीवाद की जड़ें गहरी होने के समय, नाजीदल की सैन्य टोली (SA) के प्रधान अधिकारी अर्नेस्ट राहम की हत्या के बाद, शासन के पास कुल आबादी के आधे से अधिक लोगों का स्थायी समर्थन था। इनमें अधिकांश मध्यवर्ग के थे, हालांकि सरकार बनाने के बाद पहले साल में फ़ासिस्ट लोगों की उम्मीदों पर खरे नहीं उतरे थे। फ़ासीवादी विचारधारा के प्रसार में लगे लोग भी मानते थे कि उन्हें कुशल-अर्धकुशल मजदूरों का ख़ास समर्थन नहीं हासिल हो सका था। ऐसा समर्थन युद्ध आरंभ होने के दो या तीन साल पहले ही मिलना शुरू हुआ। ये समर्थक भी बाद के समय तक पक्के समर्थक न थे। फ़ासिस्ट सरकार के अच्छे या बुरे निर्णयों के आधार पर विभिन्न सामाजिक समूह अपने समर्थन के लिए कोई राय तय करते थे।

इसलिए हिटलर को पूरी तरह से प्रश्न व संदेहों से मुक्त अनुयायी भी नहीं मिले। 1935 के उत्तरार्ध में उपभोक्ता वस्तुओं में भारी कमी के कारण लोगों के जीवनस्तर में जिस तरह से गिरावट आई, उसी प्रकार मई व सितंबर 1938 में विदेश नीति संबंधी निर्णयों के कारण युद्ध के हालात पैदा हुए। दोनों ही मामलों में लोगों ने बड़ी संवेदनशीलता के साथ अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। इसलिए यह कहना गलत

होगा कि लोग फ़ासीवाद का अंध समर्थन कर रहे थे, यद्यपि जनता का एक वर्ग ऐसा ज़रूर था जो फ़ासीवाद का कट्टर भक्त था। लेकिन फ़ासीवादी नेताओं के प्रति जनसमर्थन में अस्थायी गिरावट कभी उस सीमा तक नहीं पहुंची कि उन नेताओं को अपनी नीतियां बदलने के लिए मजबूर होना पड़ता या अपने साम्राज्यवादी उद्देश्यों की प्राप्ति संबंधी प्रयासों की गति को धीमा करना पड़ता।

घटनाक्रम यह भी दर्शाता है कि अपनी सारी त्याग भावना तथा गतिविधियों के बावजूद फ़ासीवाद विरोधी सत्ता में बैठे फ़ासिस्ट समूहों के आगे सफल चुनौती नहीं प्रस्तुत कर सके। जब जनसंख्या के एक बड़े हिस्से में फ़ासिस्टों की लोकप्रियता घट रही थी तो भी फ़ासीवाद विरोधी शक्तियों को ख़ास सफलता नहीं मिल सकी। 1933-34 में जर्मनी में राजनीतिक पुलिस की गतिविधियां तेज़ होने लगीं। खुफिया राज्य पुलिस (गेस्टापो) सक्रिय हो चुकी थी जो फ़ासिस्ट सरकार के संगठित विरोधियों तथा आम असंतुष्ट जनता के बीच संपर्क को संभव नहीं होने देती थी। विरोधियों की क्रूरतापूर्ण हत्या करके अन्य लोगों को भयभीत करने, अनुशासित करने व हतोत्साहित करने का काम किया जाता था।

30 जनवरी से लेकर 30 जून 1933 के मध्य जबकि फ़ासीवाद ने राज्य पर कब्जा कर स्थायित्व प्राप्त कर लिया था, कई ऐसे निर्णय लिए गए जिनका जर्मन व यूरोप के इतिहास पर बड़ा बुरा प्रभाव पड़ा। फ़ासीवादी शासन के शुरुआती दौर की गतिविधियों को देखने पर गोएठे की चेतावनी याद आती है, 'आरंभ से ही अक्ल से काम लेना चाहिए।' बर्बरता तथा मानवतावाद के संघर्ष में एक बार बाजी अगर मानवतावादियों के हाथ से निकल जाती है, इतिहास को मानवीय हितों के पक्ष में संचालित करने का अवसर खो दिया जाता है तो ध्वंसकारी ताकतें लंबे समय तक समाज को अपने अंकुश मे ले लेती हैं। इस समय जबकि यह सदी ख़त्म होने वाली है, इतिहासकार उन 12 सालों के फ़ासीवादी दौर पर ज़्यादा विचार करेंगे जो कालावधि में भले ही शताब्दी का छोटा सा अंश हो पर उसने पूरी सदी को गहराई से प्रभावित किया। इस विषय में उत्पन्न प्रश्नों व चेतावनियों पर विचार करने की ज़्यादा वैश्विक आवश्यकता है। किसी ज़्यादा स्वागतयोग्य घटना या ऐतिहासिक प्रक्रिया के लोभ में उन्हें अनदेखा या अनसुना कर देना विवेकसंगत नहीं कहलाएगा।

(1989)

(अनुवाद : वैभव सिंह)
मो. : 08711312374

गुजरात विकास की यथार्थ गाथा

कृष्ण मुरारी

गुजरात विकास के जिस मॉडल की चर्चा हो रही है वह न तो अतुलनीय है और न ही अद्वितीय। गुजरात में भी सारे देश की ही तरह तथाकथित 'आर्थिक सुधार' तथा वैश्वीकरण की 1990-91 से चालू नीतियां लागू हैं। हां इन नीतियों से उद्योगपतियों, बड़े व्यापारियों, बड़े भू-स्वामियों और संगठित क्षेत्र की ताकतों की आर्थिक-सामाजिक ताकत बढ़ी है। गुजरात की 1990 के पहले से ही उद्योगों के मामलों में विशिष्टता की एक पुरानी कहानी है। अतः कुछ ख़ास पूर्वनिर्धारित मकसद से चुने गए आंकड़ों में गुजरात का प्रदर्शन किसी सफलता या कुशलता का संकेत नहीं, आंकड़ों और प्रचार का कमाल है। अन्य कई राज्यों की हालत इसी तरह के चुनिंदा पैमाने पर ज़्यादा प्रशंसनीय मानी जा सकती है।

गुजरात में सकल उत्पाद की वृद्धि दर अपेक्षाकृत ऊंची रही है। ठीक उसी तरह जैसे सारे देश की राष्ट्रीय उत्पाद वृद्धि दर ग्यारहवीं योजना के दौरान और विश्व के अधिकांश देशों से ऊंची रही। आज कुछ घिसे-पिटे विचार वाले और पूंजीपतियों के चाटुकारों के अलावा कोई भी स्वतंत्र चिंतक, समाज के प्रति समर्पित विचारक बिना अन्य मुद्दों की जांच के जीडीपी जैसे एकांगी, भ्रामक और पक्षपाती आंकड़ों के आधार पर किसी को भी सद्विकास और सक्षम विकास समावेशी का तमगा नहीं दे सकता है।

पिछले तीन दशकों में, प्रति व्यक्ति आय के विकास के संदर्भ में, गुजरात तीन प्रमुख भारतीय राज्यों में से एक रहा है। 1990 तथा 2000 के दशकों में, सकल राज्य घरेलू उत्पाद (जीएसडीपी) के संदर्भ में, गुजरात भारतीय राष्ट्रीय दर से आगे रहा है। स्पष्ट है यह भाजपा शासन का नहीं बल्कि गुजरात की विशिष्टताओं का कमाल है। गुजरात में यह विकास कई स्रोतों से आया है, जिसमें कृषि, उत्पाद तथा सेवा क्षेत्र प्रमुख हैं। भारत में विकास का मुख्य स्रोत सेवा क्षेत्र रहा है जबकि गुजरात में उसकी पुरानी औद्योगिक और शहरी क्षेत्र की विरासत के चलते तीनों क्षेत्रों में विशिष्ट संतुलन देखने को मिला है। अतः इसका यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि यह भाजपाई सरकारी नीतियों या किसी एक व्यक्ति की नेतागिरी का परिणाम है। गुजरात का 'विकास' उसके वर्तमान प्रयासों भर का परिणाम नहीं है, बल्कि इसके मुख्य कारणों में इसकी कुछ पुरानी विशिष्टताएं भी एक हैं। यहां के लोगों की कई क्षेत्रों में विशेष योग्यता, यहां के मजबूत कृषक आधार, इसके कारीगर एवं शिल्पकार तथा उनकी वैश्विक पहचान, सामाजिक सुधार तथा सहकारी आंदोलन आदि ने गुजरात के विकास में विशेष योगदान दिया है।[1] परन्तु यह प्रश्न अभी भी शेष है कि यह दिखाया जा रहा विकास किसका विकास है? इस विकास में पूंजीपतियों तथा कॉरपोरेट घरानों का कितना हिस्सा है? तथा इसमें गरीबों, भूमिहीनों, अल्पसंख्यकों, दलितों-आदिवासियों

का कितना हिस्सा है? यदि इन सभी की गुजरात के इस विकास में समान हिस्सेदारी नहीं है, तो भी क्या गुजरात की आर्थिक वृद्धि जन-विकास की है, सद्विकास की है?

ऊपर उठाए गए प्रश्नों की पड़ताल के लिए वहां किए जा रहे निजी पूंजी निवेश, बुनियादी संरचना विकास, कृषि क्षेत्र में विकास, उत्पादन क्षेत्र में विकास, गरीबी उन्मूलन तथा असमानता में कमी, रोजगार में वृद्धि, स्वास्थ्य तथा शिक्षा के क्षेत्रों में सुधार पर विशेष ध्यान केंद्रित करने की आवश्यकता है।

निजी पूंजी निवेश

भारत द्वारा 1991 में आर्थिक उदारीकरण की नीति अपनाने के परिणामस्वरूप निजी पूंजी निवेश को विशेष प्रोत्साहन मिला। गुजरात में भी निजी पूंजी निवेश को आकर्षित करने के उद्देश्य से उद्योगपतियों के हित में कई नीतियों का निर्माण हुआ। हालांकि, उसके बावजूद अगस्त 1991 से लेकर दिसंबर 2011 तक विभिन्न राज्यों में जितने भी निजी पूंजी निवेश के प्रस्ताव आए हैं उनमें गुजरात, उड़ीसा तथा छत्तीसगढ़ के बाद ही आ पाया है। फिर भी महाराष्ट्र, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु जैसे विकसित राज्यों की तुलना में गुजरात पूंजी निवेश के लिए बेहतर विकल्प के रूप में उभरा है। कई विचारकों ने इस प्रश्न का उत्तर जानना चाहा कि क्या गुजरात में आधारभूत संरचना अन्य औद्योगिक क्षेत्र वाले राज्यों से बेहतर है? उनमें से अधिकांश का उत्तर यही रहा कि नहीं। आधारभूत संरचना तो लगभग समान ही है, परन्तु गुजरात सरकार द्वारा अपनी नई नीतियों को निवेशकर्ता के पक्ष में बेहद झुकाया गया है। यह सरकारी सुविधाओं और प्रोत्साहन में गुजरात में पूंजी निवेश का आधार तैयार कर पाया है।[2] इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता कि पिछले दो दशकों में गुजरात में निवेश हुए हैं, परन्तु क्या ये निवेश गुजरात के सभी क्षेत्रों में समान रूप से वितरित हुए हैं? मजदूरों को इससे क्या लाभ हुआ है? रोजगार में वृद्धि हुई है या नहीं?

विकास तथा निवेश से मजदूर लाभान्वित हैं या नहीं इसका अंदाजा इससे लगाया जा सकता है कि इस दौरान मजदूर वर्ग द्वारा कितना विरोध हुआ और आंदोलन दर्ज किए गए। 2011 की आर्थिक समीक्षा के अनुसार मजदूर आंदोलन के दृष्टिकोण से गुजरात 'बदतर' राज्यों में सर्वोच्च है। गुजरात में पिछले कुछ समय में, सबसे अधिक संख्या में मजदूरों की हड़ताल तथा अन्य माध्यम से किए गए आंदोलन दर्ज किए गए हैं, जिनके पीछे आर्थिक तथा अन्य अनुशासनात्मक मुद्दे प्रधान रहे हैं।[3] आर्थिक समीक्षा के अनुसार जहां एक ओर भारत के अन्य राज्यों में ऐसे आंदोलन कम हुए हैं वहीं गुजरात में बढ़े हैं। इन हड़तालों तथा बंदों के पीछे मजदूरी तथा भत्ता, बोनस, अनुशासनहीनता तथा हिंसा मुख्य कारण थे।[4] पूंजी को इतनी सहूलियतें और प्रोत्साहन मजदूरों के शोषण तथा बढ़ती असमानता के प्रतीक हैं। गुजरात में 'कानून का शासन' 'तानाशाही की राजनीतिक संस्कृति'[5] के रूप में परिणत है जहां 'असमानता की पूजा'[6] की जाती है। निवेशकर्ताओं के पक्ष में सरकार की तानाशाही प्रवृत्ति उन्हें राज्य में निवेश करने को प्रोत्साहित करती है। देखिये बॉक्स नानो और टाटा गुजरात के आदिवासी बहुल क्षेत्रों में निवेश तथा विकास दोनों का ही पहुंचना अभी शेष है। एन.एस.एस.ओ. के नवीनतम आंकड़ों के अनुसार गुजरात में वेतनभोगी लोगों के प्रति दिन आय का औसत 311 रुपए है जो भारत के राष्ट्रीय औसत 411 रुपए से 100 रु. कम है। इसके अलावा औद्योगिक राज्य गुजरात में नैमित्तिक मजदूरों की औसत आय मात्र 115 रु. प्रति दिन है।[7]

आधारभूत संरचना के विकास का विरोधाभास

भारत में राष्ट्रीय स्तर पर पूंजी निवेश सबसे अधिक सेवा क्षेत्र में हुआ है परन्तु गुजरात में आधारभूत संरचना में इसका अधिक आकर्षण रहा है। जिसके परिणामस्वरूप गुजरात में आधरभूत संरचना का तेज़ी से विकास देखा गया। परन्तु आधारभूत संरचना का विकास आम लोगों को ध्यान में रखकर नहीं किया गया। बल्कि इसका मुख्य उद्देश्य निवेश को आकर्षित करना है तथा निवेशकर्ताओं को लाभ पहुंचाना रहा है।

सारणी-1
गुजरात में आधारभूत संरचना के क्षेत्रों में निजी निवेश

क्षेत्र	प्रोजेक्ट की संख्या	निवेश (करोड़ रु. में)
बंदरगाह	42	39147
ऊर्जा	16	31845
सड़क	30	8140
सड़क-बंदरगाह	9	1100
रेल	3	811
जल	4	850
सूचना प्रौद्योगिकी	4	00
वैमानिकी	1	2500
अर्बन-डेवलपमेंट	7	1017
यू.एल.बी. अर्बन	11	717
अन्य	8	1380
कुल	**135**	**99987**

स्रोत : Pankaj Vashisht and Gaurav Arya, 'Public-Private Partnership : Insights from Imfrastructure Development', in Atul Sood (ed.) Poverty Amidst Prosperity : Essays on the Trajectory of Development in Gujarat, Delhi: Aakar Books, 2012, P. 224.

इनमें बंदरगाह, सड़क, रेल तथा ऊर्जा के विकास में विशेष ध्यान दिया गया। हालांकि इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, परन्तु आश्चर्यजनक तो यह है कि जिसे विकास के रूप में दिखाया जा रहा है वह वास्तव में उन उद्योगपतियों द्वारा उन इलाकों में किया गया जिनमें वे पहले से ही अन्य उद्योगों में निवेश कर चुके हैं। उदाहरण स्वरूप सड़कों, रेल या ऊर्जा का विकास, उन क्षेत्रों, विशेषकर विशेष आर्थिक क्षेत्र को ध्यान में रखकर किया गया है जिससे उनके अन्य क्षेत्रों में किए गए निवेश को और अधिक लाभकारी बनाया जा सके।

कृषि का विकास या कृषकों का?

यह बात तो स्पष्ट है कि गुजरात के विकास में कृषि, सेवा तथा आधारभूत संरचना तीनों ही क्षेत्रों का विशेष योगदान रहा है। परन्तु कृषि के इस प्रदर्शन में एक बड़ी भूमिका नकदी, व्यापारिक फसलों का (कपास, मूंगफली, सोया, तंबाकू, ख़ासकर विवादास्पद बी.टी. कॉटन और कुछ तिलहनों की रही है) असल

में खाद्य-सुरक्षा में प्रगति और छोटे, मझोले किसानों का कितना विकास हुआ है यह महत्वपूर्ण प्रश्न है। 1990 के दशक में भी गुजरात में कृषि विकास दर (4.44 प्रतिशत) राष्ट्रीय विकास दर (3.15 प्रतिशत) से बेहतर थी। जो पिछले एक दशक में बढ़कर राष्ट्रीय विकास दर के लगभग दोगुने से भी अधिक हो गई है। गुजरात में कृषि विकास दर पिछले दशक में 7.64 फीसद दर्ज की गई है।[8] परन्तु खाद्य पदार्थों के स्थान पर नकदी फसलों के उत्पादन में ही अधिक वृद्धि हुई है। कृषि क्षेत्र में इस विकास दर ने तथा आधारभूत संरचना के विकास से अन्य औद्योगिक विकास के लिए सरकार स्वयं कृषि योग्य भूमि का अधिग्रहण कर रही है, जिसके परिणामस्वरूप राज्य में न्यूनतम लैंड होल्डिंग का अनुपात गिरता जा रहा है, और आज यह राष्ट्रीय स्तर की तुलना में काफी कम हो गया है। वहीं दूसरी ओर बड़े भूस्वामियों (20 हेक्टेयर से अधिक) की संख्या बढ़ती जा रही है।[9]

सारणी 2
भारत तथा गुजरात में सिंचित क्षेत्र

वर्ष	भारत	गुजरात
2001-02	40.06%	27.62%
2008-09	65.14%	35.34%

स्रोत : Atul Sood (ed.) *Poverty Amidst Prosperity,* Delhi : Aakar Books, 2012, P. 232.

यह दिख रहा है कि गुजरात अपने 'कृषकों को जमीन' (Land to the tiller) के आदर्श से वापस होते हुए 'भूमि का उदारीकरण' (Liberalization of land) की ओर अग्रसर है।[11] यदि सरकार की नीति कृषि क्षेत्र के विकास के पक्ष में होती तो राज्य में सिंचित क्षेत्र राष्ट्र की तुलना में इतना कम मात्र 35 प्रतिशत नहीं होता।

सारणी 3
गुजरात के भूमिहीनों और गरीबों के बीच संबंध

Categories by Land Cultivated	MPCE Quartik Classes			
	1 (lowest)	2	3	4 (Highest)
2004-05				
Landless	21.65	35.33	10.62	32.40
Marginal	37.70	26.75	24.10	13.45
Large	0.00	22.46	31.53	46.01
2009-10				
Landless	40.90	29.49	2.99	26.62
Marginal	24.83	29.02	25.9	20.24
Large	0.13	13.71	6.61	79.55

स्रोत : एन.एस.एस. का 66वां राउंड 2009-10

उत्पादन एवं विकास

उत्पादन क्षेत्र को विकास का रास्ता दिखाने के लिए कृषि क्षेत्र को दरकिनार किया गया। यहां तक कि छोटे उद्योगों को प्रोत्साहन देने के लिए 40 लाख रुपए निवेश करने पर 10 हेक्टेयर तक खेतिहर जमीन स्वतः ही गैर-खेतिहर में परिवर्तित हो जाती है। परन्तु यह दुर्भाग्य केवल कृषि क्षेत्र का नहीं है। उत्पादन के क्षेत्र में भी गुजरात सरकार की नीति पक्षपातपूर्ण दिखाई देती है। पारंपरिक टेक्सटाईल उद्योग की तुलना में वहां पेट्रो केमिकल, कैमिकल प्रोडक्ट्स एवं प्लास्टिक उद्योग को बढ़ावा दिया जा रहा है। इसने निःसंदेह पर्यावरण को ख़तरनाक रूप से प्रभावित भी किया है। 2000 के दशक में पेट्रो कैमिकल तथा कैमिकल प्रोडक्ट्स का जी.वी.ए. (Gross value added) में 60 प्रतिशत योगदान रहा। जबकि उसके द्वारा रोजगार बहुत कम दिया गया। रोजगार के अवसर पेट्रोकैमिकल क्षेत्र में न के बराबर रहा है जबकि कैमिकल प्रोडक्ट्स के क्षेत्र में 23 प्रतिशत रहा है। टेक्सटाईल क्षेत्र का वैल्यू एडेड में 1980 के दशक में 37 प्रतिशत से गिरकर 2000 के दशक में 7.5 प्रतिशत रह गया है। फिर भी इसमें रोजगार का अवसर 21 प्रतिशत रहा। पिछले एक दशक में गुजरात के संगठित क्षेत्र के मजदूरों की मजदूरी में मात्र 1.5 प्रतिशत की बढ़ोतरी हुई है। ऐसा प्रतीत होता है गुजरात के औद्योगिक क्षेत्र का वर्तमान विकास मजदूरों के हित की कीमत पर हो रहा है।[12]

रोजगार सृजन

गुजरात के विकास में बहुत कम रोजगार सृजन तथा उच्च पूंजी विकास दर में विरोधाभास उत्पन्न हुआ है। यह उत्पादन वृद्धि रोजगार शून्यता तथा कुल मिलाकर निवल रूप में नकारात्मक रोजगार रही। निम्न रोजगार सृजन, मजदूरी वृद्धि में धीमी गति, ठेके पर मजदूरी की बढ़ती प्रवृत्ति तथा उत्पादन के क्षेत्र में कुल मिलाकर कम हुए रोजगार के अवसरों ने गुजरात की आर्थिक वृद्धि पर विकास की दृष्टि से प्रश्नचिन्ह लगा दिए हैं।

सारणी 4
गुजरात में रोजगार विकास दर

	1993-94 से 2009-10		
	ग्रमीण	शहरी	कुल
खेती	0.9	0.9	0.9
कल-कारखाने	.2.0	3.2	1.2
निर्माण	4.9	3.6	4.3
सेवाएं	2.2	4.1	3.5
कुल	**0.9**	**3.6**	**1.7**

स्रोत : स्रोत : अतुल सूद OP.CIT. P. 257

रोजगार की सबसे अधिक वृद्धि विनिर्माण के क्षेत्र में हुई है जबकि उत्पादन के क्षेत्र में ग्रामीण इलाकों में नकारात्मक वृद्धि देखी गई है। इस बीच ग्रामीण क्षेत्रों में महिलाओं के रोजगार में विशेष कमी देखी गई है।[13] इसके अलावा ग्रामीण इलाकों में कुल मिलाकर तीनों क्षेत्रों में रोजगार में कमी देखी गई है।

यदि कहीं भी ग्रामीण क्षेत्रों में रोजगार में वृद्धि देखी गई तो वह मुख्यतः कृषि तथा संचार के क्षेत्र हैं। गुजरात में असंगठित तथा छोटे उद्योगों में रोजगार में कोई वृद्धि दर्ज नहीं की गई। बड़े उद्योगों में भी यदि रोजगार का सृजन किया गया तो उसमें भी दिहाड़ी यानी अस्थाई और सुरक्षा-कवच विहीन नतमस्तक मजदूरों के रूप में ही उन्हें रोजगार प्रदान किया गया। संगठित उत्पादन क्षेत्र में 2000-01 में 27 प्रतिशत ठेका मजदूर थे जो 2007-08 में बढ़कर 37 प्रतिशत हो गये।[14]

गुजरात के विकास में वहां की जनजातियों का समावेशन अत्यंत सीमित दिखाई देता है। जहां एक ओर वे भूमिहीन हो रहे हैं वहीं दूसरी ओर कृषि पर निर्भरता बढ़ती जा रही है। इसी से उनकी दयनीय स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है। 1993-94 से 2004-05 के बीच औद्योगिक क्षेत्र में जनजातियों की भागीदारी में वृद्धि देखी गई थी परन्तु 2009-10 में उनकी भागीदारी घटकर 2004-05 की तुलना में आधी रह गई।[15] 80 प्रतिशत जनजाति की आबादी दक्षिण गुजरात में संक्रेंदित है और इस क्षेत्र में औद्योगिक विकास अन्य क्षेत्रों से कम ही हुआ है। किन्तु औद्योगिक इकाइयों ने स्थानीय लोगों को रोजगार में प्राथमिकता नहीं दी तथा राज्य ने इन आदिवासियों की क्षमता वृद्धि तथा उनके प्रशिक्षण पर कोई ध्यान नहीं दिया।

वृद्धि-दर के बीच घटता जीवन स्तर : गरीबी, असमानता स्वास्थ्य तथा शिक्षा

ऐसा प्रतीत होता है कि गुजरात सरकार इस बात में विश्वास रखती है कि ट्रिक्कल डाऊन यानी आर्थिक बढ़त के ऊपर से बाजार प्रक्रिया द्वारा अपनी अल्पविकास प्रक्रिया से समृद्धि धीरे-धीरे गरीबों तक पहुंच जाएगी। गुजरात ने राज्य सकल उत्पाद में उपलब्धियां हासिल की हैं इसके बावजूद वहां एक तिहाई लोग गरीबी रेखा के नीचे जीवन जी रहे हैं।[16] उपभोग व्यय, गरीबी उन्मूलन तथा असमानता में गुजरात अन्य राज्यों, विशेषकर महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु से पीछे रह गया। 2005 तथा 2010 के बीच उपभोग व्यय के संदर्भ में गुजरात राष्ट्रीय स्तर (2.41 प्रतिशत) की तुलना में बेहतर (2.54 प्रतिशत) था परन्तु तमिलनाडु (2.95 प्रतिशत) तथा महाराष्ट्र (3.42 प्रतिशत) की तुलना में काफी कम था। 2009-10 में गुजरात में शहरी क्षेत्रों में 18 प्रतिशत एवं ग्रामीण क्षेत्रों में 27 प्रतिशत लोग असाधारण, अमानवीय गरीबी रेखा के आधार पर भी गरीब थे। निःसंदेह यह राष्ट्रीय स्तर के आंकड़ों से बेहतर था (शहरी क्षेत्रों में 21 प्रतिशत तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 34 प्रतिशत) परन्तु तमिलनाडु (शहरी क्षेत्रों में 21 प्रतिशत तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 22 प्रतिशत) तथा हरियाणा (शहरी क्षेत्रों में 23 प्रतिशत तथा ग्रामीण क्षेत्रों में 19 प्रतिशत) से काफी पीछे था।

गुजरात में आय के वितरण तथा आर्थिक-सामाजिक असमानता भी विकास के आंकड़ों को झुठलाती हैं। गुजरात में असमानता (33 प्रतिशत) राष्ट्रीय स्तर की असमानता (36 प्रतिशत) के करीब ही है। हालांकि 1990 के दशक के प्रारंभ में राज्य की स्थिति बेहतर थी परन्तु पिछले दो दशकों में इस संदर्भ में राज्य की स्थिति और खराब हुई है। इसके अलावा ये असमानताएं क्षेत्रीय स्तर पर भी देखी गई हैं। पिछले पांच वर्षों में सौराष्ट्र तथा कच्छ के क्षेत्रों ने निवेश को आकर्षित किया जिससे राज्य का 56 प्रतिशत

निवेश इन्हीं दो क्षेत्रों में हुआ। परिणामस्वरूप इस क्षेत्र का प्रति व्यक्ति व्यय गुजरात के अन्य क्षेत्रों की तुलना में काफी बढ़ गया। इसके बावजूद अन्य क्षेत्रों की ही तरह इन दोनों क्षेत्रों में लोगों के बीच भारी असमानता देखी गई। पिछले पांच वर्षों में गुजरात में प्रति व्यक्ति व्यय में 2.5 प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है परन्तु वहां की जनजातियों, जो गुजरात की कुल जनसंख्या के 17 प्रतिशत हैं, के बीच यह वृद्धि मात्र 0.14 प्रतिशत देखी गई। जनजातियों तथा अन्य के बीच वृद्धि का यह अंतर पिछले पांच वर्षों मे उसके पहले के दशक की तुलना में अत्यधिक बढ़ गया है। शहरी क्षेत्रों में अनुसूचित जातियां तथा जनजातियां उभरते आय के वितरण में काफी पीछे छूट गई हैं जो असमानता को और गहराता जा रहा है।

इसी प्रकार शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रों में भी गुजरात सच्चे जनहितकारी विकास के प्रतिमान को नहीं छू पाया है। अमर्त्यसेन का कहना है कि गुजरात मॉडल को स्वास्थ्य तथा शिक्षा के क्षेत्र में अभी काफी काम करना है। अगर गुजरात सरकार इन दोनों मसलों को देख सकती कि गुजरात का रिकार्ड शिक्षा और स्वास्थ्य के क्षेत्र में दयनीय है तो वह सिर्फ़ आधारभूत ढांचा के विकास पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं करती।[17] गुजरात में साक्षरता दर, हालांकि राष्ट्रीय स्तर दर से बेहतर है, फिर भी गुजरात कई अन्य राज्यों से पीछे है। इसके अलावा माध्यमिक शिक्षा स्तर पर ही विद्यार्थियों द्वारा विद्यालय छोड़ देने की घटना अन्य राज्यों की तुलना में काफी अधिक है। उससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि गुजरात में महिलाओं एवं पुरुषों के बीच शिक्षा के संदर्भ में अन्य राज्यों की तुलना में अधिक अंतर देखा जाता है। गुजरात में यह अंतर 20 प्रतिशत है जो राष्ट्रीय स्तर के अंतर से भी अधिक है। इसके अलावा हरियाणा, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु की तुलना में भी यह अंतर अत्यधिक है। यहां तक कि 6 से 10 वर्ष की उम्र के बच्चों के बीच की तुलना में काफी अधिक है।[18] गुजरात के ग्रामीण क्षेत्रों में उच्च-प्राथमिक तथा माध्यम स्तर की शिक्षा की पहुंच एवं दलितों तथा आदिवासियों तक शिक्षा की पहुंच अन्य राज्यों जैसे महाराष्ट्र एवं तमिलनाडु की तुलना में भी काफी कम है। इसके पीछे महत्वपूर्ण कारण गुजरात सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में अपने खर्च में की गई लगातार कमी है।

इसी प्रकार स्वास्थ्य के क्षेत्र में भी गुजरात अन्य राज्यों की तुलना में पिछड़ा हुआ है। विशेषकर ग्रामीण इलाकों में स्वास्थ्य सेवाएं दयनीय स्थिति में हैं। स्वास्थ्य की बदतर सेवाएं तथा कुपोषण के कारण ही गुजरात में शिशु मृत्यु दर अभी भी 41 प्रति 1000 है जो एक दशक पहले 60 थी। कुपोषण के साथ-साथ टीकाकरण तथा गर्भवती महिलाओं के लिए विशेष ध्यान में कमी भी इसके कारण रहे हैं। इसी प्रकार गुजरात में महिलाओं तथा पुरुषों की जीवन प्रत्याशा राष्ट्रीय स्तर के करीब है परन्तु हरियाणा, महाराष्ट्र तथा तमिलनाडु इस संदर्भ में गुजरात से काफी आगे हैं। स्वास्थ्य सेवाओं की कमी के कारण ही गुजरात में पिछले पांच वर्षों में महिलाओं की मृत्यु दर में कोई कमी दर्ज नहीं की गई।[19] स्वास्थ्य सेवाओं में खर्च के संदर्भ में गुजरात 1990 के दशक के प्रारंभ में नौंवे स्थान पर था। 1990 के दशक के उत्तरार्ध में चौथे स्थान पर पहुंचा फिर 2000 के दशक के प्रारंभ में नौवें स्थान पर पहुंच गया और 2000 के दशक के उत्तरार्ध में ग्यारहवें स्थान पर पहुंच गया। कुल मिलाकर यह समझा जा सकता है कि यदि आंकड़ों का अधूरा अध्ययन किया जाए तो यह प्रतीत होता है कि गुजरात विकास के रास्ते पर अग्रसर है परन्तु यदि उन्हीं आंकड़ों का सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाए तो पता चलता है कि विकास किसी विशेष वर्ग या समूह का हो रहा है। आर्थिक असमानताएं बढ़ गई हैं। कृषि का विकास हो रहा है पर कृषकों का

नहीं। उद्योग का विकास हो रहा है परन्तु रोजगार नहीं बढ़ रहा। आधारभूत संरचना का विकास भी व्यवसाय को लाभ पहुंचाने के उद्देश्य से किया जा रहा है न कि आम लोगों के हित एवं आवश्यकता को ध्यान में रखकर। सभी क्षेत्रों में संतुलित विकास तथा सभी समूहों के लिए समान विकास का अमाव है। शिक्षा तथा स्वास्थ्य के क्षेत्रों में गंभीर खामियां विद्यमान हैं। इस प्रकार गुजरात के विकास के सत्य तथा मिथक को समझने के लिए पहले उपर्युक्त विकास के विरोधाभासी मुद्दों को भी समझना आवश्यक है।

जनधन लुटाती पक्षपाती औद्योगिक वृद्धि

वास्तव में राज्य के सकल उत्पाद और बढ़त दर को बढ़ाना गुजरात जैसे 43 प्रतिशत से ज़्यादा शहरी आबादी वाले एक काफी बड़े मध्यम आय वर्ग, प्रवासी भारतीयों की विशाल संख्या, काफी अरसे से बेहतर प्रशासन की ख्याति, उद्योग-धन्धों की पुरानी विरासत, बंदरगाहों की निकटता आदि के कारण अन्य राज्यों की तुलना में सरल हैं। किन्तु पिछले कुछ सालों में यहां के शासन में प्रवासी भारतीयों को लुभाने में कोई कसर नहीं छोड़ी गई है। अब गुजरात के पुराने वस्त्र उद्योग की जगह मोटर कार उद्योग बढ़ता जा रहा है। इस उ़द्योग को टाटा मोटर्स के जरिए कितनी अस्वाभाविक, पक्षपाती शर्तों-सुविधाओं और सारे गुजरात पर भारी वित्तीय तथा अन्य प्रकार का बोझा लाद कर किया गया है, उसकी मिसाल किसी दूसरे राज्य में मिलना कठिन लगता है।

टाटा मोटर्स और गुजरात राज्य के नानो कार के कारखाने के आपसी समझौते को सार्वजनिक नहीं किया गया है। किन्तु प्राप्त जानकारी चौंकानेवाली और अवांछनीयता के तत्वों से भरपूर है।

गुजरात सरकार ने टाटा मोटर्स को 9 हज़ार 7 सौ करोड़ रुपए (कहीं-कहीं यह राशि 9 हज़ार पांच सौ करोड़ रु. बताई जाती है) नानो कारखाने को पं. बंगाल से खींचकर लाने के लिए 0.1 प्रतिशत ब्याज पर 20 साल के लिए दिया है। इस कंपनी का बिजली शुल्क, जमीन पंजीयन शुल्क, स्टांप ड्यूटी आदि भी माफ कर दिये गये बताये जाते हैं। इस कारखाने तक 4 लेन सड़क, प्राकृतिक गैस, पर्याप्त लाईन, कचरा निपटाने का संयंत्र भी गुजरात सरकार द्वारा तैयार कराये जा रहे हैं। जमीन भी मामूली कीमत पर बख्शी गई है। और तो और अहमदाबाद के निकट 100 एकड़ जमीन टाउनशिप के लिए भी दी जानी है।

कारों के उत्पादन के लिए देश की सबसे बड़ी कंपनियों में से एक को अरबों रुपये लुटाकर केवल राज्य के लिए कितने गौरव, कुशलता और सुशासन की बात है- बताने की ज़रूरत नहीं है। आम आदमी और शिक्षा, स्वास्थ्य, आदिवासी कल्याण, ग्रामीणों और किसानों की बदतर होती स्थिति के आंकड़े किसी भी प्रबुद्ध नागरिक के लिए गंभीर चिन्ता के विषय हैं। वास्तव में गुजरात के शासक दल उन्हीं नवउदारवादी पूंजीपति पक्षीय नीतियों के घोर अन्ध समर्थक हैं जिन्होंने केंद्र सरकार को नकारेपन की हद तक पहुंचा दिया है। ऐसी नीतियों का दमनकारी तरीकों से अनुपालन सुशासन नहीं जन-विरोधी याराना पूंजीवाद की दास्तां कहलाता है।

E-mail: kmurari1234@yahoo.co.in

संदर्भ

1. Ghanshyam Shah *et. al.,* (eds.) *Development and* Defination in Gujarat : in Honour of Jan Breman, New Delhi : Sage Publications, 2002.
2. Atul Sood, 'Rousing Growth Amidst Raging Disparities', in Atul Sood (ed.) *Poverty Amidst* Prosperity : Essays on Trajectory of Development *in Gujarat,* Delhi : Aakar Books, 2002, P. 6.
3. *Economic Times,* February 25, 2011.
4. *The Indian Express,* February 25, 2011.
5. P. Mukta, 'On the Political Culture of Authoritatinism', in Ghanshyam Shah *et. at.* (eds) *Op.Cit.* 2002, pp. 59-73.
6. *Ibid.*
7. *The Economic Times*, 'The Two Faces of Modi's Development Model', New Delhi, August 1, 2013.
8. *Ibid.*
9. Atul Sood, *Op. Cit.* p. 15.
10. *The Economic Times,* 'The Two *Op. Cit.*
11. Atul Sood, *Op. Cit.,* p. 16.
12. *Ibid.*
13. Ruchika Rani and Kalaiyarasan A., 'Galloping Gwoth Stagnant Employment', in Atul Sood, *Op. Cit.* 2012, P. 163-167.
14. Atul Sood, *Op. Cit.,* P. 24.
15. *Ibid.*
16. Nidhi Mittal, 'Growth with Limited Outcomes : Poverty and Inequality in Gujarat', in Atul Sood (ed.), *Op. Cit.* 2012, P. 147.
17. Amartya Sen, *Rashtiya Sahara* (New Delhi) August 10, 2013. (Hastakshep-1)
18. Atul Sood, *Op. Cit.,* P. 28.
19. *Ibid.* P. 25

'संघ-स्वदेशी' और भूमंडलीकरण

अभय कुमार दुबे

नब्बे के दशक के मध्य में जिस समय राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ द्वारा प्रायोजित स्वदेशी जागरण मंच की गतिविधियां अपने शिखर पर थीं, कन्नड़ के विख्यात साहित्यकार मनीषी डी. आर. नागराज ने स्वदेशी के इस संस्करण को गांधी के स्वदेशी की श्रेणी में मानने से इनकार कर दिया था। उन्होंने इसे गांधी से अलगाने के लिए संघ-स्वदेशी करार देते हुए अनर्थकारी विचारों की कोटि में रखा। नागराज ने संघ-स्वदेशी को 'विचारों को हड़पने की राजनीति' के रूप में चित्रित करते हुए दिखाया कि नारा रचने और सांस्कृतिक प्रतीकों के उपयोग के स्तर पर संघ परिवार ने उसी आदमी का इस्तेमाल किया है जो उन्हीं के हाथों मारा गया था। नागराज ने इसे 'श्मशान की प्रतीकात्मक राजनीति' भी कहा। संघ-स्वदेशी के विचारकों डॉ. यशवंत पाठक और प्रभाकर घाटे के लेखों के साथ-साथ संघ के स्वदेशी से संबंधित दस्तावेज से उद्धरण देते हुए नागराज ने रेखांकित किया कि कांग्रेस सरकार की नई अर्थनीति की वामपंथियों जैसी आलोचना करने में संघ परिवार के पत्र *ऑर्गनाइजर* को महारत हासिल हो गई है।[1] नागराज आज हमारे बीच नहीं हैं। अगर वे होते तो कहते कि देखो मेरा कहना कितना सही था। लेकिन नागराज के विश्लेषण में एक पहलू और था जो सामने आने की प्रतीक्षा कर रहा था।

स्वदेशी के संघी संस्करण में वामपंथी आभा देखने वालों में बाजारवादी अंतर्राष्ट्रीय पत्रिका द *इकॉनॉमिस्ट* सबसे आगे साबित हुई। 1998 में जब संघ की राजनीतिक शाखा भारतीय जनता पार्टी ने केंद्र में सत्ता संभाली तो इस पत्रिका ने लिखा, 'भाजपा को अक्सर दक्षिणपंथी कहा जाता है। इसे राष्ट्रवादी कहना ज़्यादा बेहतर होगा। यह पार्टी पहले से आत्म-निर्भरता की नीति पर बल देती रही है। इसके कई सदस्य विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों को शुरुआती किस्म के साम्राज्यवादी के रूप में देखते हैं। यह विश्व व्यापार संगठन पर भारत की संप्रभुता के हरण का आरोप लगाती है। इस तरह के मसलों पर भारतीय जनता पार्टी और भारतीय वामपंथियों में कोई अंतर नहीं है।'[2] जाहिर है कि विचारों को हड़पने की इस बौद्धिक राजनीति के तहत न केवल गांधी से स्वदेशी का सूत्र हड़पा गया था, बल्कि वामपंथियों की राजनीतिक अभिव्यक्तियों से भी कई बातें झपट ली गई थीं।

संघ-स्वदेशी के इस 'वामपंथ' की सैद्धांतिक अभिव्यक्ति का नमूना 1992 में उस समय देखने को मिला जब एम.जी. बोकाड़े की पुस्तक 'स्वदेशी इकॉनॉमी फॉर द वार ऑफ इकॉनॉमिक इंडिपेंडेंस अगेंस्ट इकॉनॉमिक इॅपीरियलिज़म' का स्वदेशी, जागरण मंच ने प्रकाशन किया।[3] बोकाड़े की शख़्सियत भी कुछ इसी प्रकार की थी जिसमें संघ-स्वदेशी की 'वामपंथी' आभा में और चमक पैदा हो जाती थी। (बोकाड़े

सत्तर के दशक में फुले-आंबेडकर-मॉर्क्स को मिला-जुला कर पढ़ने वाली रैडिकल धारा के बुद्धिजीवी रह चुके थे। इसके बाद उन्होंने विदर्भ में कपास के किसानों के आंदोलन की सैद्धांतिक मदद की।) संघ-स्वदेशी को अपनी कार्यक्रमगत राजनीतिक अभिव्यक्ति 1992 में ही जारी किए गए भाजपा के अर्थनीति संबंधी दस्तावेज 'ह्यूमैनिस्टिक एप्रोच टू इकॉनॉमिक डिवेलपमेंट' में मिली। इस दस्तावेज का आह्वान था : 'भारत को उदारीकरण, औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण करना ही होगा। लेकिन ऐसा करने के लिए उसे भारतीय विधि अपनानी होगी।... भारत को अपने ही प्रकाश से प्रकाशित होना होगा।'[4] तीन साल बाद 1995 में भाजपा और शिव सेना की गठजोड़ सरकार ने महाराष्ट्र में बिजली बनाने वाली अमेरिकी कंपनी एनरॉन दाभोल परियोजना को निरस्त करके जम कर तारीफ़ बटोरी। इस प्रोजेक्ट को शरद पवार की कांग्रेसी सरकार ने मंज़ूरी दी थी। संघ-स्वदेशी के सिद्धांतकारों ने इस फैसले को अपनी 'भारतीय विधि' के अनुसार करार दिया। वैसे भी भाजपा-शिव सेना ने इस परियोजना को खारिज करने के वायदे के साथ ही चुनाव लड़ा था। लेकिन, उस समय सभी लोग चकित रह गए जब महाराष्ट्र सरकार ने एनरॉन के साथ दोबारा समझौता वार्ता की और दाभोल परियोजना पर मुहर लगा दी। नये करार के तहत एनरॉन को और सस्ती दर पर बिजली बनाने और उसी महंगी दर पर बेचने की छूट मिल गई जिस पर इस सरकार ने पहले आपत्ति की थी।[5] जब वामपंथी आलोचकों ने इस नये करार को अदालत में चुनौती दी तो भाजपा की सरकार के प्रतिनिधि ने बिना पलक झपकाए जज से कह दिया कि उसने जो एनरॉन-विरोधी मुहिम चलाई थी, वह तो राज्य विधानसभा का चुनाव जीतने के लिए राजनीतिक हथकंडा मात्र थी।

लेकिन इस घटना के बावजूद स्वेदशी जागरण मंच ने भाजपा-शिव सेना गठजोड़ के ख़िलाफ़ कोई मुहिम नहीं चलायी, और अपना वामपंथी; संघ-स्वदेशी जारी रखा। 1998 में जब भाजपा लोकसभा का चुनाव लड़ने उतरी तो उसने ऐलान कियाः 'शुल्क-दर घटाने की पथभ्रष्ट नीतियों और भारतीयों उद्योग को समान धरातल न देने के कारण भारत की अर्थव्यवस्था जबरदस्त दबाव में आ गई है।... हालांकि कुछ अधिसंरचनात्मक क्षेत्रों में विदेशी पूंजी की भूमिका बेहद अहम है, लेकिन स्पष्ट है कि इस पूंजी का भारतीय अर्थव्यवस्था को न के बराबर ही फायदा होने वाला है।... भले ही हर देश का घोषित एजेंडा मुक्त व्यापार है, पर असली एजेंडा तो आर्थिक राष्ट्रवाद ही होता है। भारत को भी अपने राष्ट्रीय एजेंडे पर चलना चाहिए। इसके मर्म में स्वदेशी का विचार है।' भाजपा ने 'कैलिबरेटिड ग्लोबलाइजेशन' की वकालत की, जिसका मतलब था अर्थव्यवस्था के भीतर उदारीकरण की नीति जारी रखना, कुछ अधिसंरचनात्मक क्षेत्र में विदेशी पूंजी को आमंत्रित करना और भारतीय उद्योग को विदेशी प्रतियोगिता से बचाने के साथ-साथ समग्र अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले विदेशी प्रभाव को विनियमित करने के लिए राज्य के हस्तक्षेप की वकालत करना। भाजपा ने अपनी पीठ थपथपाते हुए कम्युनिज्म और कैपिटलिज्म को विदेशी मॉडल करार देते हुए खारिज कर दिया और देशी परंपराओं से ऊर्जस्वित मॉडल की पैरोकारी की। 'संघ के विचारधारात्मक सिपहसालार मुरली मनोहर जोशी इसी आग्रह को व्यावहारिक नजरिये से इस तरह कह चुके थे : 'कंप्यूटर चिप्स यस, पोटाटो चिप्स नो'।

भाजपा की इस 'कैलिबरेटिड ग्लोबलाइजेशन' की असली परीक्षा उस समय शुरू हुई जब लाल कृष्ण आडवाणी अपने नेतृत्व वाले राष्ट्रीय जनतांत्रिक गठजोड़ की सरकार में शपथ लेने के बाद संसद के केंद्रीय कक्ष में राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के देशभर में फैले हुए स्वयंसेवकों को धन्यवाद दे रहे थे कि उनके परिश्रम

के कारण ही यह सरकार बनी है। संभवतः ठीक उसी समय नागपुर और झंडेवालान स्थित संघ के रणनीतिकार यह तय करने में लगे हुए थे कि नयी सरकार का वित्त मंत्री कौन होना चाहिए। नये प्रधानमंत्री अटल बिहारी वाजपेयी की पंसद थे जसवंत सिंह जो पी.वी नरसिंह राव की कांग्रेस सरकार के पांच सालों शैडो फाइनेंस मिनिस्टर, की भूमिका निभाते रहे थे। लेकिन संघ ने जसवंत सिंह को वित्त मंत्री बनने से रोक दिया। उसे शक था कि स्वतंत्र पार्टी की पृष्ठभूमि वाले यसवंत सिंह संघ-स्वदेशी के वैचारिक मर्म को ठीक से लागू नहीं कर पाएंगे। इसलिए नागपुर ने यशवंत सिन्हा के पक्ष में फतवा जारी किया, क्योंकि सिन्हा चंद्रशेखर की 'समाजवादी' सरकार में वित्र मंत्री रह चुके थे। पर संघ सिन्हा से क्या करवाना चाहता था?

यशवंत सिन्हा ने 'कैलिबरेटिड ग्लोबलाइजेशन' की अनूठी व्याख्या की। वित्त मंत्री के रूप में शपथ लेने के बाद उन्होंने कहा : 'भारत को अपनी फौजी ताकत के सापेक्ष शक्तिशाली आर्थिक राष्ट्र भी बनना है। और आप आर्थिक ताकत केवल तभी बन सकते हैं जब अपनी शक्तियों की परीक्षा दूसरों के मुकाबले करके दिखाएं। इसका मतलब है बाहर निकलना और दुनिया के पैमाने पर प्रतियोगिता करना, साथ में दुनिया को अपने यहां आने देना और प्रतियोगिता करने देना।... मैं स्वदेशी को बुनियादी रूप से एक ऐसे विचार के रूप में समझता हूं जिसका मकसद भारत को महान बनाना है।... हम महान बन सकते हैं प्रतियोगिता करने में सक्षम हो कर ही। मेरा विचार है कि प्रतियोगिता ही असली चीज़ है।... इसीलिए स्वदेशी, ग्लोबलाइजर और लिबरलाइजर आपस में अंतर्विरोधी पद नहीं हैं। मेरी निजी राय है कि भूमंडलीकरण स्वेदशी होने का सबसे अच्छा तरीका है।'[7]

जाहिर है कि यह भारत का वित्त मंत्री बोल रहा था और उसकी 'निजी राय' ही भाजपा के नेतृत्व में चलने वाली अर्थनीति थी। उसकी 'निजी राय' और कुछ हो भी कैसे सकती थी? उनका बेटा अंतर्राष्ट्रीय कंसल्टिंग फर्म मैकेंजी में काम करता था और उनकी बहू न्यूयॉर्क स्थित इन्वेस्टमेंट बैंक ओपनहाइमर में काम करती थी। देखते-देखते नये प्रधानमंत्री के कार्यालय, वित्त मंत्रालय, योजना आयोग और आर्थिक मामलों के मंत्रालय पर ऐसे लोग छा गये जिनके लिए स्वदेशी और ग्लोबलाइजेशन में कोई फर्क नहीं था। भूमंडलीकरण समर्थक इस मंडली के प्रमुख नाम थे : उद्योग मंत्री सिकंदर बख़्त, विद्युत मंत्री पी. आर. कुमारमंगलम, आवास मंत्री राम जेठमलानी, वाणिज्य मंत्री रामकृष्ण हेगडे, ब्रजेश मिश्रा, वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा, विनिवेश मंत्री अरुण शौरी और योजना आयोग के उपाध्यक्ष जसवंत सिन्हा।

परिणाम यह निकला कि संसदीय विपक्ष के रूप में भाजपा की स्थिति के मुकाबले सत्ताधारी भाजपा 180 डिग्री घूम गई। भाजपा जब विपक्ष में थी तो उसने बीमा उद्योग को सरकारी जकड़न से छुड़ाने का समर्थन लेकिन उस क्षेत्र में विदेशी पूंजी के आगमन का विरोध किया था। लेकिन जब वह सरकार में आई तो 1999 में उसने बीमा क्षेत्र में चालीस फीसदी विदेशी पूंजी की भागीदारी पर संसद से मुहर लगवाई। विपक्ष में रहते समय भाजपा ने पेटेंट कानून बदलने का भी विरोध किया था। लेकिन सत्ता में आने पर उसने पेटेंट बिल पास करवाया जिसके तहत प्रक्रिया को पेटेंट करने के बजाए उत्पाद को पेटेंट करने की इजाजत मिल गई। विपक्ष में भाजपा ने जनरल एग्रीमेंट ऑन ट्रेड एंड टैरिफ्स द्वारा तैयार किए गए डंकेल ड्राफ्ट में दर्ज विश्व व्यापार संगठन बनाने के प्रावधान का विरोध किया था। लेकिन सत्ता में आने के बाद भाजपा की देखरेख में भारत विश्व व्यापार संगठन में बना रहा और उसकी सरकार ने आयात शुल्क क्रमवार ख़त्म करने और आयात पर लगी पाबंदियां हटाने के लिए आक्रामक कदम उठाए। विपक्ष

में रहते हुए भाजपा इस पक्ष में थी कि प्रत्यक्ष विदेशी निवेश केवल उच्च प्रौद्योगिकी और अधिसंरचनात्मक क्षेत्रों में ही आना चाहिए। उसने गैर-प्राथमिक क्षेत्रों में इस पूंजी के आने का विरोध किया था लेकिन सत्ता में आने के बाद उसने ग़ैर-प्राथमिकता वाले क्षेत्रों को चिह्नत करने की कोई कोशिश ही नहीं की। शराब और तंबाकू जैसे अ-प्राथमिक क्षेत्रों समेत प्रत्यक्ष विदेशी निवेश को चौतरफा इजाज़त मिलनी शुरू हो गई। विपक्ष में रहते समय भाजपा ने स्वदेशी के विचार को आर्थिक राष्ट्रवाद के रूप में परिभाषित किया था। मतलब था भारतीय उद्योग को विदेशी कंपनियों के समकक्ष प्रतियोगिता के लिए समान धरातल उपलब्ध कराना। लेकिन अब स्वदेशी का मतलब हो गया विश्व अर्थव्यवस्था के साथ भारतीय अर्थव्यवस्था को उत्तरोत्तर जोड़ना।

तो क्सा संघ-स्वदेशी केवल एक झांसा था? अगर नहीं तो फिर संघ परिवार ने भारतीय जनता पार्टी के नेतृत्व वाली सरकार से नाता क्यों नहीं तोड़ा? स्वदेशी जागरण मंच ने छिट-पुट बयानबाजी के अतिरिक्त इन आर्थिक नीतियों के ख़िलाफ़ कोई बड़ी आंदोलनकारी मुहिम क्यों नहीं चलाई? नागराज ने इसे अनर्थकारी विचार करार देकर इसके कारण हो सकने वाले राष्ट्रीय नुकसान की भविष्यवाणी कर दी थी। भारतीय जनता पार्टी की कार्यकारिणी के सदस्य और अर्थशास्त्री जय दुबाशी के एक वक्तव्य ने संघ-स्वदेशी के रणनीति संबंधी आयामों के एक सर्वथा नये पहलू का उद्घाटन यह कह कर किया कि 'बाजपेयी कभी भी स्वदेशी के समर्थक नहीं थे। हर कोई यह बात जानता था। तब फिर उन्हें प्रधानमंत्री कैसे बनने दिया गया? इसलिए कि राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के सरबराहों ने अपने कारणों से उनके नाम पर हरी झंडी दिखाई और उनके इन कारणों का आर्थिक नीतियों से कोई ताल्लुक नहीं था।[8] आइए, देखें संघ-स्वदेशी नामक अनर्थकारी विचार के रूप में भूमंडलीकरण विरोधी ताकतों और मुहिम को कैसे झांसा दिया गया, और भाजपा को इस दांव की ज़रूरत क्यों पड़ी।

भारतीय जनता पार्टी का अतीत भारतीय जनसंघ था। संघ परिवार की इस राजनीतिक शाखा की अर्थनीति निजी पूंजी और उसकी सत्ता अभिव्यक्त करने वाले कॉरपोरेट घरानों के पक्ष में लामबंद होती थी। जनसंघ पब्लिक सेक्टर, लाइसेंस-कोटा राज और कांग्रेस के 'सरकारी समाजवाद' का विरोध करने के लिए जाना जाता था। उसकी अनुदार अर्थनीति का एक पहलू यह भी था कि वह उद्योग और व्यापार में छोटे और मंझोले दर्जे के आर्थिक हितों की पैरोकारी भी करता था। अस्सी के दशक में जब जनता प्रयोग विफल होने के बाद जनसंघ का नया संस्करण भारतीय जनता पार्टी राष्ट्रीय मंच पर उभरा तो संघ के सरबराहों की इजाजत से अर्थनीति संबंधी रुझानों में तब्दीली हुई। भाजपा ने लाइसेंस, कोटा राज का विरोध उग्र कर दिया और आर्थिक उदारीकरण की भाषा बोलने लगी। वह व्यापारियों और उद्योगपतियों का समर्थन अपनी ओर खींचना चाहती थी। लेकिन उस समय भाजपा कुछ परेशान हो गई जब उसने देखा कि 1991 में कांग्रेस की अल्पमतीय सरकार ने व्यवहार में उसी नीति को अपनाना शुरू कर दिया जिसकी वकालत ख़ुद को कांग्रेस से अलग दिखाने के लिए कर रही थी।

जब दुबाशी ने *द ऑर्गनाइजर* में लिखा : 'कांग्रेस हमारी आर्थिक दावेदारियां ले उड़ी है। अब वह हमारा राजनीतिक आधार छीने ले रही है।... जैसे अर्थव्यवस्था के दरवाजे खुलेंगे मध्य वर्ग को कांग्रेस से दूर रखना हमारे लिए उत्तरोत्तर कठिन होगा जाएगा।[9] इस नई परिस्थिति में संघ परिवार और भाजपा को एक नई आर्थिक रणनीति सूत्रबद्ध करनी पड़ी। इसी प्रक्रिया में 1992 की शुरुआत में 'स्वदेशी' का फिकरा सामने लाया गया। स्वदेशी जागरण मंच का गठन किया गया। एम. जी. बोकाड़े ने उन्हीं दिनों

हिंदू इकॉनॉमिक्स शीर्षक से एक पुस्तक लिख डाली जिसका विमोचन सरसंघचालक द्वारा कराया गया।[10] स्वदेशी का सीधा एक ही मतलब था : आर्थिक आत्मनिर्भरता। यही वह दौर था जब संघ ने कुछ दिनों के लिए विदेशी निवेश से मुक्त ऐसी अर्थव्यवस्था का सपना देखा। विदेशी उपभोक्ता वस्तुओं के आयात को नियंत्रित करने की इच्छा भी इसमें शामिल थी। संघ ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा बनाई जाने वाली 326 चीज़ों की एक सूची जारी की जिसके साथ में हर चीज़ का एक वैकल्पिक उत्पाद थी था जिसे भारतीय कंपनियों द्वारा बनाया जाता था। 'सांस्कृतिक रूप से अपवित्र' ये विदेशी वस्तुएं संघ की निगाह में पश्चिम की सुखवादी—आनंदवादी-भोगवादी विचारधारा की नुमाइंदगी करती थीं। संघ ने उपभोक्ताओं से अपील की कि वे हर विदेशी वस्तु का इस्तेमाल त्यागें और स्वदेशी वस्तुओं का प्रयोग करें। इस सूची को तैयार करने में संघ परिवार के बुद्धिजीवियों और रणनीतिकारों के बीच कई तरह के झंझट हुए। पर आख़िरकार स्वदेशी की प्रतीक लिस्ट सार्वजनिक मंच पर पेश कर दी गई।

लेकिन, क्या भाजपा के भीतर स्वदेशी के इस व्यावहारिक रूप को लागू करने की किसी रणनीति पर अमल की योजना बन रही थी? 1995 में महराष्ट्र भाजपा के एक उच्चपदस्थ संगठनकर्ता ए. भटकलकर ने इंटरव्यू देते हुए भाजपा के भीतर चल रहे ऊहापोह की जानकारी इस तरह दी, 'हमें पता है कि हम उपभोक्तावाद नहीं ख़त्म कर सकते। हर कोई एक अच्छी सी नौकरी, अच्छा सा घर, एक कार और एक सुंदर बीवी चाहता है। सरकार में आने पर इस हकीकत के कारण हम पर जो दबाव पड़ेगा, उसके बारे में सोच कर मुझे बड़ी चिंता होती है। अगर हम सत्ता में आए तो यह सोचकर मैं डर जाता हूं कि हमसे जो उम्मीदें की जाएंगी उनका क्या होगा। लोग शिक्षा, अधिसंरचनात्मक सुविधाओं और उत्तम जीवन की मांग करेंगे। जबकि यहां तो गरीबी, अशिक्षा और बीमारी की बहुतायत है।' हम जानते हैं कि भाजपा के सभी संगठनकर्ता संघ की कतारों से आते हैं। भाजपा इन्हीं प्रचारक-संगठन मंत्रियों के दम पर चलती है। भाजपा में आप उपाध्यक्ष हो सकते हैं या कोई और पद मिल सकता है, पर संगठन मंत्री होने के लिए संघ का प्रचारक होना ज़रूरी है। यह शर्त भाजपा के संविधान में दर्ज है।

यह विश्लेषण बताता है कि जिस समय संघ भूमंडलीकरण के प्रतिकार में स्वदेशी का नाटक कर रहा था, जिस समय संघ गांधी का नाम लेकर वामपंथी शब्दावली का इस्तेमाल करके असली इरादों की पर्दापोशी कर रहा था, उस समय भाजपा के वास्तविक संगठनकर्ता पार्टी को भूमंडलीकरण के गर्भ से निकली मध्यवर्गीय महत्वाकांक्षाओं के अनुकूल बनाने की रणनीति तलाश रहे थे। अटल बिहारी बाजपेयी के नेतृत्व में भूमंडलीकरण और बाजारवाद के पक्के समर्थकों की मंडली ने जिस रणनीति पर अमल किया, वह यही थी। उसका गांधी के उस स्वदेशी से कोई ताल्लुक नहीं था जिसके आधार पर ब्रिटिश साम्राज्यवाद के खिलाफ जंग लड़ी गई थी। संघ-स्वदेशी न केवल एक अनर्थकारी विचार था (क्योंकि उसने गांधीवादी और वामपंथी शब्दावली हड़पी थी, बल्कि वह एक झांसा था जिसमें कुछ समय के लिए कुछ लोग आ गए थे। जाहिर है कि सब लोगों को हर समय बेवकूफ नहीं बनाया जा सकता। इसीलिए आज भाजपा जब कांग्रेस सरकार की अर्थनीतियों की आलोचना करती है तो उस पर कोई ध्यान नहीं देता। स्वदेशी जागरण मंच आज कहीं सोया पड़ा है। देशी-विदेशी पूंजी के अलमबरदार नरेंद्र मोदी को पूरा संघ परिवार हाथों-हाथ ले रहा है। संघ-स्वदेशी पूरी तरह से अदृश्य हो चुका है।

E-mail: abhaydubey@csds.in

संदर्भ

1. डी.आर. नागराज (1995), 'एक अनर्थकारी विचार की मीमांसा/संघ-स्वदेशी : विचारों को हड़पने की राजनीति', समय चेतना, खंड 1 अंक 7. नागराज मार्क्सवादी नहीं थे। दिल्ली के बौद्धिक क्षितिज पर उनका उभार एक ऐसे बुद्धिजीवी के रूप में हुआ था जो गांधी और आंबेडकर में विरोध दिखाने के बजाय मेल-मिलाप के बिंदु उभारना चाहता था। उनका यह लेख हालांकि भुला दिया गया है, पर उनकी यह दलील आज भी प्रासंगिक है जिसमें उन्होंने कहा था : 'आधुनिकता के मनमाने आधुनिकतावादी विरोध ने संघ-स्वदेशी की धारणा को जन्म दिया है। यह उस परिघटना का सबसे ताजा भारतीय उदाहरण है जहां धर्म मनसपसंद रूप से आधुनिकता की शक्तियों से समझौता कर लेता है।' हिंदुत्व, पूंजीवाद और भूमंडलीकरण के संबंधों की अन्य व्याख्याओं के लिए देखें : थॉमस ब्लूम हैंसन (2001). 'हिंदुत्व एंड कैपिटलिजम', हैंसन और जैफ्रलो, ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली, शंकर गोपालकृष्णन, 'फ़ासिज़्म, फ्री मार्केट एंड रिस्ट्रक्चरिंग ऑफ इंडियन मार्केट : एक्सप्लोरिंग द रिलेशनशिप बिटवीन नियोलिबरलिज्म एंड हिंदुत्व' और स्टीफन शुलमैन, 'नैशनल सोर्सिज ऑफ इंटरनेशनल इकॉनॉमिक इंटीग्रेशन', इंटरनैशनल स्टडीज क्वार्टरली, खंड 44, अंक 3।
2. द इकॉनॉमिस्ट, 'हू इज अफ्रेड ऑफ बीजेपी?' 2 अप्रैल, 1998। इस पत्रिका की यह स्टोरी भाजपा को भूमंडलीकरण करने वाली जबरदस्त और कांग्रेस से बेहतर शक्ति के रूप में पेश करती है।
3. एम. जी. बोकाड़े (1993), स्वदेशी इकॉनोमी फॉर द वार ऑफ इकॉनॉमिक इंडिपेंडेंस अगेंस्ट इकॉनॉमिक इंपीरियलिजस, स्वदेशी जागरण मंच, मुंबई।
4. भारतीय जनता पार्टी (1992), ' ह्यूमैनिस्टिक एप्रोच टू इकॉनामिक डिवलपमेंट', दिल्ली, डेविड ई. अरफलअनंतम, 'द पेरोडॉक्स ऑफ द बीजेपीज स्टांस टुवर्ड्स एक्सटर्नल इकॉनॉमिक लिबरलाइजेशन : व्हाई अ हिंदू नैशनलिस्ट पार्टी फरदर्ड ग्लोबलाइजेशन इन इंडिया, एशिया प्रोग्राम, रॉयल इंस्टीट्यूट ऑफ इंटरनेशनल एफेयर्स, लंदन।
5. अभय कुमार दुबे (1995), 'दक्षिणपंथ का संकट : हवाला और हिंदुत्व के बीच एनरॉन', समय चेतना, खंड 1, अंक 9।
6. बलदेव राज नायर (2001), ग्लोबलाइजेशन ऐंड नैशनलिजम : द चेंजिंग बैलेंस इन इंडियाज इकॉनोमिक पॉलिसी, 1950-2000 सेज पब्लिकेशंस, नई दिल्ली।
7. बलदेव राज नायर से उद्धृत।
8. जय दुबाशी (2002), 'बीजेपीज प्रॉक्सीमिटी टू बिग बिजनेस एलीनेट्स इंटरसैल्फ फ्रॉम वोटर्स', फ्री प्रेस-जर्नल, 29 अप्रैल।
9. दुबाशी ने *द ऑर्गनाइजर,* 15 मार्च, 1992 को अपने साप्ताहिक स्तंभ में ये विचार व्यक्त किए।
10. एम. जी. बोकाड़े (1993), हिंदू इकॉनॉमिक्स, स्वदेशी जागरण मंच. जानकारी प्रकाशन, नई दिल्ली।
11. भटकलकर का यह वक्तव्य हैंसन में उद्धृत, 'ग्लोबलाइजेशन एंड नैशनलिस्ट इमेजिनेशन : हिंदुत्ववाज प्रोमिस ऑफ ईक्वलिटी थ्रू डिफरेंस', 'इकॉनामिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली, खंड 31, अंक 10।

कॉरपोरेट पूंजी, फ़ासीवाद और मीडिया

मुकेश कुमार

भारतीय मीडिया पिछले लगभग साल भर से नरेंद्र मोदी के गुणगान में डूबा हुआ है, वह मोदीमय हो गया है। मीडिया ने मोदी के कवरेज की अति कर दी है। पत्र-पत्रिकाएं मोदी की तस्वीरों और चर्चाओं से भरी हुई रहती हैं और टीवी चैनलों पर सुबह-शाम हर ख़बर और बहस का अंत उन्हीं के महिमागान या निंदा-भर्त्सना से होता है। फर्ज़ी जनमत सर्वेक्षणों से झूठी लहरें पैदा करके ये एहसास पैदा किया जा रहा है कि मोदी सर्वाधिक लोकप्रिय हैं और उनका प्रधानमंत्री बनना तय है। उनकी कुशल प्रशासक, परिपक्व एवं विकासवादी सोच वाले राजनीतिज्ञ की छवि गढ़ी गई है और सुनियोजित ढंग से उनके सांप्रदायिक कारनामों पर परदा डाला गया है।

इस एकतरफा कवरेज ने तमाम दलों और नेताओं को चिंतित तथा परेशान कर रखा है, क्योंकि मीडिया न केवल शेष पक्षों की उपेक्षा कर रहा है, बल्कि इस तरह वह सांप्रदायिक ताकतों को मजबूत भी कर रहा है। उसके इस व्यवहार से मिली-जुली सामाजिक संस्कृति के साथ-साथ पूरे लोकतंत्र के लिए ख़तरा खड़ा हो गया है। मोदी न केवल उभरती हुई सांप्रदायिक बीजेपी के सबसे कट्टर चेहरे हैं बल्कि उनकी तानाशाही प्रवृत्तियां भी जगजाहिर हैं। ये एक ऐसा मिश्रण हैं जो देश में फ़ासीवाद को सुनिश्चित करते हैं। हालांकि अटल बिहारी वाजपेयी भी राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से ही आए थे और उनकी विचारधारा भी वही थी जो मोदी की है, लेकिन वे आज अगर उनके विलोम नज़र आ रहे हैं तो इसीलिए कि वे भारतीय संविधान, लोकतंत्र तथा राजधर्म को उनसे ज़्यादा मानते थे। विडंबना ये है कि लोकसभा चुनाव में सांप्रदायिकता एक महत्वपूर्ण प्रमुख मुद्दा होने के बावजूद उस पर मीडिया न कोई सार्थक चर्चा करना चाहता है और न ही वह मोदी तथा उनकी पार्टी के सांप्रदायिक चरित्र को दिखाने की कोशिश कर रहा है। इसके विपरीत विकास और सुशासन आदि की सच्ची-झूठी चर्चाओं से पर्दा डाल रहा है। इसीलिए सवाल उठाए जा रहे हैं कि मीडिया फ़ासीवाद की ओर कदम बढ़ाते मोदी और उनकी पार्टी को दिल्ली के भावी शासक की तरह पेश क्यों कर रहा है? इसमें उसका क्या स्वार्थ है? वह ये सब अनजाने में कर रहा है या फिर इसके पीछे एक सुनियोजित रणनीति काम कर रही है?

इसमें संदेह नहीं कि मोदी एंड कंपनी की मार्केटिंग जबर्दस्त है। अंधाधुंध धन के इस्तेमाल के जरिए वह मीडिया का इस्तेमाल करने में सबसे आगे है। गोएबल्स के सिद्धांत एक झूठ को सौ बार दोहराकर उसे सच के रूप में स्थापित करने के काम में मोदी और उनकी प्रचार-सेना सफलतापूर्वक काम कर रही है। दरअसल उनका काम ही है नाना प्रकार के विवादों को हवा देना और नाटकीयता तथा तिकड़मों के

जरिए अपनी ओर ध्यान आकर्षित करने के लिए बिछाए गए जाल में मीडिया को फांसकर अपना उल्लू सीधा करना। संभव है कि मीडिया मोदी की मार्केटिंग से प्रभावित हो गया हो, लेकिन क्या वह इतना बुद्धू है कि इतने समय में भी ये बात नहीं समझ सका है और इतना गैर ज़िम्मेदार है कि लोकतंत्र और भारतीय समाज के प्रति अपने दायित्व को न समझ सके? मीडिया को वश में करना मोदी का एजेंडा हो सकता है, उनकी पार्टी या संघ परिवार का एजेंडा हो सकता है। सवाल उठता है कि आंख मूंदकर उनके एजेंडे की पूर्ति में लग जाना मीडिया का एकमात्र उद्देश्य बनकर क्यों रह गया है? इससे उसे क्या हासिल हो रहा है? टीआरपी, प्रसार संख्या, विज्ञापन या कुछ और भी? कहीं ऐसा तो नहीं कि वह किन्हीं और उद्देश्यों से संचालित हो रहा हो? किसी और के इशारे पर वह मोदी की छवि निर्माण में लगा हो और उन्हें प्रधानमंत्री की कुर्सी पर बैठाने के लिए प्रयासरत हो?

हिंदुस्तान में मीडिया-शोध की कोई परंपरा नहीं है इसलिए अकसर कई चीज़ों को तथ्यात्मक तौर पर स्थापित करना मुश्किल हो जाता है। मसलन, इसकी कोई ठोस जानकारी नहीं दी जा सकती कि पिछले एक साल में समाचार माध्यमों ने विभिन्न पार्टियों के नेताओं को कितना कवरेज दिया, उसमें कोई संतुलन था या नहीं, कहीं वह किसी ख़ास पक्ष की ओर झुका तो नहीं था और अगर झुका हुआ था तो उसके पीछे क्या वजहें थीं। पिछले साल भर की राजनीतिक घटनाओं के विश्लेषण में भी उनके रुख की जांच-पड़ताल के लिए कोई तथ्यात्मक आधार हमारे पास मौजूद नहीं है। हम केवल अनुभवों और अनुमानों के आधार पर बात कर सकते हैं जो कि विभिन्न कारणों से गलत-सही हो सकते हैं। फिर भी मीडिया में जारी प्रवृत्तियों को जानने-पहचानने का काम छोड़ा नहीं जा सकता क्योंकि समूची व्यवस्था की दशा-दिशा को परखने का अब ये सबसे बड़ा जरिया बन चुका है। मीडिया की विराटता, उसके नवनिर्मित चरित्र और उसकी प्रभाव क्षमता के दायरे में लगभग सब कुछ आने लगा है। उसमें जो चीज़ें दिखती हैं और जो नहीं दिखतीं दोनों को मिलाकर मौजूदा समय को पढ़ा जा सकता है।

वैसे मीडिया के वर्तमान मिज़ाज़ को परखना कोई मुश्किल भी नहीं है। बिना किसी शोध के आधार पर भी हम कह सकते हैं कि मीडिया के बड़े हिस्से की भूमिका निष्पक्ष एवं स्वतंत्र दोनों नहीं है। उसमें एक स्पष्ट झुकाव है और वह भारतीय जनता पार्टी तथा उसकी ओर से प्रधानमंत्री पद के दावेदार नरेंद्र मोदी के पक्ष में और उनके विरोधी दलों के विरोध में है। वह गैर बीजेपी दलों के विरोध में भी है। कम्युनिस्ट पार्टियों के प्रति उसके दुराग्रह तो इतनी गहराई तक स्थापित हैं कि कहा जा सकता है कि उसके डीएनए का हिस्सा बन चुके हैं। मगर छोटी एवं क्षेत्रीय पार्टियों के प्रति भी उसका रवैया कतई उदार नहीं कहा जा सकता। यहां तक कि नई नवेली आम आदमी पार्टी को भी वह जितना अधिक हो सके सीमित कर देने की रणनीति पर काम करता रहा है। इन दलों की चर्चाएं अकसर मज़ाक उड़ाने वाले अंदाज में की जाती हैं। बीजेपी तथा नरेंद्र मोदी को एकमात्र विकल्प के रूप में पेश करने की रणनीति मीडिया में स्पष्ट तौर पर देखी जा सकती है।

कम्युनिस्ट पार्टियां जमाने से पूंजीवादी मीडिया के इस पक्षपाती चरित्र को सामने रखने का काम करती रही हैं, मगर उसकी बातों को या तो दबा दिया जाता है या फिर अनदेखा कर दिया जाता है, क्योंकि यही उसके स्वास्थ्य के लिए हितकर माना जाता है। निष्पक्षता तथा स्वंतत्रता का मुखौटा पहनकर वह ख़ुद को लोकतंत्र का चौथा खंभा ज़रूर बताता रहता है मगर असलियत यही है कि वह पूंजीपतियों की मुनाफाखोरी को सुनिश्चित करने का ही काम करता है। उसकी यही प्रवृत्ति उसे फ़ासीवाद का समर्थन

करने के लिए भी प्रेरित करती है। जर्मनी में हिटलर और नात्सीवाद के उदय में इसे देखा गया था और अब यही हिंदुस्तान में दोहराया जा रहा है। इस बीच दुनिया भर में उदार आर्थिक नीतियों की गिरफ्त मजबूत होने के बाद से मीडिया पर पूंजी का शिकंजा पूरी तरह कस गया है इसलिए ये और भी त्वरित गति से हो रहा है।

कई राजनीतिक दल मीडिया के पक्षपात को खुलकर उठा भी रहे हैं। यहां तक कि वे चैनलों और अख़बारों के नाम लेने से भी परहेज नहीं कर रहे हैं और मीडिया को अपनी मर्ज़ी से चलाने वालों जैसे मुकेश अंबानी आदि की चर्चा सरे आम करने लगे हैं। यही वजह है कि मीडिया का एक बड़ा वर्ग तिलमिलाया हुआ है और बड़ी निर्लज्जता के साथ उन पर पलटवार कर रहा है। उन्हें अराजक, और गैर ज़िम्मेदार बता रहा है। आक्रामक रूप धारण करके ख़ुद को पाक-साफ़ बताने की कोशिश करने में जुट गया है, लेकिन वह भूल रहा है कि मीडिया के विस्तार ने आम आदमी की समझ में इजाफा भी किया है। वह भी समझने लगा है कि मीडिया कितना ईमानदार और निष्पक्ष है। ये सबको दिख रहा है कि मीडिया मोदी की सभाओं, कार्यक्रमों और बयानों का कवरेज बढ़-चढ़कर तो कर ही रहा है, साथ ही उनके प्रति उसमें एक तरह का श्रद्धा का भाव भी जड़ें जमा चुका है। इसी का परिणाम है कि वह मोदी की अज्ञानता की नई-नई मिसालों को अनदेखा कर देता है या फिर उन्हें हल्के में निपटा देता है। इतिहास एवं भूगोल के मामलों में ही नहीं आर्थिक विषयों पर भी मोदी बचकानी बयानबाज़ियां करते रहे हैं, मगर मीडिया उन्हें भावी प्रधानमंत्री मानकर माफ करता जा रहा है। मोदी के दावों की चीर-फाड़ करने से भी वह बचने लगा है। भ्रष्टाचार के मामलों में जब वह दूसरों पर हमले करते हैं तो कोई उनके भ्रष्टाचार नहीं गिनाता। कोई लोकायुक्त की नियुक्ति को टालने का ज़िक्र नहीं करता। इसी तरह सांप्रदायिक विष से बुझे उनके विचारों को भी बख़्श दिया जाता है। मीडिया का एक छोटा सा हिस्सा ही इसमें रुचि लेता है, बाकी मोदी की महिमा में बह जाते हैं। वास्तव में मीडिया का अधिकांश भाग मोदी के चुनाव अभियान में शामिल हो चुका है, जो कि बेहद आपत्तिजनक तथा अलोकतांत्रिक है। लोकतंत्र में छोटे-बड़े सबकी बराबरी की हिस्सेदारी सुनिश्चित की जाती है, मगर मीडिया को मानो इससे कोई लेना-देना ही नहीं है। इसकी पड़ताल ज़रूरी है कि वह इस तरह से व्यवहार क्यों कर रहा है क्योंकि उसी से उसके वास्तविक चरित्र और लक्ष्यों का पता चल सकता है। मीडिया की मोदी-भक्ति के कारण पहले से ही प्रश्नों से घिरे उसके चरित्र को लेकर संदेह बढ़ना लाज़िमी हैं। इसीलिए ये सवाल बार-बार लोगों के मन में उठ रहे हैं कि आख़िर दिन-रात नमो नमो करने के पीछे उसके निहितार्थ क्या हैं?

कहा जा रहा है कि मीडिया पापुलिस्ट एजेंडे (लोकलुभावन कार्यक्रमों) पर चलने का आदी हो गया है, क्योंकि उसे अधिकाधिक मुनाफा चाहिए। इसीलिए बगैर ये सोचे कि लोगों की मानसिक सेहत के लिए फायदेमंद होगा या नुकसानदेह, वह वही परोसता है जो लोग खाना चाहते हैं। ऐसे में खबरिया चैनलों में ख़बरों का एजेंडा पीछे छूट जाता है और वह लोगों के उपभोग के लिए ख़बरों एवं कार्यक्रमों के निर्माण में जुटा रहता है। लेकिन यदि इस निष्कर्ष के साथ हम यहीं जाकर रुक गए तो कभी सचाई तक नहीं पहुंच पाएंगे। ये जानना भी ज़रूरी है कि आख़िर ये पापुलिस्ट एजेंडा आता कहां से है और क्यों आता है?

पॉपुलिस्ट एजेंडे के दो स्रोत हो सकते हैं। पहला तो उसके दर्शक-पाठक वर्ग की मानसिक बनावट और मांग, जो कि उसके बाजार का निर्माण करते हैं। और दूसरा, मीडिया पर प्रभुत्व रखने वाले वर्गों के स्वार्थ।

ये तो सर्वविदित है कि मीडिया का असाधारण विस्तार हुआ है और वह अब विभिन्न वर्गों तक अपनी पैठ बना चुका है, लेकिन उसका मुख्य लक्ष्य मध्य एवं उच्च वित्त वर्ग ही है। इन्हीं वर्गों के पास क्रय क्षमता है इसलिए उसका पूरा जोर इनको संतुष्ट करना होता है। ये वर्ग यूपीए सरकार की कारगुजारियों से बेहद निराश और दुखी हैं। आर्थिक मंदी ने उन्हें हिंदुत्व के गहरे गड्ढे में भी ढकेलना शुरू कर दिया है जिसकी वजह से भी वे बीजेपी एवं नरेंद्र मोदी को विकल्प के रूप में देखने लगे हैं। जाहिर है इस वर्ग को लुभाने के लिए वह उसकी इच्छाओं के अनुरूप सामग्री को गढ़ और परोस रहा है।

मीडिया के नमो नमो की दूसरी वजह उद्योग एवं व्यापार जगत की ये धारणा है कि नरेंद्र मोदी उनके पक्ष में आर्थिक नीतियों को ढालने में मददगार साबित होंगे। मोदी ने गुजरात में बड़े उद्योगपतियों को जमकर रेवड़ियां बांटकर ख़ुश कर दिया है। उन्होंने पूरे प्रशासनतंत्र को उनकी इच्छाओं के अनुरूप ढाल दिया है। जाहिर है उन्हें लगता है कि अगर वे केंद्र में भी आ जाएंगे तो वहां भी उनकी खातिरदारी इसी तरह से की जाएगी। इसलिए वे पूरा जोर लगा रहे हैं। सारी सीमाओं को तोड़कर वे मोदी और उनके द्वारा किए गए तथताकथित विकास की तारीफ करते हैं। ऐसा करते हुए उन्हें न गुजरात दंगे दिखते हैं और न ही उनकी दूसरी कारगुजारियां।

दूसरी ओर कॉरपोरेट जगत यूपीए सरकार से बुरी तरह निराश है। उसे लगता है कि ये सरकार तथाकथित आर्थिक सुधार को उस तेज़ी से आगे नहीं बढ़ा रही है जैसी कि वे चाहते हैं। इसके अलावा वह जनहितकारी नीतियों के नाम पर खाद्य सुरक्षा आदि कार्यक्रमों पर पैसा बरबाद कर रही है। अपनी इसी धारणा की वजह से वह न केवल केंद्र सरकार को निकम्मा और भ्रष्ट बताता रहता है बल्कि उसने मीडिया को भी उसके विरूद्ध तैनात कर दिया है। कॉरपोरेट जगत और उद्योगपतियों द्वारा मोदी की प्रशंसा से और यूपीए की निंदा से मीडिया प्रेरणा ग्रहण करता है और उनकी अपेक्षाओं के अनुरूप सामग्री को आकार देता है।

मीडिया के इस गुप्त एजेंडे को समझने के लिए मीडिया संस्थानों पर कॉरपोरेट जगत के कसते शिकंजे की ओर ध्यान देना होगा। अधिकांश कंपनियों में बड़ी कंपनियों की हिस्सेदारी है और वह लगातार बढ़ती जा रही है। नेटवर्क 18 में अगर मुकेश अंबानी ने मोटा निवेश कर रखा है तो आज तक में कुमारमंगलम बिड़ला का निवेश है। एनडीटीवी में ओसवाल की हिस्सेदारी है। स्पष्ट है कि ये हिस्सेदारी उदासीन होकर काम नहीं कर रही होगी। वह अपना हिस्सा वसूलने के लिए ही शामिल हुई है। दूसरे बहुत सारे मीडिया संस्थान ख़ुद ही कॉरपोरेट बन गए हैं। इससे उनके और दूसरी बड़ी कंपनियों का चरित्र एवं उद्देश्य भी एक समान हो चुके हैं। इसका सीधा सा अर्थ ये हुआ कि मीडिया की लोकतांत्रिक भूमिका को उन्होंने ताख पर रख दिया है और उसका इस्तेमाल वे अपने स्वार्थों के लिए करने में लगे हुए हैं।

इसे साबित करने के लिए बहुत प्रमाण जुटाने की ज़रूरत नहीं है। ये सब जानते हैं कि यदि नरेंद्र मोदी को सुनियोजित ढंग से पेश नहीं किया जाता, बड़े पैमाने पर उनकी छवि निर्माण का काम न किया जाता तो मोदी इस तरह राजनीति के केंद्र नहीं बन सकते थे। बीजेपी की ओर से प्रधानमंत्री पद की दावेदारी हांसिल करने में भी थैलीशाहों की भूमिका थी। अन्यथा उनमें खूबियों से ज़्यादा खामियां हैं। वे गुजरात दंगों के खलनायक थे। उनके राज में फर्ज़ी एनकाउंटर की एक नहीं बीसियों घटनाएं हुईं और अब तो ये सिद्ध भी हो चुका है कि इनमें सरकार एवं प्रशासन की मिलीभगत थी। मोदी के दाहिने हाथ और फर्जी एनकाउंटरों के मामले में अभियुक्त अमित शाह इसके मुख्य कर्ता-धर्ता थे। इसीलिए साहब

के कहने पर वे नेताओं, अफसरों की नहीं महिलाओं तक की जासूसी करवाते थे। मोदी ने सरकारी मशीनरी का संप्रदायीकरण किया और उसका अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ इस्तेमाल भी किया। गुजरात के अंदर लोकतंत्र की जगह मोदी का निरंकुश शासन चल रहा था, चल रहा है। भ्रष्टाचार के मामलों को दबा दिया गया और लोकायुक्त की नियुक्ति तक नहीं होने दी गई। अडानी और अंबानियों को विशेष रियायतें दी गईं। संभव है कि इनमें धन का लेनदेन न हुआ हो मगर ये एक तरह का भ्रष्टाचार ही था, क्योंकि इससे तरह-तरह के लाभ राजनीतिक लाभ उठाए गए।

जाहिर है इन सब चीज़ों को ध्यान में रखने से मोदी की तस्वीर एक उदार, लोकतांत्रिक नेता की कतई नहीं बनती, मगर मीडिया ने उन्हें सुशासन के नायक के रूप में प्रस्तुत किया। उनके तथाकथित विकास के मॉडल को उसने असाधारण खोज एवं उपलब्धि के रूप में प्रचारित किया। गुजरात के विकास के झूठे मनगढंत दावों को सत्य की तरह परोसा। इसके विपरीत कड़वी सचाइयों को सामने लाने से परहेज किया गया। मीडिया ने गुजरात में मानव विकास सूचकांक के आंकड़ों या शिशुओं के कुपोषण के मुद्दों को कभी भी कायदे से नहीं बताया। मकसद साफ़ था। वह मोदी को भावी प्रधानमंत्री के रूप में तैयार करना चाहता था इसलिए उसने उनकी छवि को उजला बनाने के हर संभव उपाय किए।

अमेरिकी विचारक नोम चोम्स्की की मीडिया के बारे में बहुचर्चित अवधारणा सहमति के निर्माण (मैन्यूफैक्चरिंग कंसेंट) को यहां चरितार्थ होते हुए देखा जा सकता है। उनके द्वारा प्रस्तुत किए गए प्रोपेगंडा मॉडल के अनुरूप ही मीडिया व्यवहार कर रहा है और इसमें कॉरपोरेट पूंजी का एक ऐसे राजनीतिक दल के साथ गठजोड़ साफ़ दिखलाई दे रहा है जो पूरी तरह से सांप्रदायिक है मगर सत्ता में आता हुआ दिख रहा है या उसे सत्ता में लाना उसका एजेंडा है। इसके मकसद भी साफ़ हैं और उनकी चर्चा हम ऊपर कर भी चुके हैं।

मीडिया में मोदी को आवश्यकता से अधिक महत्व देने की और भी वजहें हैं। इनमें से एक तो मीडिया में हिंदुत्ववादियों की भरमार होना है। न केवल पत्रकारों में बल्कि मीडिया संस्थानों के स्वामियों में भी उनकी बहुतायत है। उनकी मानसिक बनावट ऐसी है कि उन्हें हिंदुत्व रास आता है और वे अल्पसंख्यकों के ख़िलाफ़ बैर भाव रखते हैं। इसीलिए बीजेपी तथा नरेंद्र मोदी को वे तारणहार की तरह दिखते हैं और वे उनके पक्ष में घटनाओं का कवरेज करने में अतिरिक्त उत्साह दिखाते हैं। धर्म के नाम पर जब राजनीतिक और सामाजिक ध्रुवीकरण तेज़ होता है तो वे भी सांप्रदायिक आधार पर बंट जाते हैं और इसका असर मीडिया में साफ़ दिखने लगता है। मंदिर-मस्जिद विवाद से लेकर आतंकवाद तक हर मामले में उनका ये दुराग्रह देखा जा सकता है। दिक्कत ये है कि मीडियाकर्मियों और मीडियास्वामियों में अधिकांश मोदी को प्रचारित करने के परिणामों को नहीं समझते, क्योंकि न तो वे इतने पढ़े-लिखे हैं और न ही उनमें इतनी सहज बुद्धि है। इसीलिए वे राष्ट्रवाद की आड़ में खड़े हो रहे फ़ासीवाद के ख़तरे को देख नहीं पा रहे। वे सोच नहीं पाते कि देश में गुजरात मॉडल लागू करने का मतलब है फ़ासीवाद की स्थापना, क्योंकि गुजरात में एक अर्ध-फ़ासीवादी सरकार ही राज चला रही है। अगर कुछ लोग इस बारे में सोच भी पा रहे हैं तो या तो स्वार्थों की वजह से चुप हैं या फिर उनकी आवाज़ दबा दी गई है। लेकिन अगर कल को भारत में पिछली सदी के जर्मनी जैसे हालात बनते हैं तो इसके लिए मीडिया भी उतना ज़िम्मेदार होगा जितना कि अंधराष्ट्रवादी राजनीति।

मो. : 09811818858

समकालीन भारतीय चित्रकला पर सांप्रदायिक हमले

मनोज कुलकर्णी

भारतीय चित्रकला में बदलाव का एक दौर पिछली सदी के पूर्वार्ध में आरम्भ हुआ था। अंग्रेज़ों के आगमन से चित्रांकन की नई पद्धतियों और शैलियों से भारतीय चित्रकारों का परिचय हुआ। उसी कालावधि में हुए दो विश्व-युद्धों के भयावह विनाश से हुए बौद्धिक मोहभंग, साम्राज्यवाद के अस्त और समाजवाद के उदय का प्रभाव कला-जगत पर भी पड़ा था, जिनसे अनेक नये कला आंदोलन उभरे। इनमें से कुछ का व्यापक असर दुनिया भर के चित्र-मूर्तिकारों पर हुआ था।

आज़ादी की लड़ाई के दिनों में भारतीय कलाकार भी उद्वेलित और आंदोलित थे। विषयों, बिंबों, प्रतीकों, रुपाकारों आदि में परिवर्तन होने लगे थे। पारंपरिकता तथा आधुनिकता के बीच वाद-विवाद चल पड़ा था। 'स्वदेशी' की पैरोकारी करने वाले कलाकारों का एक वर्ग रुढ़िवाद की हद तक जा पहुंचा था। मगर, बड़ी संख्या ऐसे कलाकारों की थी, जो कला की वैश्विकता के पक्षधर थे और कला को संकीर्ण राष्ट्रवाद से मुक्त रखना चाहते थे। स्वाभाविक ही पुनरुत्थानवादी धारा के मुखालिफ आधुनिकता के आग्रही कलाकारों की आवाज़ अधिक ताकतवर साबित हुई। बीचवीं सदी के चौथे-पांचवें दशक में भारतीय राजनीति और समाज पर गांधीजी के जादुई प्रभाव के बावजूद भारतीय चित्रकारों-मूर्तिकारों का बड़ा हिस्सा साम्यवादी विचारधारा के असर से बच न सका। बंगाल, मुंबई, दिल्ली, मद्रास और लाहौर जैसे मुख्य कला-केंद्रों में सक्रिय कला-समूहों में से अधिकतर वामपंथी थे। इस तरह आधुनिक भारतीय चित्रकला की मुख्य धारा का रुख प्रगतिशील ही रहा।

सांप्रदायिक आधार पर देश विभाजन के कारण, संविधान में धर्म-निरपेक्षता और लोकतंत्र के मूल्य में विश्वास व्यक्त कर देने के बावजूद भारत में सांप्रदायिक ताकतें अपनी जड़ें जमा चुकी थीं, जो समय के साथ मज़बूत ही होती गयी हैं। पिछले ढाई दशकों में बहुसंख्यकों की सांप्रदायिकता में ख़ासा उभार आया है। उनका प्रतिनिधित्व करने वाली राजनीतिक शक्तियां राज-सत्ता पर काबिज होने में सफल रही हैं। यह अंदेशा अकारण नहीं है कि कानून बनाने की संस्थाओं पर इनका वर्चस्व हो जाने पर हमारे देश के सर्वसमावेशी स्वरूप को क्षति पहुंचने के ख़तरे बढ़ जाते हैं। ऐसी शंकाओं को सही साबित करने वाले अनेक उदाहरण हैं। अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर समाजवादी खेमे के बिखरने और नवसाम्राज्यवाद के विस्तार ने राष्ट्रीय स्तर पर इस संकट को बढ़ाया ही है।

अपनी शक्ति बढ़ाने के लिए सांप्रदायिक ताकतें, अपने तर्कशील विरोधियों को ख़ामोश करने या उन्हें हाशिये पर धकेल देने के लिए उनके विरुद्ध अनर्गल कुप्रचार से लेकर हिंसक हमलों तक की

रणनीतियां आजमाती हैं। कला-संस्कृति का वैचारिक क्षेत्र ऐसे आक्रमणों के लिए सर्वाधिक नाजुक समझा जाता रहा है। समकालीन भारतीय कला-जगत पर जब भी सांप्रदायिक ताकतों के हमलों की चर्चा होती है, अक्सर आधुनिक भारतीय चित्रकला के सर्वाधिक चर्चित और विवादास्पद नाम मकबूल फिदा हुसेन पर केंद्रित हो जाती है। जन्मना मुसलमान हुसेन ख़ुद को पांच हज़ार वर्ष पुरानी भारतीय सभ्यता का प्रतिनिधि मानते थे, लिहाज़ा उन्होंने रामायाण-महाभारत जैसी भारतीय महागाथाओं पर सैकड़ों चित्र बनाये। कट्टर हिंदू ताकतों ने लगातार यह कुप्रचार किया कि वे जानते-बूझते हिंदू देवी-देवताओं को नग्न चित्रित करते हैं। फ़ासीवादी प्रवृत्तियों के समर्थकों ने उनके चित्रों पर आरोप लगाया कि वे हिंदुओं की धार्मिक आस्थाओं को ठेस पहुंचाने वाले होते हैं। हुसेन पर 'सांप्रदायिक सौहार्द बिगाड़ने' का आरोप लगा कर मुकदमा दायर किया गया था। इसके बाद भगवा-ब्रिगेड ने हुसेन के ख़िलाफ़ भारत भर की अदालतों में इतने सारे मुकदमे लाद दिये थे कि उनका देश में रहना मुहाल हो गया। विवश होकर उन्होंने आत्म-निर्वासन का रास्ता चुना। लंबे समय तक वे दुबई और लंदन के बीच प्रवासी जीवन जीते रहे। जीवन के नौवें दशक में चल रहे हुसेन ने अपनी मृत्यु से कुछ माह पहले एक राजतंत्र - कतर, के आमंत्रण पर वहां की नागरिकता स्वीकार कर ली थी। दिल्ली न्यायालय द्वारा उनके पक्ष में फैसला दिये जाने के बावजूद, भारत का लोकतंत्र उनकी सुरक्षा का आश्वासन देने में नाकाम सिद्ध हुआ। 9 जून 2011 को लंदन में देहांत हो जाने तक हुसेन स्वदेश नहीं लौट सके।

पिछले दो दशकों में देश में जिस किसी चित्र-प्रदर्शनी, संग्रहालय या संस्था आदि में हुसेन के चित्र रहे, वहां तोड़-फोड़ की गयी। आयोजकों को मजबूर किया गया कि वे हुसेन के चित्रों को हटा दें। कुछ आयोजक शारीरिक हमलों के शिकार भी हुए। उन्हें मुकदमेबाजी में उलझाया गया। अहमदाबाद में हुसेन और प्रख्यात वास्तुविद बी. वी. दोषी द्वारा मिल कर निर्मित 'अमदावाद की गुफा' चित्रकला और वास्तुकला की एक नायाब धरोहर थी। हुसेन के अंध विरोधियों ने उस में आग लगा दी थी। 2008 से दिल्ली में आयोजित होने वाले वार्षिक 'आर्ट-सम्मिट' में हुसेन के चित्रों को प्रदर्शित न करने का अघोषित फरमान, कट्टरपंथी ताकतें जारी करती रही हैं। कॉरपोरेटीकरण के इस बेशर्म दौर में हुसेन के चित्र बेच कर करोड़ों का धन कमाने वाली तमाम कला-दीर्धाओं ने बिना समुचित प्रतिकार के, उक्त धमकियों का पालन ही किया। 'आर्ट-सम्मिट' के आयोजकों की कायरता के विरोध में 'सहमत' ने अलग से 'हुसेन सम्मिट' का आयोजन किया था, जिसमें केवल हुसेन से संबंधित चित्र और छाया-चित्र प्रदर्शित किये थे। वह प्रदर्शनी भी 'संघ-गिरोह' की हिंसा का शिकार हुई। स्थानीय पुलिस ने ऐसे किसी भी मौके पर सुरक्षा के पर्याप्त प्रबंध नहीं किये।

भारतीय सौंदर्य-शास्त्र की मनमानी व्याख्याओं और वर्णवादी नैतिक मूल्यों के हवाले से हुसेन और प्रकारांतर से आधुनिक चित्र-मूर्तिकला को ही आक्रमण की जद में ले आया गया। इस बीच छः वर्षों तक केंद्र में और पश्चिमोत्तर भारत के कुछ प्रदेशों में हिंदूवाद समर्थक सरकारें रहीं। वहां सांप्रदायिक ताकतों को खुल कर अपने एजेंडे लागू करने के अवसर दिये गये। सांप्रदायिक सोच के नुमाइंदों द्वारा राज-सत्ता हासिल कर लिये जाने पर अन्य सामाजिक, सांस्कृतिक सार्वजनिक-संस्थाओं को किस तरह कब्जाया जाता है, इसके अनेक प्रमाण हमारे ताजा इतिहास में मिलते हैं। चित्रकला के क्षेत्र में भी ऐसे अनेक उदाहरण हैं।

यह मामला वर्ष 2000 का है। केंद्र में भाजपा के नेतृत्व वाली सरकार थी। नई दिल्ली स्थित 'राष्ट्रीय

आधुनिक कला दीर्घा' में माह सितंबर में देश के चुनिंदा पच्चीस चित्रकारों के चित्रों की एक प्रदर्शनी 'कंबाइन-वॉइस फॉर द न्यू सेंचुरी' का आयोजन होना था, जिसमें चित्रकार सुरेंद्रन नायर की एक कृति 'एन एक्टर रिहर्सिंग द इंटिरियर मोनोलॉग ऑफ इकेरस' भी शामिल थी। कलाकृति में ग्रीक पुराण का एक पात्र 'इकेरस', अशोक स्तम्भ पर नग्न खड़ा दर्शाया गया था। भारत सरकार के तत्कालीन संस्कृति सचिव ने दीर्घा के निदेशक को निर्देश दिये कि उक्त चित्र राष्ट्रवादियों की भावना को ठेस पहुंचा सकता है, अतः प्रदर्शनी में सम्मिलित न किया जाये। ऐसे ही हवालों से रेखा रोदवित्य और राजेंदर टिक्कू की कृतियों को भी प्रदर्शनी में शामिल न करने की सलाह दी गयी थी, जिनका पालन करने के लिए दीर्घा की तत्कालीन निदेशक तत्पर थीं, लेकिन प्रदर्शनी-संयोजिका के इंकार और कलाकारों के सामूहिक विरोध से अंततः वह प्रदर्शनी ही निरस्त कर दी गयी थी। 'राष्ट्रीय आधुनिक कला दीर्घा' की सलाहकार समिति के एक सदस्य प्रख्यात चित्रकार गुलाम मोहम्मद शेख ने इस किस्म की मनमानी के विरोध में समिति से इस्तीफा दे दिया था। हालांकि फ़ासीवादी प्रवृत्तियों का मकसद तो पूरा हो ही गया था।

भारत में चित्र-मूर्तिकला के अध्ययन के लिए महाराजा सयाजी विश्वविद्यालय, बड़ौदा के ललित कला संकाय की विशेष प्रतिष्ठा रही है। आज चर्चित और स्थापित अनेक चित्रकार और मूर्तिकार यहां पढ़े हैं और पढ़ाते रहे हैं। पिछले कुछ वर्षों में गुजरात में हुई सांप्रदायिक लामबंदी से यह संस्थान भी अछूता नहीं छूटा है। यह घटना मई 2007 की है। संकाय के अंतिम वर्ष के छात्रों की वार्षिक कला-प्रदर्शनी में घुस कर एक छात्र चंद्रमोहन, के चित्रों को 'अश्लील' करार देते हुए, दक्षिणपंथी छात्र संगठन के सदस्यों ने तोड़-फोड़ कर दी थी। उक्त आरोप के आधार पर चित्रकार को गिरफ्तार कर, बाद में जमानत पर रिहा किया गया था। चंद्रमोहन के चित्रों को प्रदर्शनी से हटाने से इंकार करने पर संकाय के तत्कालीन प्रमुख डॉ. शिवजी पणिक्कर को विश्वविद्यालय प्रशासन ने निलंबित कर दिया था। उपद्रवियों के विरुद्ध पुलिस में रिपोर्ट दर्ज कराने की ललित कला संकाय के छात्रों की मांग की अनसुनी कर तत्कालीन कुलपति ने डॉ. पणिक्कर और चंद्रमोहन पर दबाव बनाया था कि वे माफी मांगें। जब छात्रों ने पुलिस के पास शिकायत दर्ज कराने की कोशिश की तो उनकी प्राथमिकी लिखने से ही इंकार कर दिया था। उक्त प्रदर्शनी छात्रों के वार्षिक आकलन का एक चरण थी और बाहरी दर्शक उसमें जा नहीं सकते थे, फिर भी वहां घुस कर हुड़दंगी अपने काम को बेखौफ अंजाम दे गये थे। देश भर के सांस्कृतिक जगत में उठे विरोध के स्वरों का रत्ती भर असर विश्वविद्यालय प्रशासन और स्थानीय पुलिस पर नहीं पड़ा था।

इस घटना के कुछ ही दिनों बाद 15 मई 2007 से भोपाल स्थित बहुकला-केंद्र 'भारत भवन' में किसी 'राष्ट्रीय स्वाभिमान आंदोलन' से जुड़े हुए 'कथित' चित्रकार कैलाश तिवारी की चित्र-प्रदर्शनी आयोजित की गयी। प्रदर्शित चित्रों में मुसलमानों को आतंकवादी चित्रित किया गया था। ऐसे चित्रों का देश की सेकुलर भावना के विरुद्ध होने के आधार पर 'राष्ट्रीय सेकुलर मंच' और कांग्रेस के कार्यकर्ताओं ने विरोध किया। वहां मौजूद 'विश्व हिंदू परिषद' और 'बजरंग दल' के कार्यकर्ताओं का (कु)तर्क था कि कलाकार को अभिव्यक्ति की आज़ादी है। जो लोग हुसेन की अभिव्यक्ति की आज़ादी का सम्मान करने की तरफदारी करते हैं, कैलाश तिवारी का विरोध क्यों कर रहे हैं! उल्लेखनीय है कि वर्ष 2003 में मध्यप्रदेश में भाजपा सरकार आ जाने के बाद से ही कला-संस्कृति के शासन-पोषित संस्थानों के भगवाकरण की मुहिम चलायी जा चुकी थी, तदनुसार 'भारत भवन' न्यास में भी बदलाव किये जा चुके थे।

यह एक सर्वज्ञात तथ्य है कि इन 'सांस्कृतिक राष्ट्रवादियों' का इतिहास-बोध, सौंदर्य-बोध और

दार्शनिक समझ नितांत दरिद्र और फूहड़ है। परंपरा की लगातार दुहाई देने वाली इन ताकतों को न तो भारतीय बिंब-विधान की समझ है, न ही कोणार्क, खजुराहो या दक्षिण भारत के मंदिरों में बिखरी पड़ी सैकड़ों दिगंबर या रति-मग्न मूर्तियों का व्यवस्थित अध्ययन ही इनके किसी पुरोधा ने किया है। किंतु नैतिकता, आस्था, भावना आदि का तर्क दे ये आम लोगो को तात्कालिक तौर पर अपने पक्ष में कर लेने में बहुधा सफल रहते हैं। आज, जब सांप्रदायिक फ़ासीवाद के मजबूत होने के हालात प्रबल होते जा रहे हैं, तब इतिहास, दर्शन, कला, संस्कृति, साहित्य और सौंदर्य-शास्त्र के तर्कशील मस्तिष्कों के एकजुट होने और संभावित विपरीत परिस्थिति से मुकाबले के लिए तैयार रहने की सख्त ज़रूरत है।

मो. : 09424407846

हिंदू राष्ट्रवाद तथा उड़ीसा : अन्य के तौर पर अल्पसंख्यक

अंगना चटर्जी

अक्टूबर 2003 में,अंगना चटर्जी ने 'कम्युनलिज़्म कॉमबैट' के लिए, भारतीय राज्य में हिंदुत्व के राजनैतिक अर्थशास्त्र के विषय में, उड़ीसा पर एक रिपोर्ट लिखी। इस लेख में, वे लगातार संघ परिवार की मोर्चाबंदी का खाका खींचती हैं, उस छाता समूह का जो अनेक हिंदू साम्प्रदायिक संगठनों से मिल कर बना है। इस लेख में जिन सूचनाओं का प्रयोग किया गया है, वे अनेक स्रोतों से ली गई हैं, जिनमें संघ-संगठनों से जुड़े व्यक्तियों के साथ साक्षात्कार भी शामिल है। जैसा कि प्रासंगिक है, उद्धरण अनाम हैं या छद्म नामों का प्रयोग किया गया है, बयान देने वालों के आग्रह पर स्थानों के नाम बदल दिए गए हैं या छोड़ दिये गये हैं। उद्धरणों में दिये गये सारांश लेखिका के हैं। —सं.

'तुम्हारे भगवान की आंखें नहीं, उसकी आत्मा नहीं हो सकती। तुम्हारा भगवान भी हिंसक है, जैसे कि तुम हो' एक हिंदू पड़ोसी हसीना बेगम पर आरोप लगाता है। उड़ीसा के एक छोटे-से कस्बे की एक आवासीय सोसॉयटी में हसीना का परिवार एकमात्र मुस्लिम परिवार है। ये लोग 2003 में यहां आए थे। हसीना व उसके पति इस इलाके में नियुक्त हैं व उनकी बहुत कम जान-पहचान है। एक हिंदू महिला गीता ने हसीना से दोस्ती की, तो दूसरे लोगों ने मुसलमानों के साथ इस ताल्लुक का विरोध किया। गीता ने धीरे-धीरे अपने को खींच लिया, यह कह कर कि 'हम तुम्हें पसंद करते हैं, पर हमें इस सोसॉयटी में रहना है, हम तुम्हें साथ ले के चलें या उन्हें? हमारे पास क्या विकल्प है?' अब गीता व हसीना आपस में बात नहीं करतीं।

हसीना बेगम मुझे बताती है, 'हम जानते हैं कि बहुत से हिंदू मुसलमानों से नफरत करते हैं और मैं जानती हूं कि हिंदू सत्ता में हैं। मैं अपनी बेटी के लिए डरती हूं। मैं चाहती हूं वह मेरे साथ घर में रहे। पर वह सुनती नहीं। कितनी बार मुझे उसके लिए डर लगता है, मैं उसे घर में रखने के लिए उसकी पिटाई भी करती हूं। उसकी पीठ पर मेरी मार के निशान हैं। मैं शर्मिन्दा हूं। मैं अपने आपको अकेला महसूस करती हूं। यदि हमारे साथ कुछ हो जाए, कोई हम पर हमला करे, लूटे तो कौन हमारा साथ देगा?

---

* अंगना चटर्जी कैलिफोर्निया इन्स्टीटयूट ऑफ इन्टेग्रल स्टडीज में सामाजिक व सांस्कृतिक नृविज्ञान में सह-प्राध्यापक हैं। आजकल वे जो पुस्तक लिख रही हैं, उसका शीर्षक है 'हिंसक देवता, वर्तमान भारत में हिंदू राष्ट्रवाद' और यह देहली के थ्री एसेज प्रेस कलेक्टिव द्वारा प्रकाशित की जाएगी। यह लेख सबसे पहले कम्युनलिज़्म कॉमबैट के फरवरी-मार्च 2004 के अंक, नंबर 96 में छपा।

हमसे पूछा जाता है, 'तुम्हारी तो कोई मूर्तियां नहीं हैं, तो तुम्हारा भगवान कौन है? क्या तुम बिना भगवान के हो?' मैं जानती हूं कि कोई नहीं चाहता कि हम यहां रहें। हम 'पठानों' के बारे में कई कहानियां बाजार में कही जाती हैं। हमने गुजरात के बारे में सुना है।' लोग हसीना को कहते हैं कि कुछ भी नहीं हुआ है, उस पर कोई हमला नहीं हुआ है, कि वह ज़्यादा ही प्रतिक्रिया कर रही है। वह कहती है, 'मुझे डर लग रहा है, मुझे लगता है, वे मुझे देख रहे हैं।'

सुभाष चौहान, हिंदुत्व के सैन्यदल के राज्य संयोजक, दावा करते हैं, 'देश में उड़ीसा दूसरा हिंदू राज्य है। आज ईसाई मिशनरी तथा इस्लाम, दोनों पूर प्रदेश को ईसाई व इस्लाम में बदलना चाहते हैं। आदिवासी इलाकों में लोगों को ईसाई तथा हरिजनों को मुस्लिम बनाने की योजना बनाते रहे हैं। यह काम उड़ीसा में बड़े जोर-शोर से चल रहा है। यही कारण है कि बजरंग दल और वी.एच.पी. (विश्व हिंदू परिषद) ने उड़ीसा में हिंदू शक्ति को दृढ़ करने का काम हाथ में लिया है। पूरे राज्य में हमने कुछ (महत्वपूर्ण) जिलों को चुना है, जैसे ईसाई-प्रधान सुंदरगढ़, गजपति, फूलबनी, क्योंझर, मयूरभंज, कोरापुट, नवरंगपुर.... हम यहां सेवा-कार्य कर रहे हैं, हस्पताल, एक-अध्यापक स्कूल, हरि कथा योजना, अनाथालय, इस तरह की योजनाएं और सेवा-कार्य पूरे राज्य में किया जा रहा है।'

एक धर्मनिरपेक्ष कार्यकर्ता का जवाब है, 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (आर. एस.एस.) तथा संघ परिवार (1999 में) सॉइक्लोन के साथ ही पहुंचे, और अब हम उनमें डूब रहे हैं। वे संख्या में बहुत अधिक हैं और सब जगह मौजूद हैं। जो लोग उनका कहा मानते हैं, उनके लिए वे दयालु व दाता हैं, लेकिन जो उनकी बात नहीं मानते, उनके प्रति वे सावधान व असहनशील रहते हैं। वे सरकार से ज़्यादा काम करते हैं, बहुत मेहनत करते हैं और कहते हैं कि वे भ्रष्टाचार के विरुद्ध हैं। लेकिन इसकी लागत क्या है? वे 'साफ़' उड़ीसा चाहते हैं, गंदगी साफ़ कर रहे हैं, और ईसाई व मुस्लिम वह गंदगी है जिसे वे साफ़ करना चाहते हैं।'

नागरिक समूहों ने राज्य में सांप्रदायिकता के विरुद्ध संघर्ष करने के लिए अनेक अभियान चलाए हैं। 2002 से, बहरामपुर, कटक, बालासोर, भद्रक, भुबनेश्वर और सम्बलपुर में धर्मनिरपेक्ष मीटिंगें और मार्च हुए हैं। समुदायों व नागरिकों के नेता गठबंधन बनाने की बात करते हैं। वे भारतीय जनता पार्टी (बी.जे.पी.) और संघ परिवार की निगरानी-समिति के सदस्यों के साथ साझेदारी करने को व्यर्थ बताते हैं, यह चेतावनी देते हुए कि गठबंधन बनाने के लिए एक-सी प्रतिबद्धताएं होने की ज़रूरत हैं। वे पूरे राज्य में प्रगतिशील, जनवादी शक्तियों को लाभबंद होने का आह्वान करते हैं।

संपूर्ण उड़ीसा में, भूमि-सुधार आंदोलन, स्वयम् अपना रास्ता निर्धारित करने के लिए आदिवासियों व दलितों का संगठन और *अभिजात वर्गों* के विकास से होने वाली बर्बादी से टक्कर लेने के लिए होने वाले विरोध आंदोलन, संघ परिवार की बढ़त के आगे दीवार का काम करते हैं। आदिवासियों व दलितों का आत्म-निर्णय राज्य के विरोध के बावजूद कायम है। आदिवासी एवं दलित, राजनीतिक संदर्भों में, अपने आप को हिंदूं नहीं मानते तथा ब्राह्मणवादी (तथा अभिजात-वर्गीय) सामाजिक व्यवस्था में अपने-आपको शामिल किए जाने का विरोध करते हैं। भारत जैये एक हिंदू-बहुसंख्यक राज्य में, ब्राह्मणवाद हिंदू होने के 'परमाधिकार को सुदृढ़ करता है तथा मानदंडों, मूल्यों, नीतिशास्त्र व सदाचार को परिभाषित करता है। अल्पसंख्यक तथा हाशिए पर रहने वाले समूहों को ब्राह्ममणवाद की राजनीतिक व आर्थिक हिंसा का शिकार होना पड़ता है जिस के माध्यम से वे अपनी राजनीतिक व सांस्कृतिक

आकांक्षाओं का निर्धारण करने के लिए विवश किए जाते है।

धर्मनिरपेक्ष कार्यकर्ता आगे कहता है, '(बदले की भावना से) संघ परिवार खनन क्षेत्र में तथा उड़ीसा के सभी संवेदनशील व आदिवासी इलाकों में अपनी स्थिति को सुदृढ़ कर रहा है व जहां भी आत्म-निर्णय के लिए दलितों व आदिवासियों के लोकप्रिय संघर्ष होते हैं, उन्हें नीचे से काटने की कोशिश करता है। खनन के क्षेत्र में कई घटनाएं घटित हो रही हैं जहां संघ उन ग़रीब लोगों को विभाजित करता है जो निगमों द्वारा निकाले जाने पर विरोध में संगठित होने की कोशिश करते हैं।' नयागढ़ जिले में, दलित समुदाय हिंदुत्व के सर्वभक्षी मार्च के गवाह हैं। वे बताते हैं कि किस तरह हिंदुत्ववादी ऐसी विद्वेषपूर्ण कहानियों का प्रसार करते हैं कि ईसाई मिशनरियों का काम हिंदू धर्म के लिए ख़तरा पैदा कर रहा है। दलित, आदिवासी, ईसाई, हिंदू व मुसलमान बताते हैं कि किस प्रकार उनके गांव व पानी के स्रोत एक दूसरे से मिले हुए हैं व फसलें एक-दूसरे की ज़मीन से आने वाले पानी पर निर्भर करती हैं।

1980 के दशक के मध्य में, जबर्दस्त लामबंदी के परिणामस्वरूप, जगन्नाथ यात्रा उड़ीसा के हिंदू, ईसाई, दलित व आदिवासी गांवों में से गुजरी। यात्रा मार्च 1986 व मई 1988 के दौरान हज़ारों स्थानों से होकर निकली व प्रत्येक स्थान में तीन-चार सौ लोग इकट्ठे हुए। स्थानीय लोगों ने खर्च वहन किया जो कि 20 से 40 लाख रुपये के बीच था। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप, 500 कमेटियों की देखरेख में 1600 स्थायी लामबंदी इकाइयों की स्थापना हुई। इन इकाइयों को वी.एच.पी. और वनवासी कल्याण आश्रम चलाते हैं और यह काम वे कीर्तन-मंडलों, सत्संगों तथा युवक-केंद्रों के माध्यम से करते हैं।

आजकल, संपूर्ण राज्य में वार्षिक जगन्नाथ यात्रा तथा हिंदुत्ववादियों द्वारा संगठित धार्मिक-राष्ट्रवादी आयोजन चलते रहते हैं। संघ परिवार के विरोध में, आत्मनिर्णय आंदोलनों से जुड़े हुए मुस्लिम और दलित-आदिवासी समूह भयभीत हैं क्योंकि गर्जना करने वाली उत्तेजित भीड़ उनके गांवों को घेर लेती है। 11 अप्रैल 2003 को, भुबनेश्वर से 400 किलोमीटर की दूरी पर स्थित औद्योगिक नगर राजगंगापुर में, रामनवमी के अवसर पर हनुमान जलूस के दौरान संप्रदायिक तनाव फैल गया। पुलिस गोलीवारी में दो लोग मारे गए।

पिछले दशक के दौरान, संघ ने 30 बड़े संगठन खड़े कर लिए है जिनमें राजनीतिक, खैराती, लड़ाकू व शैक्षणिक समूह शामिल हैं। व्यापार व छात्र-संघ, महिला संगठन जिनकी सदस्य-संख्या लाखों में है; राज्य में वालंटियरों की यह सबसे बड़ी भर्ती है। प्रकल्प समन्वय समिति संघ का एक केंद्रीय संगठन है जो विभिन्न धार्मिक व कल्याणकारी संस्थाओं के क्रियाकलापों का आयोजन करती है। प्रकल्प समिति चाकापद में एक स्कूल चलाती है, छात्रावास, 20 साप्ताहिक बालवाड़ियां और 300 रात्रि-स्कूल। यह प्रतिमास दवा-वितरण केंदों व गश्ती वाहनों के माध्यम से 20,000 रोगियों को देखती है। प्रकल्प समिति ईसाइयों को हिंदू धर्म की ओर लाती है।

आर.एस.एस. का कहना है कि उड़ीसा में मिशनरियों के कार्यकलाप, जिसके परिणाम स्वरूप ईसाई जन संख्या में वृद्धि होती है, के प्रत्युत्तर में हिंदूकरण 'तार्किक' व आवश्यक है। अनेक ग्रुप यह ज़रूरी मानते हैं कि हिंदुत्व, ईसाई मिशनरियों व इस्लामी तत्ववाद का मूल्यांकन करने में 'समान' शक्ति लगाई जाए। दक्षिण एशिया में निश्चित तौर पर हिंसक इस्लामी तत्ववाद के गहन अध्ययन की ज़रूरत है, जबकि भारत में हिंदुत्व के अध्ययन पर विशेष ज़ोर देना चाहिए। हिंदू राष्ट्रवाद उस राज्य से जुड़ा हुआ है, जो हिंदुत्ववादियों को कार्रवाइयों की आज्ञा देता है और उन्हें ख़तरनाक वैधता देता है।

वर्तमान बुश-प्रशासन उस तत्ववादी ईसाइयत का समर्थन करता है, जिसका संबंध अमरीका से है। इस बात के प्रमाण हैं कि लातीनी अमरीका व अन्य स्थानों में गुप्तचर कार्रवाइयों में (अमरीकी) ईसाई प्रचारकों का हाथ है। ऐसी कार्रवाई और भारत के साथ उसके संबंध के बारे में हमें तभी चिंता करनी चाहिए जब वह वास्तव में हो रही हो। उड़ीसा में ईसाइयों की संख्या कुल जनसंख्या के तीन प्रतिशत से भी कम है और उसमें 1981 के बाद से एक प्रतिशत की वृद्धि हुई है। भारत में भी ईसाई जनसंख्या के प्रतिशत में कोई विशेष वृद्धि नहीं हुई—1971 में 2.6 प्रतिशत, 1981 में 2.43, 1991 में 2.34 व 2001 में 2.6 प्रतिशत।

संघ परिवार अल्पसंख्यकों को प्रमुख हिंदू धर्म में धर्मान्तरित करता है और जबर्दस्ती धर्म परिवर्तन व धर्म परिवर्तन के अधिकार में कोई फर्क नहीं करता तथा धर्मान्तरित लोगों का अपने परपीड़नशील लक्ष्यों के लिए इस्तेमाल करता है। संघ इस सच्चाई को स्वीकार नहीं करता कि आदिवासियों व दलितों का ईसाइयत में धर्मान्तरण आमतौर पर जबर्दस्ती नहीं होता बल्कि अत्याचारी गहरी जातिगत असमानताओं, लैंगिक हिंसा व दीर्घकालीन निर्धनता के विरोध में होता है। संघ के इस दावे के कारण कि ईसाई भारत में राष्ट्र-विरोधी हैं, उनके ख़िलाफ़ हिंसा करना आसान हो जाता है। दलित ईसाई कार्यकर्ता सशक्तीकरण चाहते हैं और समझते हैं कि हिंदुत्व के खिलाफ लड़ने के लिए जाति का खात्मा ज़रूरी है। वे चर्च द्वारा उत्पन्न की गई उन अंदरूनी असमानताओं को भी चुनौती देने की बात करते हैं जिन के कारण रविवार प्रातः को आसन उन अनुपालकर्ता लोगों द्वारा भरे होते हैं जो जातिगत क्रम-परंपरा के अनुसार कतारों में बैठे होते हैं।

संघ के जबर्दस्त हमले के कारण अधिकार वंचित लोग जाति-व्यवस्था के ढांचे में कैद एक दोषपूर्ण राजनैतिक अर्थव्यवस्था में संगठित हो जाते हैं। संबलपुर में काम करने वाले आर.एस.एस के कार्यकर्ता इस बात पर ज़ोर देते हैं कि आदिवासियों और दलितों को हिंदू धर्म में धर्मान्तरित करना निहायत ज़रूरी है। वे आदिवासियों की रैलियां करते हैं जिन में 'गर्व से कहो हम हिंदू हैं' की पुकार हवा को चीरती है। आर. एस.एस का पदाधिकारी बादल सत्पथी उड़ीसा में आदिवासियों के धर्मान्तरण पर जोर देता है। 'वनवासियों (आदिवासियों का एक अनादरपूर्ण नाम) को सरकार ज़मीन देती है। यदि वनवासी अपने आपको हिंदू धर्म के बाहर समझते हैं, तो उनकी ज़मीन भी ग़ैर-हिंदू जमीन होगी जो विकास-विरोधी होगी और देश की बेहतरी के लिए उसका इसतेमाल नहीं किया जा सकता। भारत एक हिंदू राष्ट्र है, और ये लोग और इनकी ज़मीन राष्ट्र विरोधी है।'

किसका राष्ट्र? आदिवासी देश की जनसंख्या का 8.1 प्रतिशत हैं, लेकिन विस्थापित जनसंख्या का 40 प्रतिशत है। 1956 का अचल संपत्ति का हस्तांतरण (अनुसूचित जन-जातियों द्वारा) विनियमन अनुसूचित क्षेत्रों में ज़मीन के हस्तान्तरण की मनाही करता है। अनुसूचित क्षेत्रों के बाहर, 1960 के उड़ीसा भूमिसुधार कानून तथा उसमें बाद के संशोधनों के अनुसार भी आदिवासियों से ज़मीन लेने की मनाही है। व्यवहार में बड़े पैमाने पर 'भूमि हथियाना' हुआ है जिसके कई कारण हैं—ऋण-ग्रस्तता, पट्टे पर ज़मीन लेने से संबंधित अनुबंध और बड़े किसानों व साहूकारों के यहां आदिवासी व दलित द्वारा ज़मीनों को गिरवी रखना, बड़ी जोतों की चकबंदी, रणनीतिक विवाह-संबंध और भ्रष्टाचार।

वन्य गांवों में रहने वाले आदिवासियों को आमतौर पर बेदखल कर दिया जाता है और ज़मीन पर उनके अधिकार को नहीं माना जाता क्योंकि राज्य 'स्वामित्व' और 'निवास' का प्रमाण मांगता है। ऐसी

मांगें उस धोखाधड़ी को दिखाती हैं जिससे पुराने दावों को नई सीमाओं, नक्शों, सड़कों, व चुंगियों के आधार पर खारिज किया जाता है और आदिवासी की रोज़मर्रा की ज़िंदगी में हिंसा का प्रवेश हो जाता है। आदिवासियों के कथनों को राज्य-तंत्र द्वारा 'झूठ' बना दिया जाता है। एक गोंड आदिवासी बुजुर्ग का बयान है, 'हम जंगल के गांव में रहते हैं। हम कई पीढ़ियों से यहां रह रहे है। हमारे घर स्थानीय मिट्टी से बने हैं और छतें जंगली पत्तों से। हमारे खान-पान, विचारों, भाषा सबसे पता चलता है कि हम यहां के रहने वाले है। हमारे तालाबों में आप हमारे पूर्वजों की छाया देख सकते हैं, हमारे गीत पक्षियों की नकल करते हैं और जंगल की कहानियां सुनाते हैं, हमारे पैर बारबार इस ज़मीन पर पड़ते हैं। यही (निशान) हमारी ज़मीन के दस्तावेज हैं। वनाधिकारी हमारी बात पर विश्वास नहीं करता। हमारी ज़िंदगी उनके लिए झूठ है।'

आज भारत में 86 प्रतिशत दलित परिवार भूमिहीन हैं। या बहुत छोटे किसान हैं, जिनमें 63 प्रतिशत दैनिक मज़दूरी से मिलने वाली आय पर गुज़ारा करते हैं। दलितों पर संस्थागत रूप से सामाजिक हिंसा की जाती है। आदिवासी और दलित अधिकारों को वैधता प्रदान करने की प्रक्रिया अन्याय से भरी रही है और जनजातियों को अधिसूचित करने या उससे हटाने को अक्सर एक राजनैतिक हथियार के रूप में इस्तेमाल किया जाता है जिससे राज्य के समक्ष उनकी पदवी, दावों और अधिकारों को मान्यता देकर उनके आत्मनिर्णय पर चोट की जा सके। वन्य ज़मीनों पर आदिवासियों के कब्जे को काटने की प्रक्रिया ने उड़ीसा के सांस्कृतिक जनसंहार में योगदान किया है और इससे राष्ट्रीय क्षेत्र के समेकन व निगमीय उदारीकरण को बल मिला है।

जुलाई 2003 में, उड़ीसा सरकार ने शेड्यूल के क्षेत्रों में, ज़मीनों को अवैध रूप से खनन व औद्योगिक उपयोग के लिए हस्तान्तरित करने की इज़ाज़त दे दी। उड़ीसा का यह निर्णय 1997 के समता बनाम आन्ध्र प्रदेश फैसले के विरुद्ध है जिसमें सर्वोच्य न्यायालय ने सरकार द्वारा, अनुसूचित क्षेत्रों में आदिवासी वन्य व अन्य ज़मीनों को खनन व औद्योगिक उपयोग के लिए ग़ैर-आदिवासियों को देने का विरोध किया था।

जनवरी, 2004 के शुरू में, दक्षिण-पूर्वी कालाहांडी ज़िले में, स्टॅर्लाइट उद्योग-समूह जो काशीपुर के पास लाजीगढ़ में एक अल्युमिनियम रिफाइनरी बना रहा है, ने चार आदिवासी गांवों (बोरोमोता, किनारी, कोटदुआर, सिंधाबाहिली) और उनकी खेती की ज़मीनों को उजाड़ दिया। स्टॅर्लाइट के वित्त का प्रबंध उसकी साझेदार कंपनी वेदान्त रिसोर्सेज़ करती है। ये दोनों कंपनियां जो दिसंबर 2003 में लंदन में शुरू की गई थीं, इन्हें प्रवासी भारतीय चलाते हैं। कंपनी के चेयरमैन और प्रबंध निदेशक अनिल अग्रवाल ने कहा कि उसे समता फैसले के बारे में पता नहीं था। लांजीगढ़ प्रोजेक्ट नियामगिरी पहाड़ों के उत्तर-पश्चिमी कोण से 400 फुट की दूरी पर बाक्सॉइट निकालेगा। गांववासी, जिनको उचित मुआवजे व पुनर्स्थापन के जबर्दस्ती बेदखल किया गया, पुलिस 'सुरक्षा' में कैंपों में रह रहे हैं।

उड़ीसा में राज्य-समर्थित विकास ग़रीबों को जबर्दस्ती प्रधान व्यवस्था में शामिल करता है। संघ परिवार ने इस असमान मिश्रण को बनाने के लिए बीजू जनता दल-भाजपा की गठबंधन सरकार के साथ मिल कर षड्यन्त्र रचा है। संघ के कार्यकर्ता सरकार द्वारा चलाई जाने वाली विकास एजेंसियों, जैसे सी. ए.पी.ए. आर.टी. में गहरे तक घुसे हुए हैं। यह संस्था उड़ीसा में आर.एस.एस. की अनेक योजनाएं चलाती है और सरकारी पैसे को हिंदुत्व के लिए इस्तेमाल करती है।

आर.एस.एस. के बादल सत्पथी कहते हैं, 'सारी समस्या इसीलिए पैदा होती है क्योंकि ये लोग (दलित, आदिवासी) दूसरों के साथ मिलते नहीं। ये विशेष अधिकार क्यों मांगते है? मातृभूमि हम सब के लिए अच्छी है। ये लोग कामचोर हैं, गंदगी में रहते हैं व अशिक्षित हैं। हम उन्हें सभ्य बनाए बगैर गंभीरता से कैसे ले सकते हैं? आर.एस.एस. गरीबों के कल्याण के लिए इस उद्देश्य को पूरा करने में मदद करना चाहता है। सब से पहले, आर.एस.एस. हिंदू दलितों को लाभबंद कर रहा है और उन्हें अपने धर्म से बाहर जाने के नुकसान बता रहा है। फिर हम ईसाई दलितों और आदिवासियों को शिक्षा व पुनः धर्मान्तरण के माध्यम से हिंदू धर्म में वापिस लाते हैं। हम उनकी आर्थिक रूप से भी मदद करते हैं।'

मैंने एक दलित आर.एस.एस. कार्यकर्ता से बात की जिसने कहा, 'आर.एस.एस. हमें हिंदू समाज के निर्माण में मदद कर रहा है। हम गरीब हैं, हमें कोई मदद नहीं है, हम विकास कोष के लिए ईसाइयों व मुसलमानों के साथ लड़ते हैं। ईसाइयों के पास तो विदेशी मिशनरी पैसा है, हम हिंदू दलितों के पास क्या है? ईसाई हमारे लोगों को भी अपने धर्म में भर्ती कर रहे हैं। वे मांस खाते हैं, चमड़ा छूते हैं और उनके नैतिक मूल्य कुछ नहीं हैं। मुझे अपने बच्चों के लिए डर लगता है। शुक्र है कि आर.एस.एस. ने हमारी रक्षा करने का वायदा किया है।' अंगना चटर्जी, 'क्या आपने इन ईसाई मिशनरियों को देखा है?' दलित आर.एस.एस. कार्यकर्ता, 'नहीं, पर मैंने सुना है कि वे आसपास ही हैं। अंगना चटर्जी, 'आपके गांव में या आपके पड़ोसी गांवों में कितने हिंदुओं का धर्मान्तरण हुआ है?' दलित आर.एस.एस. कार्यकर्ता, 'अभी तक तो किसी का नहीं, पर आर.एस.एस. ने बताया कि वे (मिशनरी) शायद जल्दी ही आएं। इसीलिए हम आर.एस.एस. की मीटिंगों में जाते हैं, ताकि हमारे सामने जो मुसीबत है, उसके बारे में हमें पता चले, और यह भी कि हम कैसे मजबूत बन कर अपनी रक्षा कर सकते हैं और इन विदेशियों के खिलाफ एक फौज बन सकते हैं।' दलितों का सामाजिक बहिष्कार और आर्थिक विषमत लगातार जारी है। जिन हिंदुत्व शक्तियों ने उन्हें ऐतिहासिक रूप से समान अधिकारों से वंचित किया है, उन्हीं में उन्हें शामिल करने की चाल चली जाती है।

दिसंबर 2003 में भुबनेश्वर में वनवासी कल्याण आश्रम द्वारा आयोजित 15000 लोगों की रैली में, राष्ट्रीय अनुसूचित जाति व जनजाति कमीशन के अध्यक्ष दिलीप सिंह भूरिया ने बी.जे.पी. की आदिवासी-समर्थक नीतियों की प्रशंसा की। आज तक उड़ीसा में आदिवासी कांग्रेस पार्टी को वोट देते रहे हैं, पर इस वफादारी से उन्हें कुछ फायदा नहीं हुआ। श्री भूरिया ने कहा, 'हम रामराज्य जैसे चरण में से गुज़र रहे हैं,' जहां राम भगवान है। और बी.जे.पी. आदिवासियों की पार्टी है। वनवासी कल्याण आश्रम के अध्यक्ष जगदेव राम ओरम का आग्रह है कि जो आदिवासी ईसाई बन जाते हैं, उन्हें आरक्षण का लाभ उठाने की इज़ाज़त नहीं होनी चाहिए। उन्होंने कहा कि दूसरे धर्म को अपना कर वे आदिवासी नहीं रहते। वक्ताओं ने ईसाई धर्म में भर्ती की निंदा की और घोषणा की कि 'सभी आदिवासी हिंदू हैं।'

एकल विद्यालयों में आदिवासियों को यह पढ़ाया जाता है कि जगन्नाथ की 'उत्पत्ति' हिंदू धर्म में हुई, इस तरह आदिवासी देवता जगन्नाथ का हिंदूकरण किया जाता है। सरस्वती शिशु मदिरों की शुरुआत से, जनता दल, कांग्रेस व अन्य राजनीतिक पार्टियों ने संघ परिवार की शिक्षा-संस्थाओं के जाल का समर्थन किया है और हिंदुत्व शिक्षा को धर्म-निरपेक्ष माना है। एक के बाद एक सरकार ने राज्य में बढ़िया शिक्षा-व्यवस्था का निर्माण करने की अपनी जिम्मेदारी का परित्याग किया है। गैर-हिंदू परंपराओं और

संस्कृतियों के तिरस्कार के साथ-साथ दलितों व आदिवासियों में निरक्षरता की बहुत ऊंची दर चल रही है।

पेशेवर व्यावहारिक शिक्षा-संस्थाओं के अभाव में, हिंदुत्व शिक्षा मुफ्त, सब को उपलब्ध व कड़ा पाठ्यक्रम प्रदान करती है। इन स्कूलों के बच्चे राज्य की बोर्ड परीक्षाओं में सफल होते हैं। हिंदुत्व स्कूलों को मुख्यतः आर.एस.एस. के संगठन चलाते हैं व अन्य संगठन बच्चों पर सांस्कृतिक अनुशासन लादते हैं। इस पाठ्यक्रम में अल्पसंख्यकों के प्रति पैदा की जाने वाली घृणा और हिंदू धर्म की सर्वोच्यता के दावे को हिंदू नज़रअंदाज़ करते हैं।

इस तरह के वातावरण में, अनेक मुसलमान मदरसों की शरण लेते हैं। मदरसे आमतौर पर रुढ़िवाद सिखाते हैं जिसे बहुसंख्यक समुदाय जानबूझ कर 'तत्ववाद' के रूप में पेश करता है। हसीना बेगम कहती है, 'मेरी बेटी एक अच्छे स्कूल में पढ़ती है, पर उन बच्चों के साथ जो उसे पसंद नहीं करते। वह पड़ोसी बच्चों के साथ खेलना चाहती है, पर वे उसे गालियां देते हैं। वे उसे धक्के भी देते हैं। अब हम सोचते हैं कि उसके लिए एक मदरसा खोजें। मदरसा दकियानूसी होगा, पर हमारी रक्षा करेगा। स्कूल की शिक्षा तो बेहतर है, पर यदि उसे कुछ हो गया तो?'

मुस्लिम समुदायों के सामाजिक और आर्थिक स्वास्थ्य पर संघ परिवार के बुरे प्रभाव स्पष्ट हैं। भद्रक का एक मुसलमान शम्सुल अमीन कहता है, 'हमारा चमड़े का काम है, हमेशा से रहा है। आर.एस.एस. और बजरंग दल वाले झूठ बोलते हैं कि हम हिंदुओं का अपमान करने के लिए गऊओं को काटते हैं, कि हम गायों को मारकर बंगलादेश के मुसलमानों को भेजते हैं।' जगतसिंह पुर का एक मुसलमान व्यापारी इसकी पुष्टि करता है, 'वे भद्रक, बालासोर से लेकर कलकत्ते तक मुसलमानों को धमकाते हैं और सड़क पर उनकी पिटाई करते हैं। कलकत्ते में बजरंग दल संख्या में मजबूत है, और हिंसक भी। वे जाजपुर रोड पर गायों के परिवहन को भी रोकते है।'

सुभाष चौहान, बजरंग दल का संयोजक, आरोप लगाता है, 'इतनी गायों की हत्या की जाती है, जैसे कि सुंदरगढ़ व भद्रक में हज़ारों गायों की हत्या होती है। प्रतिदिन गायों के 200 ट्रक बंगलादेश के लिए निकलते हैं। हम मानते हैं कि गऊ हमारी माता है, पर वे उसकी हत्या करना चाहते हैं। घर में गाय के होने से आर्थिक सुरक्षा मिलती है। इसलिए, यदि ज़रूरी हुआ तो हम आत्मघाती दस्ते का प्रयोग करेंगे। देश को और उसकी संस्कृति को बचाने के लिए जो भी ज़रूरी होगा, हम करेंगे।'

जगतसिंहपुर जिले के पिताईपुरा गांव में 2001 के शीतकाल में एक बहुत ही खराब घटना हुई जब मुसलमानों की कब्रों की ज़मीन पर झगड़ा हो गया। गांव के एक निवासी हाकिमभाई के अनुसार, 'गांव के भूमि-रिकॉर्डों के अनुसार, 25 एकड़ जमीन दो प्लॉटो में विभाजित है, एक कब्रिस्तान और दूसरा 'गोरोस्तान' (वह भी कब्रिस्तान है)। लेकिन गांववासी कहते हैं कि 'गोरोस्तान 'गोचर' (चराई की ज़मीन) है, कब्रिस्तान नहीं। हम ईद में नमाज़ पढ़ते थे, तो हमें परेशान किया जाता था। हम मामला सुलझाने के लिए इकट्ठे बैठे, लेकिन कोई नतीजा नहीं निकला। फिर हमने कोर्ट में मुकदमा किया। कोर्ट ने भी बहुत देर तक झगड़े का कोई हल नहीं निकाला। फिर कोर्ट ने बीच-बचाव करके ज़मीन के एक हिस्से को कब्रिस्तान घोषित कर दिया और दूसरे हिस्से को विवादित। एक बार जब सरकारी अधिकारी को ज़मीन मापने के लिए आना था, उससे एक रात पहले गांव के हिंदू चुपके से कब्रिस्तान में घुसे और वहां एक मूर्ति रख दी ताकि वह ज़मीन उनकी हो जाए। हमें पता चला, तो हम अन्दर गए और हमने

मूर्ति निकाल दी। अगली सुबह जब सरकारी कर्मचारी आया, तो हिंदू बहुत गुस्से में थे कि हमने मूर्ति निकाल दी। उन्होंने हम पर पत्थर फेंके, हमने भी वापिस पत्थर फेंके। भीड़ एक दूसरे प पत्थर मारती भाग गई। हम मां दुर्गा के मंदिर के पास थे। हिंदू मंदिर पर पत्थर मारने का इल्ज़ाम लगाने लगे। फिर सब शुरू हो गया।'

दूसरे निवासी ने कहा, 'शायद हमारे पत्थर मंदिर के आंगन में गिर गए थे। लेकिन हम मंदिर को नुकसान नहीं पहुंचा रहे थे, एक दूसरे के हमले का जवाब दे रहे थे। एक बार जब बात फैली कि हम मंदिर को नष्ट कर रहे थे, भुबनेश्वर से आर.एस.एस. के युवा कार्यकर्ता आ गए और पड़ोसी गांवों से भी लोगों को इकट्ठा कर लाए। वे लाऊडस्पीकरों के साथ हम पर मंदिर तोड़ने का इल्ज़ाम लगाते हुए, 20-30 हिंदू गांवों में घूमे। हमारी बस्ती गांव के बीच में है और चारों ओर हिंदू गांव हैं। हमारी बस्ती में 5 मुसलमान के घर जलाए गए और पुरुषों को पीटा गया। पुलिस कुछ नहीं कर पाई। उस दौरान, तीन दिन तक हम डर के मारे जंगलों में छुपे रहे। गांव में एक शांति-जलूस आया। वे (हिंदू) वापिस नहीं गए। मामला वैसे ही पड़ा हुआ है, कोई हल नहीं निकला। यदि हमें इसी तरह छोड़ दिया गया, तो स्थिति खराब हो सकती है। फिर क्या?' हाकिम भाई जवाब देते हैं, 'इस घटना के बाद से, आर. एस.एस. लगातार हिंदू गांवों में मीटिंगें कर रहा है। इन मीटिंगों का खुला प्रचार नहीं किया जाता, मुंह-जुबानी संदेश दिए जाते हैं। हम मुसलमानों ने अब बस्ती में अपनी दुकानें बनाली हैं और हम अपने अंदर सिमट गए हैं। हमारी औरतें इतनी डरी हुई हैं कि बस्ती से बाहर नहीं जाना चाहतीं। जब हम बाहर निकलते हैं, तो हिंदू हमें गाली देते हैं, 'पठान' कहते हैं। हमें अलग-थलग किया जा रहा है।' शाजिया नाम की महिला कहती है, 'हमारे मुर्दे भी शांति में नहीं रह सकते।'

महिलाओं के शरीरों और स्मृतियों पर जिस हद तक हिंसा के निशान हैं, उन का कभी ज़िक्र भी नहीं किया जाता। एक दूसरे जिले की मुस्लिम महिला जो अपना नाम नहीं बताना चाहती, कहती है, 'हम छोटा नागपुर में खानों के एक नगर से विस्थापित होकर यहां आए थे। हमारे गांव के चारों ओर आर.एस.एस. है। हम जासूसों की तरह रहते हैं, मैं अपने बच्चों को समझाती हूं कि किसी को न दिखाई दें। अगर हम चुपचाप रहें, तो शायद हमें छोड़ दें। पुरुषों के लिए यह आसान नहीं है। पिछले महीने, हमारे गांव में हिंसा हुई। बजरंग बलियों ने हमें गालियां दीं और धमकी दी कि हमें कभी काम नहीं करने देंगे। उन्होंने कहा कि हम गंदे हैं, जब हम गायों को मारते हैं, तो हम हिंदुत्व पर हिंसा करते हैं। उन्होंने कहा वे हम पर नज़र रखे हुए हैं। मेरा पति घर वापिस आया तो एकदम हिला हुआ था। वह अपने साथ घर में डर लेकर आया। उसने मुझे शारीरिक संबंध स्थापित करने के लिए मजबूर किया। यह घनिष्ठता की बात नहीं थी, शक्ति-प्रदर्शन था। जो अपने को असहाय महसूस करता है, वह दूसरे को कन्ट्रोल करना चाहता है। अतः इस सबका असर हमारी रसोई पर है, हमारे बेड रूम पर और घर पर। हम सोचते हैं पता नहीं कब हमला हो जाए, पर हमला तो हो चुका है।'

हिंदू धर्म के साथ जो हिंसा जुड़ी हुई है, वह नई नहीं है। हिंदुत्व इसी का एक रूप है। बात समुदायों या लोगों की नहीं, बल्कि देश की है—कौन देश का हिस्सा है और कौन नहीं। आदिवासी व दलित मानव-अधिकारों के लिए सरकार की उपेक्षा और हिंदुत्व की ज़मीनी लामबंदी के कारण मुसलमानों, ईसाइयों, दलितों, आदिवासिओं व महिलाओं के अधिकार उड़ीसा में असुरक्षित हैं।

महिलाओं के अधिकार (जैसे भूमि, आजीविका के साधनों व कल्याणकारी उपायों पर अधिकार) जो

पहले से ही उड़ीसा में ढांचागत रूप में सीमित हैं, हिंदुत्व उन का और ही हनन करता है। बहुत से महिला-विरोधी संगठन हैं जिनमें बी.जे.पी. महिला मोर्चा और राष्ट्रीय सेविका समिति शामिल है। 1936 में स्थापित राष्ट्रीय सेविका समिति उड़ीसा में गो-हत्या के विरुद्ध अभियान में सक्रिय रही है। यह राज्य व ज़िला-स्तर की मीटिंगें आयोजित करती है, गांवों, कस्बों व शहरों में दैनिक व साप्ताहिक शाखाएं व प्रार्थना-सभाएं करती है, 'शारीरिक शिक्षा व बौद्धिक विकास को प्रोत्साहन देने के लिए'।

राष्ट्रीय सेविका समिति की नेता विद्युत लता राजा कहती हैं कि संघ परिवार मन को अनुशासित करने में और लोगों को 'फिजूल के' कामों से हटाने में मदद करता है। वे कहती हैं कि यह एक परिवार की तरह है जिसमें हर सदस्य दूसरे की मदद करता है। 'परिवार एकता स्थापित करना चाहता है। दलित व आदिवासी कहते हैं कि हिंदू बाहर के हैं। ऐसा कैसे हो सकता है? हमें यह चेतना उत्पन्न करनी होगी कि हम सब एक हैं।' वे कहते हैं, उनका प्रयास है कि आर्थिक विकास के साथ-साथ नैतिक चरित्र-निर्माण भी हो ताकि साझे राष्ट्रवाद के माध्यम से भारत को जोड़ा जा सके। समिति बाल मंदिरों और उद्योग-मंदिरों की देखरेख करती है, प्रभावशाली संघ नेताओं की वर्षगांठों और धार्मिक उत्सवों को मनाती है, संस्कृति व नैतिकता पर क्लासें करती है, भजन-कीर्तनों का आयोजन करती है और महिलाओं के लिए स्कूल व होस्टल चलाती है। समिति समाज-सेवा के कार्यों को आदिवासी इलाकों में केंद्रित करती है, ताकि उन्हें 'ज्ञान का प्रकाश' दिया जाए।

राष्ट्रीय सेविका समिति महिलाओं को संगठित करती है और उन्हें आत्मरक्षा का प्रशिक्षण भी देती है—'उनकी शारीरिक और मानसिक क्षमता बढ़ाने के लिए, उन्हें अपने देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए प्रोत्साहित करने के लिए'। वह महिलाओं के दिमाग में कूट-कूट कर भरती है कि हिंदुत्व का पालन ही देशभक्ति है, केसरिया झंडा ही राष्ट्र का चिन्ह है और वह उन्हें अपने पतियों, परिवारों और हिंदू नेताओं के प्रति वफादारी सिखाती है।

संघ परिवार का दावा है कि ग्रामीण उड़ीसा में उच्च जातियों, दलितों व आदिवासियों के संबंधों में सुधार हुआ है। यह इस तथ्य की अनदेखी करता है कि निम्नवर्ग व जाति के लोगों तथा आदिवासियों को सामाजिक रूप से समान नहीं माना जाता। एक दिलचस्प उदाहरण है कि चाहे किसी गांव के निवासी हों (आदिवासियों समेत) मुख्य वार्षिक हिंदू पूजाओं के लिए समान रूप से वित्तीय योगदान करें, पर समारोह की तैयारियों पर उच्चजाति वालों का ही कंट्रोल रहता है। संभव है कि किसी दलित या मुस्लिम को यदि अन्य जाति वाले पर में खाने पर आमन्त्रित किया जाए, लेकिन उसे अलग बैठाया जाएगा और इसे 'निम्नजाति' के लोगों के प्रति 'उच्चजाति' बालों की 'उदारता' या 'सहनशीलता' के तौर पर प्रदर्शित किया जाएगा। भिन्न जाति विवाह काफी होते हैं, हालांकि उनका प्रायः सामाजिक बहिष्कार किया जाता है।

राज्य में हिंदुओं व ग़ैर-हिंदुओं के संबंधों में तनाव रहता है। ग्रामीण उड़ीसा की उच्च जातियों में ग़रीब मुस्लिम समुदाय उतने ही अस्वीकार्य हैं जितने कि आदिवासी, और उनका स्थान दलितों से भी 'नीचे' है। संसाधनों व सत्ता के आबंटन में सबसे महत्वपूर्ण कारक हैं लिंग व जातीयता-स्थानीय व राष्ट्रीय दोनों स्तरों पर। ब्राह्मणों की भाषा, रीति-रिवाजों तथा इतिहास को दूसरों पर थोपने का उद्देश्य है हाशिए पर के लोगों को मुख्यधारा में जोड़ना हालांकि पानी, भोजन तथा वन्य साधनों में हिस्सेदारी के मामले में उन्हें अलग-थलग रखा जाता है।

बी.जे.पी. और संघ परिवार के संगठनों की एक महत्वपूर्ण रणनीति है चालाकी से मध्यवर्गीय बस्तियों व गांवों में स्थानीय नेताओं के माध्यम से मुसलमानों से संबंध स्थापित करना। भुबनेश्वर के पास बनमालीपुर और जादूपुर गांवों में मुस्लिम नेता बी.जे.पी. के साथ अपने गठबंधन की बात बता रहे थे। इन गांवों के गरीब लोग कहते हैं कि इससे मुसलमान राजनेताओं को चुनावी सीटें मिलती हैं और ग़रीब लोग भरोसेमंद प्रतिनिधित्व से वंचित रह जाते हैं। प्रगतिशील मुसलमान कहते हैं कि अल्पसंख्यकों के पास कोई ख़ास विकल्प नहीं और उनका विरोध बहुत कमज़ोर है। भुबनेश्वर का एक मुसलमान कार्यकर्ता कहता है, 'हम अलग-थलग हैं। हम मदरसों के पास नहीं जाना चाहते, लेकिन हमारे पास कोई ऐसा जन आंदोलन भी नहीं है जो हमें स्वीकार करे।'

संघ के संगठनों के कार्यकलाप त्रिपक्षीय हैं—नैतिक उन्नति, लामाबंदी तथा सेवा। उदाहरण के लिए, विद्या भारती (जिसे शिक्षा विकास समिति के नाम से जाना जाता है) उड़ीसा में 391 सरस्वती शिशु मंदिरों का निर्देशन करती है। संघ के छात्रों को एक ऐसे औपचारिक, पाठ्यक्रम के द्वारा कॉडर के रूप में भर्ती किया जाता है जिसमें नैतिक मूल्यों, आत्मरक्षा के प्रशिक्षण के साथ-साथ हिंदू राष्ट्रवाद पर ज़ोर दिया जाता है। इसके अलावा, इन छात्रों और इनके परिवारों से यह आशा की जाती है कि वे लामबंदी, विकास-कार्यों व स्थानीय स्तर पर धन इकट्ठा करने में शामिल हों। उनसे यह भी आशा की जाती है कि वे मंदिरों के उद्घाटन समारोहों में भी भागीदारी करें।

संघ परिवार के संगठन लोगों को हिंदू उग्रवाद में भर्ती करने के लिए धर्म, विकास, राज्यतंत्र और शिक्षा का इस्तेमाल करते हैं। इन संगठनों की एक फौज विदेशों में पंजीकृत दान-संस्थाओं के नाम पर पैसा इकट्ठा करती है और उसे भारत में सांप्रदायिक विकास में लगाती है। गुजरात भूकंप और उड़ीसा सॉइक्लोन के दौरान इन संगठनों ने ब्रिटेन और अमरीका से लाखों डॉलर इकट्ठा किए और उन्हें दोनों राज्यों में संघ-तंत्र के विकास के लिए इस्तेमाल किया।

अंतर्राष्ट्रीय धार्मिक स्वतंत्रता नामक अमरीकी कमीशन ने भारत को 'विशेष चिंता के विषय वाला देश' घोषित किया और अमरीका में धर्मार्थ के नाम पर पंजीकृत आर.एस.एस. संगठनों की जांच की मांग की। भारत विकास सहायता कोष एक ऐसा ही संगठन है जिसने साइक्लोन के बाद 'सुकृति' के लिए 90,660 डॉलर, 'उड़ीसा विपन्न साइक्लोन पुनर्स्थापन संस्था' के लिए 23,255 डॉलर तथा 'उत्कल विपन्न सहायता समिति' के लिए 37,560 डॉलर इकट्ठे किए, जो सब 2002 की 'नफरत के लिए विदेशी मुद्रा' नामक रिपोर्ट में दर्ज है।

यू.के. ने 'सेवा इन्टरनेशनल यू.के. (पैसा इकट्ठा करने के लिए हिंदू स्वयंसेवक संघ नामक आर. एस.एस. का एक विभाग) ने साइक्लोन राहत के लिए इकट्ठा किए गए 260,000 यूरो का अधिकांश उत्कल विपन्न सहायता समिति (जो कि उड़ीसा में आर.एस.एस. का एक संगठन है) को भेज दिया; यह 'आवाज' की 2004 की एक रिपोर्ट में दर्ज है। यह समिति सांप्रदायिक विपत्ति राहत कार्य करती है।

आर.एस.एस. के कार्यकर्ता उड़ीसा के अल्पसंख्यक गांवों में शाखाओं का आयोजन करते हैं। प्रत्येक शाखा का एक संगठनकर्ता और कुछ सदस्य होते हैं जो ध्यान से इलाके पर नज़र रखते हैं और लोगों को साम्प्रदायिक होने की शिक्षा देते हैं और उन्हें हिंदू सांस्कृतिक गर्व प्रदर्शित करने वाली एक नई पहचान देते हैं। अल्पसंख्यक चिन्तित रहते हैं क्योंकि आर.एस.एस. की पैनी नज़र के नीचे क्रिकेट के झगड़े

बच्चों की जीतने और हारने वाली टीमों के बीच छोटी-मोटी झड़पें सांप्रदायिक रंग ले लेती हैं। मदरसों द्वारा इस्तेमाल किए जाने वाले तारों व अर्धचन्द्र वाले झंडों का संबंध पाकिस्तान, आतंकवाद और आर. एस.एस. (पाकिस्तान की खुफिया एजेंसी) के साथ जोड़ा जाता है।

उड़ीसा में विश्व हिंदू परिषद, बजंरग दल के नेता और आर.एस.एस. के कार्यकर्ता बार-बार कहते हैं कि हिंदुत्व पर तत्ववाद के आरोप लगाए ही नहीं जा सकते। वे कहते हैं कि यह कोई विचारधारा नहीं, अपितु संपूर्ण व्यवहार है, राष्ट्रत्व की जीने की पद्धति है। इन सिद्धांतों को सर्वव्यापी कहा जाता है, पर वास्तव में ये विभाजनकारी हैं। यह रणनीति भारत में राष्ट्र-निर्माण के इस संधिकाल में रहने वाले विभिन्न लोगों की विशाल संख्या के लिए अपनी सांस्कृतिक पहचान ढूंढ़ने में बाधा उत्पन्न करने वाली है।

हिंदुत्व कई तरीकों से, दूसरों के प्रति अपने अपमानजनक व्यवहारों को उचित ठहराता है। इसकी विषय वस्तु में अनेकता का कहीं नाम नहीं है—इसके विशेष क्षेत्र में हिंदुत्व ही मानव होने का 'सही' तरीका है, अन्य तरीकों का नाश करना ज़रूरी है। हिन्दुत्व के भाषण के क्या प्रभाव हैं? घृणा, जुल्म, आंतक। अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए, हिंदुत्व, जो कि जनवाद का शत्रु है, अल्पसंख्यकों के हितों को हिंदुओं के हितों के विरुद्ध भी मानता है। इनके अनुसार जातीयता, धर्म, वर्ग, जाति, जनजाति, लिंग व संस्कृति के आधार पर, हाशिए वाले लोगों के न्याय-संघर्ष राष्ट्रीय एकता के लिए हानिकारक हैं।

राष्ट्र-निर्माण में अभिजात वर्ग की आकांक्षाओं, गरीबों के संसाधनों और इलाकों को छीनने, हिंसक विचार-धाराओं को थोपने, लोगों की पहचान को अलग-थलग करने और ज़मीनी विरोध ने लोकतंत्र को ऐसे अर्थ और व्यवहार दिए हैं, जिन पर कोई मतैक्य नहीं है। पहचान की राजनीति के सुदृढ़ीकरण, इतिहास के पुनराविष्कार, भेदों की अनदेखी तथा निर्जीव सामाजिक जीवन पर अपनी शक्ति की स्थापना के माध्यम से हिंदू बहुसंख्यकवाद उन लोगों के प्रति हिकारत दिखाता है जिन्हें वह अपने में मिलाने के योग्य नहीं समझता। राज्य इस हिंदू राष्ट्रवाद की सहायता करता है।

ग्रामीण व शहरी उड़ीसा में हिंदुत्व की जीत के क्या कारण हैं? एक धर्मनिरपेक्ष विकल्प के रास्ते में क्या बाधा है? वी.एच.पी. के अंतर्राष्ट्रीय सचिव प्रवीण तोगड़िया 16 फरवरी को जानपुर गए और 29 फरवरी को बहरामपुर, जहां उन्होंने हिंदुत्व के लिए अपना देशद्रोही अभियान किया, हालांकि स्थानीय ग्रुप इसका जोर-शोर से विरोध कर रहे थे। विधानसभा चुनावों के बाद से, बी.जे.पी. की ताक़त बढ़ी है। जबकि उड़ीसा आगामी चुनावों के लिए तैयार हो रहा है, बी.जे. पी, 'जल, जंगल, ज़मीन' के मंच का इस्तेमाल कर रही है जो कि इसने भूमि-सुधार आंदोलन से लिया है और जिससे वह उड़ीसा के आदिवासियों को ख़ुश करना चाह रही है। जनजातीय क्षेत्रों में रणनीति और संगठन के लिए, बी.जे.पी. का केंद्र-बिदु वनवासी कल्याण आश्रम है। छत्तीसगढ़ जीतने के बाद, बी.जे.पी. का आत्मविश्वास और भी बढ़ गया है। जनजातीय संस्कृति को कथनी में वह कला का दर्जा देती है, पर राजनैतिक यथार्थ इससे दूर है और असल में वह इसी संस्कृति का निरंतर विनाश कर रही है।

बजरंग दल के सुभाष चौहान करते हैं, 'हम विश्व हिंदू परिषद वाले मानते हैं कि यह देश हिदुंओं का है। यह कोई धर्मशाला नहीं है कि लोग कभी भी इसमें आकर रहने लगें। और जो मर्जी करने लगें। यह नहीं हो सकता, हम यह होने नहीं देंगे। यहां जो भी होगा, हिंदुओं की सहमति से होगा। भारत एक विश्व-शक्ति है, और जो भारत में है, वह कहीं नहीं, और हम चाहते हैं कि भारत को रामराज्य बनाएं।'

हिंदुत्व की संस्कृति और राष्ट्र की परिभाषा टूटन, विभाजन और हिंसा को ही बढ़ावा देती है। आज जब मैं यह लेख लिख रही हूं, गुजरात के जरसंहार को दो वर्ष होने को आए। न्याय अभी भी मुस्लिम अल्पसंख्यकों की पहुंच के बाहर है और इसके कारण हैं : राज्य की लापरवाही और दोमुंहापन, न्याय-व्यवस्था की उपेक्षा तथा भारत में राजनैतिक समुदाय का गहरा विभाजन। गुजरात एक मंज़िल और शुरुआत, दोनों का प्रतिनिधित्व करता है और यह हिंदू राष्ट्र के लिए हिंदुत्व की विद्वेषपूर्ण नीति का मार्गचिन्ह है। अत्याचार की चरम सीमा लोगों की हत्या में है। जून 2002 में, अहमदाबाद की एक उजड़ी हुई बस्ती में, मुझे 8 साल का एक दलित लड़का याद आता है जिसने कहा था, 'मैं मृत्यु से नहीं डरता। मैं ज़िंदगी से डरता हूं, देखो, ज़िंदगी में क्या होता है?' मुस्लिम व दलित औरतें दीवार के पार एक दूसरे को चुप्पी में देख रही थीं।

E-mail: mail@anganachatterje.net

अनुवाद : चंद्रप्रभा
मो. : 09873578855

उड़ीसा : गुजरात बनाने की प्रक्रिया में

अंगना चटर्जी

गुजरात में हिन्दू उग्रवादियों ने फरवरी-मार्च 2002 में 2000 लोगों की हत्या की। घृणापूर्ण हिंसा के शिकार। उनका बलात्कार किया गया, मारा गया, जलाया गया और उन्हें समाज से अलग किया गया। डेढ़ साल के बाद भी, गुजरात में मुसलमान अपने गांवों में आने से डरते हैं और इस शहर से उस शहर भाग रहे हैं। देश, समुदाय, पुलिस, कोर्ट—सब ने उन्हें धोखा दिया है और उनकी दुर्दशा की है। यह आज का भारत है।

राष्ट्रीय मानवाधिकार आयोग ने मान लिया कि गुजरात में इन लोगों को न्याय नहीं मिल सकता। सरकार, न्याय व्यवस्था तथा कानून व्यवस्था के बीच सांठगाठ है। हिंदू दक्षिणपंथी शक्तियों के ख़िलाफ़ कोई नहीं बोलता, बोलता है तो उसकी आवाज़ दबा दी जाती है। इस्लाम व मुसलमानों को 'बुराई' का केंद्र मान लिया गया है और हिंदू राष्ट्रवाद को खुला छोड़ दिया गया है।

हिंदुत्व की अगली प्रयोगशाला उड़ीसा है। भुबनेश्वर में जनपथ पर एक छोटे से कमरे में कार्यकर्ता बड़ी मेहनत से केसरिया बाजू-पट्टियां बना रहे थे। हिंदुत्व के सैन्य दल विभाग बजरंग दल के राज्य संयोजक सुभाष चौहान बहुत उत्साह से उड़ीसा को 'बदलने' की बात कर रहे थे। उनका कहना था कि ईसाई मिशनरी और मुसलमान कट्टरवादी बड़े ज़ोर-शोर से आदिवासियों को ईसाई और दलितों को मुसलमान बना रहे हैं। उनके अनुसार राज्य को शिक्षित शुद्ध और मजबूत करने के लिए 'हिंदुत्व शक्ति' को संघटित करना नितान्त ज़रूरी है। पश्चिमी उड़ीसा जिसमें उच्च जाति के ज़मींदार और व्यापारी प्रधान है, हिंदू उग्रवाद का गढ़ है। जनजातीय इलाके भी आक्रामक हिंदूकरण से ग्रस्त हैं। जनवरी व अगस्त 2003 में, विश्व हिन्दू परिषद के अतर्राष्ट्रीय महा सचिव प्रवीण तोगाड़िया ने हिंदू उग्रवादियों की रैली की। भारत को हिंदू राष्ट्र बनाने के अभियान में उड़ीसा को भागीदार बनने का आह्वान किया और वायदा किया कि इससे 'रामराज्य' आएगा।

उड़ीसा में संघ परिवार के निशाने पर ईसाई, आदिवासी, मुस्लिम, दलित और ग़रीब लोग हैं। संघतन्त्र धर्मार्थ, राजनैतिक और भर्ती के कामों में अपनी शक्तियां लगाता है। यह धार्मिक व लोकप्रिय संस्थाओं के माध्यम से पुरुषों, महिलाओं व युवाओं को अपने जाल में फांस लेता है। पैसा इकट्ठा करने के लिए इसने अनेक ट्रस्ट बनाए हुए हैं : जनजाति समाज मित्र, समर्पण धर्मार्य ट्रस्थ, यशोदा सदन, ओदिशा अंतर्राष्ट्रीय केन्द्र आदि। उड़ीसा में 30 प्रमुख संघ संगठन हैं। यह विशाल लामबंदी राज्य में संगठित स्वयं सेवकों का सबसे बड़ा आधार है। आर.एस.एस. उड़ीसा में 2500 शाखाएं चलाता है और इसके 1 लाख

कार्यकर्ता हैं। 1964 में बनी विश्व हिंदू परिषद की सदस्य-संख्या 60,000 है। 1984 में रामजन्म भूमि आंदोलन के समय बजरंग दल की उत्पत्ति हुई जिसके 20,000 सदस्य हैं और जो राज्य में 200 अखाड़े चलाता है।

उड़ीसा में बी.जे.पी. की सदस्य संख्या 4, 50,000 है जिसके अलावा भारतीय मजदूर संघ, भारतीय किसान संघ, अखिल भारतीय विद्यार्थी परिषद, राष्ट्रीय सेविका समिति व दुर्गा- वाहिनी संस्थाएं भी हैं। इन की महिला संस्थाएं 'आदर्श' नारी का निर्माण चाहती हैं जो नारीवादी अनैतिकताओं से दूर हों और ईसाइयों व मुसलमानों के ग़लत लैंगिक व्यवहार का मुकाबला कर सकें। 2002 में उड़ीसा के बालासोर ज़िले में शिवसेवा ने पहला हिंदू 'आत्मघाती दस्ता' बनाया जिस के सदस्यों को शिवसेना के गढ़ मुम्बई में प्रशिक्षण दिया जाएगा।

उड़ीसा को क्यों चुना गया? राज्य में बीजू जनता दल और बी.जे.पी. के गठबन्धन की सरकार को बचाने की कोशिश है। पूरी सरकार केसरिया रंग में रंगी हुई है। संघ गुजरात को दोहराने के प्रयास में सभी नागरिक और राजनैतिक संस्थाओं में घुसा हुआ है। असमानता से ग्रस्त यह राज्य हिंदुत्व की आक्रामक बढ़त के लिए उपजाऊ भूमि प्रदान करता है। राज्य की 87 प्रतिशत जनता गांवों में रहती है और आधी जनसंख्या निर्धनता से ग्रस्त है। 24 प्रतिशत जनसंख्या आदिवासी है जिसमें 70 प्रतिशत ग़रीब हैं व 66 प्रतिशत अनपढ़ हैं। 55 प्रतिशत दलित और 70 प्रतिशत मुस्लिम निर्धनता से ग्रस्त हैं। एक तरफ ग़रीब जनता और दूसरी तरफ साहूकारों, सरकारी अधिकारियों व पुलिस के बीच कब से शोषणात्मक संबंध चले आ रहे है। भुखमरी से लोगों की मौत हो जाती है या वे आत्महत्या कर लेते हैं, बच्चों को बेचने तक की नौबत आ जाती है। देश में सबसे ज़्यादा शिशु मृत्यु दर (23.6 प्रतिशत) है।

संघ इस निर्धनता और असमानता के ताने-बाने का इस्तेमाल शानदार हिंदू इतिहास पर आधारित एकजुटता बनाने में करता है। हिंदुत्व इतिहास को तोड़-मरोड़ कर, मुसलमानों को 'पतित धर्मद्रोही' कहता है जो इस्लाम में शामिल हो गए। यह हिंदू समाज में व्याप्त घोर असमानता की बात नहीं करता जिसके कारण लोग धर्मान्तरण करते हैं। इसके अनुसार मुसलमान 'विदेशी' व 'आंतकवादी' हैं व ईसाई 'भ्रष्ट' हैं। यह आदिवासियों को हिंदू बता कर, उनके पुनः हिंदूकरण की बात करता है। इसके साथ ही उनका जातिवादी उत्पीड़न भी बरकरार है। मंदिरों में जाने पर उन पर जुर्माना लगाया जाता है और धार्मिक अनुष्ठानों में भाग लेने पर उन पर हमला किया जाता है।

ग़रीब मुस्लिम समुदायों का सामाजिक बहिष्कार किया जाता है। उनके व हिंदुओं के बीच के धार्मिक व सांस्कृतिक अंतरों को 'असामान्य' का नाम दिया जाता है। महिलाओं को दोहरे भेदभाव का सामना करना पड़ता है, अपने समुदाय के अन्दर भी और उसके बाहर भी। देश की दुर्दशा के लिए 'भीतर के शुत्र' को जिम्मेदार ठहराते हुए, संघ अपने सदस्यों से अपने अत्याचार के प्रतिशोध के लिए पूर्ण वफादारी व आज्ञाकारिता की मांग करता है। वह बताता है कि किस देवता की पूजा करनी है, क्या प्रार्थना करनी है व कौन-सा इतिहास याद रखना है। जहां कहीं भी दलित, आदिवासी व दूसरे लोग अपनी ज़मीन व आजीविका के अधिकारों के लिए एकजुट होते हैं, वहां हिंदुत्व हस्तक्षेप करके उन्हें विभाजित करता है और उसके लिए उग्र राष्ट्रवाद का इस्तेमाल करता है।

गुजरात ही की तरह, ग्रामीण उड़ीसा में संघ दलितों, आदिवासियों, मुसलमानों व ईसाइयों के बीच शत्रुता पैदा करने का काम करता है। उड़ीसा में संघ का भय गहरे तक समाया हुआ है और लोग

बोलने से भी डरते हैं। संघ के तरीके पर पीड़नदायी और अमानवीय हैं व दूसरों के जीवन और आजीविका को नष्ट करने से उसे कोई परहेज नहीं। जनवरी, 1999 में आस्ट्रेलियाई मिशनरी ग्राहम स्टेन्ज व उसके दो बेटों को गाड़ी में बंद करके ज़िंदा जला दिया गया और इलाका 'जय बजरंग बली' के नारों में गूंज उठा। इससे पहले, फूलबनी जिले में चर्च तोड़े गए और कैथोलिक पादरी अरुलदास की हत्या की गई। बजरंग दल का हमला जारी है। 2003 में नवीन पटनायक के प्रतिबंध के बावजूद, दलने 'त्रिशूल दीक्षा' की घोषणा की। इस सब का उद्देश्य क्या है? उग्रवाद को फैलाना। उड़ीसा में संघ राममंदिर के मुद्दे पर भी लोगों को लाभबंद करता है। संघ का दावा है कि 2006 में संघ के निर्माता गोलवल्कर की जन्म शताब्दी तक, उड़ीसा हिंदुत्व का पोस्टर-राज्य बन जाएगा। संघ की इस बढ़त ने बीजेपी को अपनी स्थिति सुदृढ़ करने में मदद की है और विधानसभा में उसकी सीटें 1985 में एक से बढ़ कर अब 41 हो गई हैं। अपने समर्थन के बदले संघ सरकार से यह अपेक्षा रखता है कि वह उसकी ज़्यादतियों को सहन करे।

हिंदू उग्रवाद के दो मुख्य वाहक हैं : विकास और शिक्षा। 1999 के साइक्लोन में आर.एस.एस. ने सांप्रदायिक तरीके से जो राहत-कार्य किया, उससे इसे राज्य में पैर जमाने की जगह मिल गई। अब इसके कुछ संगठन विपत्ति सहायता केंद्र व हस्पताल आदि चलाते हैं। इस तरह की सेवाओं के माध्यम से संघ एक छद्म-नैतिक व सुधारवादी शक्ति के रूप में अपने कार्यकर्ताओं के लिए ख़ुद को अनिवार्य बना लेता है। 'दूसरों' की आजीविका पर हमला करना केसरियाकरण की एक विधि है। बजरंग दल ने बहुत आक्रामक ढंग से उड़ीसा में गो-हत्या को रोका है जो कि मांस व चमड़े का व्यापार करने वाले ग़रीब मुसलमानों के लिए आय का महत्वपूर्ण स्रोत था। जिस देश में 35 करोड़ लोग निर्धनता में जीवन व्यतीत करते हों, वहां गो-हत्या पर प्रतिबंध लगाने की बहस बहुत ग़लत है। यह धर्म व राज्य को अलग रखने के विरुद्ध तथा मुस्लिम-विरोधी, दलित-विरोधी, ईसाई-विरोधी व ग़रीब-विरोधी है।

संघ अनेक वनवासी कल्याण आश्रम (जनजातीय क्षेत्रों में), शिशु मंदिर (स्कूल) और एकल विद्यालय चलाता है जिनका एकमात्र उद्देश्य लोगों के दिमाग पर हिंदुत्व का मतारोपण करना है। संघ ऐसे आध्यात्मिक केंद्र भी चलाता है जो हिंदुओं में सांप्रदायिकता भड़काने के लिए धार्मिक ग्रंथों का इस्तेमाल करते हैं। विवेकानन्द केंद्र, हिंदू जगरण मंच, हरिकथा योजना केंद्र और सत्संग केंद्र ऐसे ही संगठन हैं। इसके अलावा संघ के कार्यकर्ता ईसाइयों का जबर्दस्ती हिंदूकरण करते हैं। दलित ईसाइयों पर आरोप लगाते हैं कि देश में उपनिवेशवाद लाने के लिए वे जिम्मेदार हैं। संघ जानबूझ कर धर्म का प्रचार करने में और सांप्रदायिक घृणा फैलाने के लिए धर्म का इस्तेमाल करने में भेद नहीं करता। ईसाइयों पर तो वे धर्म-प्रचार का आरोप लगाते हैं और उसे अपराध बताते हैं, जबकि स्वयं वे सांप्रदायिकता फैलाते हैं और हिंदुओं में एकता स्थापित करना कहते हैं। संघ का कहना है कि मुल्लाओं-मौलवियों के कारण मुसलमानों का धर्मान्तरण करना ज़्यादा मुश्किल है, अतः उसके लिए ज़्यादा उग्र तरीक़े अपनाने होंगे।

हिंदुत्व ज़ोर-जुल्म के सहारे उड़ीसा में अपने को स्थापित कर रहा है। जरसंहार भी उनके तरीकों में से एक है। हम या तो इन तथ्यों को स्वीकार नहीं करते, या चुप रहते हैं, या फिर उनका साथ देते हैं। जबकि हमारा संविधान धर्म व राज्य के अलगाव पर ज़ोर देता है, हिंदू उग्रवाद हिंदुओं के सांस्कृतिक प्रभुत्व में स्वीकृति पाता है।

120 करोड़ लोगों के भारत देश, जिसमें बहुत विविधता है, का एक अलग ही भविष्य है। बीते हुए कल और आने वाले कल के बीच कई सपनों और इच्छाओं का संगम है। भारत तभी कायम रह सकता है जब उसके बहुसंख्यक हिंदू एक समावेशी अनेकतावादी और धर्म निरपेक्ष प्रजातंत्र के लिए प्रतिबद्ध हों। भारत में हिंदू राष्ट्र का विचार केवल ज़ोर-जबर्दस्ती पर ही टिक सकता है और असंतोष को ही जन्म दे सकता है। यह कभी भी वास्तविकता में नहीं बदलना चाहिए।

अनुवाद : चंद्रप्रभा
मो. : 09873578855

गुप्त 'धर्मयुद्ध'

प्रियंका कोटमराजु

कथित धर्मान्तरण को रोकने के लिए दक्षिणपंथी तत्ववादियों ने फिर से स्थानीय ईसाई पादरियों को निशाना बनाकर आंध्र प्रदेश के एक छोटे कस्बे में धर्म और हिंसा को आमने सामने ला खड़ा किया है। —सं.

हैदराबाद से 69 किलोमीटर दूर विकाराबाद में लगभग 8.30 बजे रात को कुछ लोगों ने पादरी संजीवुलु के दरवाजे को खटखटाया। जब पादरी की पत्नी प्रमिला ने दरवाजा खोला तो उसके माथे पर लोहे की छड़ से प्रहार किया गया। फिर, हमलावर घर में घुस गये और पादरी पर छूरे से कई बार वार किया। उन पर डंडे से भी हमला किया और सिर पर लोहे की छड़ से भी वार किया गया। यह हमला दस मिनट ही चला लेकिन संजीवुलु को लीवर, स्पलीन और आंतों में गहरी चोटें लगीं। तीन दिन बाद, हैदराबाद के यशोदा अस्पताल में अपने घावों के कारण उन्होंने दम तोड़ दिया।

जनवरी के अंत में, पुलिस ने आठ में से सात आरोपियों को गिरफ्तार किया। ये सभी *हिंदू वाहिनी* से जुड़े थे। *हिंदू वाहिनी* एक दक्षिणपंथी संगठन है जो हैदराबाद स्थित विश्व हिंदू परिषद की राज्य इकाई से संबद्ध है। इस समूह का गठन नलगोंडा के युवकों से किया गया है और इसके नेता की पहचान जी. श्रीनु उर्फ़ रामाकृष्ण के रूप में की गयी है। वह पिछले कुछ सालों से *हिंदू वाहिनी* में पूर्णकालिक *प्रचारक* के रूप में काम कर रहा था।

इसी जिले में दिसंबर, 2013 में ईसाई पादरियों पर इसी तरह के तीन और हमलों की रिपोर्ट दर्ज की गयी। इन चारों घटनाओं में एक खौफनाक पैटर्न दिखायी देता है। इन सब के पीछे वही दक्षिणपंथी संगठन और एक ही तरह की कार्य प्रणाली दिखायी देती है और हमलों का मकसद कथित धर्मान्तरण बताया गया। इन सुनियोजित हमलों से प्रतीत होता है कि आंध्र प्रदेश में अकेले 2013 में दक्षिणपंथी हमलावरों द्वारा चर्चों पर हमलों में बढ़ोतरी हुई है। अकेले 2013 में राज्य 72 ईसाई विरोधी घटनाओं का साक्षी रहा है और स्थानीय निवासियों के अनुसार और इस तरह की बहुत सी घटनाएं हुई हैं जिनकी रिपोर्ट भी दर्ज नहीं कराई गयी है। पिछले साल केथॉलिक सेक्युलर फोरम द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार कर्नाटक के बाद आंध्र प्रदेश ऐसा दूसरा राज्य है जहां ईसाइयों के विरुद्ध सबसे अधिक हमले हुए हैं। कुल 4000 ईसाइयों को हमले का निशाना बनाया गया, जिनमें 400 पादरी थे। अकेले नलगोंडा जिले में लगभग 100 चर्चों पर हमले किये गये और 1000 से अधिक चर्च डर के माहौल में जी रहे हैं।

29 दिसंबर को रात पौने बारह बजे, नलगोंडा के नरकेटपल्ली कस्बे में पादरी नामा मोजेज के दरवाजे

पर खटखट हुई। पादरी की पत्नी सुवर्ता ने यह सोचकर कि कोई मुलाकाती होगा, दरवाजा खोल दिया। उसके माथे पर भी लोहे की छड़ से हमला किया गया और पादरी मोजेज पर भी कई बार प्रहार किये गये और नौ बार उसके शरीर में चाकू घोंपा गया। यह खौपनाक घटना बिल्कुल उसी तरह घटी जिस तरह संजीवुलु पर हमले की घटी थी। लगभग दो महीने बाद फरवरी में जब *ब्लिंक* ने पादरी मोजेज से संपर्क किया, तो वह इस नृशंस हमले से बच तो गये थे लेकिन वे बात तक करने की स्थिति में नहीं थे। सुवर्ता ने बताया कि 'पादरी पिछले दो दशकों से यहां रह रहे हैं। मैंने कभी भी इस हद तक नफ़रत नहीं देखी। मुझे समझ नहीं आ रहा कि हम पर हमला क्यों किया गया। उन्होंने कभी भी किसी को धर्मान्तरण के लिए नहीं उकसाया'। उसने यह भी बताया कि उनकी बेटियां डर के मारे स्कूल भी नहीं जा पा रही हैं। चर्च में आने वाले लोगों की संख्या भी काफी कम हो गयी है। सुवर्ता ने बताया कि 'उनमें से कुछ स्थानीय युवक हैं और अभी हाल में उन्होंने एक दूसरे पादरी पर भी इसी तरह का हमला किया है'।

नलगोंडा की निवासी कविता का कहना है, 'लोग इन हमलों से डरे हुए हैं। जब पादरी पर हमला हुआ तब उनके बच्चे कमरे में थे। उनको सुबह ही किसी तरह की मदद मिल पायी'। चार सप्ताह पहले कविता के चर्च, चर्च ऑफ साउथ इंडिया में एक बैठक हुई जिसमें समुदाय पर होने वाले हिंसक हमलों पर विचार किया गया। कविता का कहना है, 'हमले तो बहुत से हुए हैं परंतु सब समाचारों का हिस्सा नहीं बन पाये हैं'। यदि इन हमलों के पीछे धर्मान्तरण को कारण के रूप में बताने की उग्र कोशिश की जाती है, तो स्थानीय लोग इससे बहुत सहमत नहीं होते। कविता कहती है, 'मैं अपने परिवार में पहली थी जिसने 13 साल पहले ईसाई मत अपनाया था। किसी ने मेरे ऊपर दबाव नहीं डाला था। इसके लिए मुझे किसी तरह का लालच भी नहीं दिया गया था। मेरी मां अब भी पक्की हिंदू है। उसने कभी भी इसे स्वीकार नहीं किया। लेकिन आज मेरा परिवार धर्मान्तरण कर चुका है'।

नलगोंडा के उप अधीक्षक राम मोहन राव का कहना है कि 'पादरी मोजेज पर हमले के पीछे निजी कारण रहा है। इस गुट के एक सदस्य जी. राजु से उनका निजी झगड़ा रहा है। उसके परिवार में दो साल पहले कोई खराब अनुभव हुआ था और उसने धर्मान्तरण के संबंध में श्रीनु से कुछ करने के लिए संपर्क किया था'।

हालांकि उसी जिले के एक दूसरे गांव में जिस दिन पादरी मोजेज पर हमला हुआ था उसी दिन पादरी तल्ला क्रिस्टोफर पर भी हमला हुआ था। दिसंबर में ही, पादरी नीलाद्रि पाल पर भी हमला किया गया था। हालांकि पुलिस ने कुछ गिरफ्तारियां कीं लेकिन पूरे आंध्र प्रदेश में स्पष्ट रूप से एक व्यापक, सुनियोजित ढंग से ईसाई पादरियों को ख़त्म करने की हिंदू वाहिनी की योजना दिखायी देती है। आदिलाबाद, निज़ामाबाद, मेडक आदि दूसरे जिलों में भी जान से मारने की धमकियां दी गयीं।

राज्य में ईसाई विरोधी अत्याचारों के प्रलेखन कार्य से जुड़े वारंगल में तेलुगु बैपिस्ट चर्च के पादरी सुधाकर का कहना है, 'इन हमलों के पीछे कोई व्यक्तिगत कारण नहीं है। यह राजनीति से प्रेरित है और अल्पसंख्यकों के विरुद्ध दक्षिणपंथी आतंक है। हिंदुत्ववादी तत्व तीन तरीके से पादरियों पर हमले कर रहे हैं : घृणा फैलाने वाले भाषण देने से संबंधित झूठे मामलों में फंसाना, चर्चों पर हमले करना और बाइबल को जलाना'। उनके अनुसार, 2013 में, हमलों में 70 फीसदी बढोतरी हुई है। इस वर्ष अभी तक चार हमले हो चुके हैं। 'हमने पादरियों के विरुद्ध दायर किये गये 22 झूठे मुकदमे दर्ज किये हैं'।

चुनाव के साल में, ईसाई अल्पसंख्यकों के सामने मौजूद ख़तरे ने एक गंभीर राजनीतिक रंग ले लिया

है। विभिन्न चर्च संगठनों ने मुख्यमंत्री को *हिंदू वाहिनी* पर प्रतिबंध लगाने की मांग करते हुए पत्र लिखे हैं। मजलिसे इत्तिहाद अल मुस्लिमिन के नेता अकबरुद्दीन औवेसी ने भी विधान सभा में हिंदुत्व तत्वों के विरुद्ध तत्काल कार्रवाई करने की मांग की है।

कविता का कहना है, 'आप जानते हैं, न सिर्फ़ अनुसूचित जाति के लोग बल्कि दूसरे समुदाय भी ईसाइयत की तरफ जाना शुरू हो गये हैं। और इसमें गिरावट नहीं आ रही है'। फादर सुधाकर का कहना है, 'निश्चय ही बुनियाद में बढ़ोतरी हो रही है। हम इसे धर्मान्तरण नहीं कहते। आंध्र प्रदेश में 90 प्रतिशत अनुसूचित जाति के लोग भले ही कागज पर ईसाई न हों लेकिन आध्यात्मिक रूप से ईसाई हैं'।

पादरी जयराज अभी तक नहीं जान पाये हैं कि उन पर हमला क्यों किया गया। 9 अगस्त, 2011 में, नरकेटपल्ली में उन पर दस लोगों की भीड़ द्वारा घर पर हमला किया गया। उनके सिर पर वार किया गया और उन्हें मरने के लिए छोड़ दिया गया। 'मैंने हिंदू वाहिनी के बारे में सुना है, लेकिन मैं नहीं जानता कि वे क्या करते हैं। मैं उन्हें पहचान नहीं सका। उन्होंने नकाब पहन रखा था। पुलिस उन्हें कभी गिरफ्तार नहीं कर पायी'।

पादरी जयराज पर हमले जैसे पुराने अनसुलझे मामलों के कारण ही ईसाई अल्पसंख्यकों पर हमले में बढ़ोतरी हुई है और इन पर दुबारा विचार करने पर इनके दक्षिणपंथी आतंकवाद के साथ संबंधों की संभावना खोजी जा सकती है। उप अधीक्षक मोहन राव का कहना है, 'पादरी मोजेज पर हमले के बाद जो मामले अनसुलझे थे, उनकी तरफ भी ध्यान गया है। 2011 के मामले ही नहीं बल्कि 2009 के मामले भी दुबारा खुल रहे हैं'। जांच पड़ताल जारी होने के बावजूद आंध्र प्रदेश के ईसाई समुदाय पर हमलों का डर अभी भी वैसा ही बना हुआ है।

ब्लिंक, 22 फरवरी, 2014 से साभार

E-mail: blink@thehindu.co.in

पांडित्य और सहानुभूति से निर्मित एक कृति

गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे

हाल में ही एक हिंदुत्ववादी संगठन ने वेंडी डॉनीगर की किताब द हिंदूज़ : ऐन ऑल्टरनेटिव हिस्ट्री *के प्रकाशक पेंग्विन को बाध्य किया कि वह बाज़ार से इस पुस्तक को वापस ले और इसकी प्रतियां नष्ट कर दी जाएं। पेंग्विन ने 2009 में यह किताब छापी थी। 4 दिसंबर 2010 के* इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली *में श्री गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे ने इस किताब की समीक्षा की थी। साथियों के बीच गोपु और जीपीडी के नाम से लोकप्रिय श्री गोविंद पुरुषोत्तम देशपांडे वर्ष 2013 में हमारे बीच नहीं रहे। उनकी लिखी यह समीक्षा छाप कर हम उन्हें श्रद्धांजलि भी दे रहे हैं और सांप्रादायिक फ़ासीवादियों की शर्मनाक हरकत ने हमें कितनी महत्वपूर्ण कृति से वंचित कर दिया है, इसकी झलक भी पेश कर रहे हैं। —सं.*

1950 के आसपास हिंदू धर्म से संबंधित मामलों के एक टिप्पणीकार, सावरकरवादी, बालशास्त्री हरदास ने पुणे में महाभारत पर दिये गये अपने व्याख्यानों पर आधारित एक विराट मराठी ग्रंथ प्रकाशित किया। इसमें इस महाकाव्य को भारतीय इतिहास के एक बृहत् ग्रंथ के रूप में देखने का प्रयास किया गया था। अपनी प्रचंड वाग्धारा में उन्होंने अविलंब पौराणिक आख्यान को एक तरफ़ कर दिया और इस महाकाव्य को (सावरकरवादी) हिंदू राष्ट्रवाद का महान टेस्टामेंट बना देने की कोशिश की। समय के साथ क़दमताल मिलाने के लिए उन्होंने शीतयुद्ध के कुछ जुमलों को भी जगह दी और कम्युनिस्टों तथा ख़ास तौर से एस.ए.डांगे पर हमले किये। उनकी सारी दलीलों का मुख्य ज़ोर इस पर था कि कम्युनिस्ट अपने इतिहास को नहीं जानते और इसीलिए राष्ट्रवाद की भी उन्हें समझ नहीं है। लेकिन उत्तर-ज्ञानोदय काल के राष्ट्रवाद के अधपके संस्करण ने भी, हरदास के अनुसार, कम्युनिस्टों और डांगे की करनी से बेहतर कुछ नहीं किया। हरदास ने 'राष्ट्रवादी' इतिहास का, जो कि पूरे राष्ट्रवादी दौर में ख़ासा लोकप्रिय रहा था, मिथकीकरण किया।

वेंडी डॉनीगर मोहम्मद गज़नी और सोमनाथ मंदिर की लूट (ध्वंस नहीं) के प्रसंग में इस तरह के मिथकीकरण का हवाला देती हैं। वे उचित ही यह सुझाव देती हैं कि सोमनाथ का मिथकीकरण कभी रुका नहीं। कई लोगों की मर्ज़ी के ख़िलाफ होनेवाला तथाकथित जीर्णोद्धार, दरअसल, भग्न मंदिर की पुनर्रचना करने के बजाय मिथक को बलपूर्वक दुहराने के लिए था। इस प्रक्रिया में इस बात पर पूरी तरह से मुहर लगाने का प्रयास किया गया कि गज़नी ने मंदिर को सिर्फ़ लूटा नहीं, उसका ध्वंस भी किया था। 'ध्वंस' वाली अभिव्यक्ति काल्पनिक, अर्थात् मिथकीय है, जबकि 'लूट' इतिहास के क़रीब है। डॉनीगर ने अपनी इस विराट पुस्तक में, जिसे वे हिंदुओं का 'वैकल्पिक इतिहास' कहती हैं, भारत के मिथकों का ऐतिहासीकरण करने के कार्यभार को हाथ में लिया है।

निश्चित रूप से, ऐतिहासीकरण शब्द को वे दो आशयों में इस्तेमाल करती हैं। एक आशय साफ़ तौर पर मिथ्याकरण वाला है। दूसरा यह बताने के लिए है कि हर मिथक के पीछे इतिहास है। मिथक इतिहास नहीं है। लेकिन हर मिथक में इतिहास है। जब आप मिथक और इतिहास के अंतरसंबंध को समझते हैं तो आप मिथक को समझने लगते हैं। सराहनीय स्पष्टता और लगभग बातचीत की शैली में लिखी इस किताब में डॉनीगर यही काम करती हैं। ऐसा करते हुए वे आख्यान की उस समृद्धि को प्रयोग में लाती हैं जो पौराणिक शैली या देसी जुबानों के कीर्तनियों की शैली की विशेषता है।

कुछ विद्वान, हो सकता है, किताब में इस्तेमाल की गयी इस आख्यान शैली का अनुमोदन न करें। यदा-कदा डॉनीगर का दस्तावेज़ीकरण मुकम्मल और त्रुटिहीन है। पर कई बार ख़ुद को सीधा प्रभावित करनेवाले मामलों में भी यह काम मुकम्मल तरीक़े से नहीं किया गया है। लंदन की एक बैठक में जहां वे व्याख्यान दे रही थीं, उन पर एक अंडा फेंका गया था। इल्ज़ाम यह था कि जहां सीता राम के भाई पर अपने प्रति कामुक भाव रखने का आरोप लगाती हैं, वहां सीता पर टीका-टिप्पणी करते हुए डॉनीगर ने सीता और लक्ष्मण का अपमान किया है। जिस व्यक्ति ने उन पर अंडा फेंका, उसने सिर्फ़ इसलिए ऐसा नहीं किया कि उसे इस 'ईशनिंदा' पर गुस्सा आ गया था। उसने इसे गद्दार हिंदुओं और 'छद्म धर्मनिरपेक्षतावादियों' की विराट साज़िश से जोड़ा था। डॉनीगर ने रामायण के एक छंद की सरल तरीक़े से व्याख्या की थी। लेकिन जब इस किताब में वे इस मुठभेड़ का ज़िक्र करती हैं तो आश्चर्यजनक ढंग से उक्त छंद के 'कांड' का हवाला नहीं देतीं और मुझे यक़ीन है कि उनका क्रुद्ध 'हिंदू' मित्र इस झोल की चर्चा अवश्य करता!

अगर पूरा-पूरा संदर्भ दिया जाता तो वह एक आधुनिक पाठक के लिए बहुत अच्छा होता, क्योंकि वह छंद बेहद दिलचस्प है। यह मिथकों द्वारा तैयार किया गया एक इतिहास है। लिहाज़ा प्रत्येक मिथक एक दस्तावेज़ है। और दस्तावेज़ मुकम्मल होने चाहिए जैसे डॉनीगर के अन्य हवाले मुकम्मल हैं। (वे अशोक पर बनी एक बॉलीवुड फ़िल्म भी देखती हैं तो पूरी जवाबदेही के साथ इस मेलोड्रामा के दोनों मुख्य अभिनयकर्ताओं का नामोल्लेख करती हैं।) कभी-कभी उनकी विद्वत्ता और ग्रंथ पर उनका अधिकार महाकाव्य की चिरपरिचित कथाओं को भी अलग तरीक़े से पढ़ने में हमारी मदद करता है। रामायण की शंबूक कथा ऐसा एक उदाहरण है। 17वीं सदी के हिंदी कवि तुलसीदास शंबूक के, जिसे फुले के शब्दों में 'अतिशूद्र' कह सकते हैं या फिर आज की शब्दावली में 'दलित', राम द्वारा मारे जाने की कथा से इतने शर्मिंदा थे कि उन्होंने अपनी रामकथा से इस प्रकरण को हटा ही दिया। पृ. 294 पर इस बात पर विचार करते हुए डॉनीगर ने काफ़ी दिलचस्प ब्यौरे दिये हैं। मैंने देसी भाषाओं में इस विवाद के जो थोड़े-बहुत विवरण पढ़े हैं, उनमें नारद द्वार राम को दी गयी चेतावनी का हवाला नहीं मिला। समीक्षक की देखी हुई यह पहली किताब है जो नारद की चेतावनी का उल्लेख करती है। बहरहाल, चेतावनी यह थी कि एक शूद्र तपस्या कर रहा है जिसके लिए सिर्फ़ कलियुग में अतिशूद्रों को इजाज़त मिली है। यह वर्ज़न उन सभी चलताऊ वृत्तांतों के मुक़ाबले अधिक सटीक है जो यह कह कर संतुष्ट हो जाते हैं कि राम ने शंबूक को इसलिए दंडित किया कि उसने वेदाध्ययन किया था और वेदों का अध्यापन भी आरंभ कर दिया था। उनके मुक़ाबले यह वर्ज़न बताता है कि शंबूक का काम कहीं ज़्यादा बड़ा और महत्वपूर्ण था। यह तो हुई एक बात। दूसरी बात यह कि शंबूक काल के क्रम का उल्लंघन कर रहा था। वह अपनी गतिविधि का उस रूप में विस्तार करना चाहता था जिसके लिए अनुमति नहीं थी। डॉनीगर यह भी बताती हैं कि कथा में राम शंबूक का वध करने के प्रायश्चित के तौर पर एक मृत बच्चे को ज़िंदा भी करते

हैं। 'ब्राह्मणों की सेवा में इस्तेमाल किया गया एक संतचरितात्मक चमत्कार'।

बचाव का ऐसा ही रास्ता बाली के वध के प्रसंग में भी मुहैया कराया गया है। जान पड़ता है कि ऐसे बचाव के रास्ते ख़ासे प्रचलित रहे हैं। डॉनीगर संस्कृत के एक नाटक का उल्लेख नहीं करतीं, पर संभवतः वह *महावीर चरितम* है जिसमें मैंने यह पढ़ा था कि मृत्युशय्या पर पड़े बाली से राम कहते हैं कि जब राम द्वापर युग में कृष्ण के रूप में जन्म लेंगे तब वह उन्हें मारेगा।

संस्कृत का ज्ञान

डॉनीगर का संस्कृत ज्ञान आश्चर्यजनक है। अलबत्ता, उनके अनुवाद कहीं-कहीं ख़ासे भ्रामक हैं। उन्होंने 'पूर्व पक्ष' का अनुवाद किया है - स्ट्रॉ मैन / पुतला। जबकि यह शब्द ऐसे मामले की ओर इशारा करता है जिसको लेकर आप बहस करना चाहते हैं। पूर्व पक्ष एक मानक परिपाटी थी। कोई व्यक्ति जिस चीज़ को चुनौती देना चाहता था, उसको पहले यथासंभव विस्तार से प्रस्तुत करना उसकी ज़िम्मेदारी थी। यही पूर्व पक्ष कहलाता था। इसे प्रस्तुत करने के बाद वह व्यक्ति इसके जवाब में अपनी दलीलें सामने रखता। इस पूर्व पक्ष को पुतला कह कर समझाना बहस के विधि-विधान के प्रथम उसूल के रूप में इसकी मूल्यवत्ता को ही ख़ारिज कर देता है। संस्कृत में हुए वाद-विवादों का एक बड़ा हिस्सा इस पक्ष-प्रविधि का पालन करता है। यह अनुवाद इस पद्धति को बहस की एक रणनीति में, विमर्श के एक तरह के मेलोड्रामा में तब्दील कर देता है। मैं ग़लत भी हो सकता हूं; मैंने ये उदाहरण यह दिखाने के लिए पेश किया है कि इस किताब में प्रायः हर दूसरे पृष्ठ पर सहमत या असहमत होने के लिए काफ़ी कुछ है।

डॉनीगर के प्राविधिक उपागम पर भी कुछ बात की जा सकती है। उनमें विचारों के संसार के प्रति गहरा आकर्षण है। मिथकों का ऐतिहासीकरण उनमें निहित विचारों के संसार को निचोड़ कर निकाल लाने की तरह है। अलबत्ता यह शायद ठोस इतिहास नहीं है। लेकिन जैसा कि डॉनीगर बताती हैं :

> विचारों का इतिहास अगर ठोस इतिहास का एक स्रोत नहीं भी है तब भी एक बहुत मूल्यवान वस्तु है। कारण यह कि कथाएं और कथाओं में निहित विचार इतिहास को दूसरी दिशा की ओर, भविष्य की ओर प्रेरित करते हैं।

यही वह उपागम है जो उस साभ्यतिक पुननिर्मिति को ताज़ा करती है जो यह ग्रंथ मुहैया कराना चाहता है। जिस हिंदुत्ववादी ने डॉनीगर पर हमला किया, उसे शायद माफ़ कर दिया जाना चाहिए, क्योंकि उससे यह उम्मीद करना ज़्यादती होगी कि वह हिंदू विश्व को सचमुच जानता हो जिसे वह 'दूसरे' लोगों द्वारा साज़िश के तहत फैलायी जा रही कथित विकृतियों से बचाना चाहता है।

डॉनीगर का हिंदू धर्म सचमुच एक ऐसी महान रचना है जिसमें 'महिलाओं और निम्न जातियों का योगदान' किसी भी स्मृति या आम तौर पर शास्त्रों से कहीं अधिक है। उनकी दृष्टि में, 'ब्राह्मण कल्पना में कोई कैनन नहीं है, पर अगर होता तो वह कैनन शास्त्रों के समूह का होता।' ऐसे में कोई हैरत नहीं कि स्मृतियों पर उनका बल इतना कम है। वे बताती हैं कि ईसा संवत की शुरुआत में जब, मिसाल के लिए, मनुस्मृति लिखी गयी, वह 'विदेशी' ज्वार और अनेक नये विचारों, कॉस्मोपोलीटन संस्कृतियों और मूल्यों का समय था। इसे बदले जाने की ज़रूरत थी। डॉनीगर के शब्दों में, 'ब्राह्मणों को सामाजिक नियंत्रण के कुछ पहलुओं को सख़्त करना पड़ा।' यह दिलचस्प है कि नियंत्रणों के इस रूप में सख़्त किये जाने का सबसे ख़राब उदाहरण पुणे में पेशवा शासन के आख़िरी दौर में सामने आया। धनंजय कीर

द्वारा लिखित फुले की जीवनी में 18वीं सदी के अंत और 19वीं सदी की शुरुआत के कुछ उदाहरण पेश किये गये हैं। निश्चित रूप से डॉनीगर ने 'कुछ यूरो-अमरीकी इतिहासकारों' का अनुमोदनपूर्वक उल्लेख किया है जिन्होंने 'इस दौर को भारत का अंधकार युग माना है'।

डॉनीगर ने हिंदू तत्वमीमांसा की अनेक केंद्रीय संकल्पनाओं - कर्म, संसार और पुरुषार्थ इत्यादि - पर विचार किया है। उन्होंने 'पद के अमरीकी दुरुपयोग' पर टिप्पणी की है। उन्होंने हिंदू धर्म के दार्शनिक झगड़ों पर भी विचार किया है जो इतने कटु हो जाते थे कि, मिसाल के लिए, मध्व ने आदिशंकर को 'ईश्वरविरोधी' करार दिया था (पृ. 512)। पर फिर भी अच्छा लगता यदि यह जानने का अवसर मिलता कि दर्शनों और उनके परस्पर भिन्न परिप्रेक्ष्यों के बारे में उनकी क्या समझ है। ऐसा जान नहीं पड़ता कि 'फ़िलॉसफ़ी' और 'दर्शन' के बीच उनकी कोई प्राथमिकता है। इस बात पर बड़ी गर्मागर्म बहसें रही हैं, ख़ास तौर से पश्चिम में, कि हिंदुस्तान को तो छोड़िए, स्वेज के पूरब में ही कोई फ़िलॉसफ़ी मिलती है या नहीं। एक तरह से यह विशिष्ट प्राच्यवादी सूत्रीकरण है जो कि ऐसे किसी (संभव) सूत्रीकरण जितना ही अर्थहीन है कि स्वेज के पश्चिम में कहीं भी कोई दर्शन नहीं है। बहरहाल, भारतीय दर्शनों का फ़िलॉसोफ़िकल दर्जा डॉनीगर की दृष्टि में क्या है, यह देख पाना दिलचस्प होता। इस समीक्षक जैसे एक अ-विशेषज्ञ को तो ऐसा ही लगता है कि चार्वाक को छोड़ कर ज़्यादातर दर्शनों के सामने समस्या एक जैसी ही है, पर उनके उत्तर ख़ासे मुख़्तलिफ़ हैं। इसी तरह प्रत्येक दर्शन का प्रमाण सिद्धांत भिन्न है। इसका सबसे सुपरिचित उदाहरण है शब्द प्रामाण्य। यह देखना आसान है कि वे ज्ञानमीमांसा के सवाल हैं और निस्संदेह वे एक तरह से यह तय करते हैं कि भविष्य में लेखक के विचारों का संसार क्या होने जा रहा है।

कई लोगों ने, जिनमें से शरद पाटील एक हैं, हाल के दशकों में यह बताया है कि भारत में प्राथमिक दार्शनिक समस्या, जिसे आप चाहें तो मुठभेड़ कह सकते हैं, वैदिक और अवैदिक फ़लसफ़ों या दर्शनों के बीच रही है। पारंपरिक रूप से वे भिन्न रूप में जानी जाती थीं, पहले को आस्तिक और दूसरे को नास्तिक दर्शन कहते थे। डॉनीगर बहुत स्पष्ट रूप में विभिन्न सामाजिक वर्गों की परस्पर भिन्न दृष्टियों और प्रतिक्रियाओं का वर्णन करती हैं। लेकिन वे दार्शनिक मतभेदों पर बहुत विस्तार में विचार नहीं करतीं। उनके अभिमत ने संप्रति भारत के कुछ हिस्सों में ग़ैर-ब्राह्मण और ग़ैर-दलित लोगों के आंदोलनों में उभरते नज़रियों का कोई विकल्प मुहैया कराया होता। इनके वैकल्पिक नज़रियों में आदिशंकर और मनु के बीच कोई अंतर नहीं है। इस सचाई ने मुझे वेंडी डॉनीगर की कृति की उपयोगिता और ज़बरदस्त मूल्यवत्ता के प्रति आश्वस्त किया है। संभव है, यह कृति, भले ही बिना सचेत इरादे के, कुछ पांडित्य और दिशा प्रदान करे।

यह पुस्तक हिंदुओं और विद्रोहियों को अपने बारे में कुछ वैकल्पिक नज़रिये मुहैया करायेगी। हिंदू लोग ऐसी किताबों के ज़रिये यह पता लगा सकते हैं कि उन्हें ख़ुद अपने विचारों के बारे में किस वैकल्पिक समझ की ज़रूरत है।

संक्षेप में, इस अद्‌भुत पुस्तक में जो कुछ कहा गया है, उससे सभी लोग सहमत नहीं होंगे। लेकिन इसमें कोई संदेह नहीं कि 'हिंदू' विचारों के संसार के एक स्रोत के रूप में कम ही पुस्तकें हैं जो इसके पांडित्य और इसकी आलोचनात्मक सहानुभूति की बराबरी कर पाएंगी।

अनुवाद : संजीव कुमार
मो. : 09818577833

जनवादी लेखक संघ के आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन का आह्वान

सांप्रदायिक फ़ासीवाद के ख़तरे के ख़िलाफ़ लेखकों, कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों की एकता

इलाहाबाद से लौटकर राजेंद्र शर्मा द्वारा प्रस्तुत रिपोर्ट

सांप्रदायिक फ़ासीवाद की बढ़ती चुनौती की गहरी पहचान और उसका सामना करने के लिए लेखकों, कलाकारों तथा अन्य संस्कृतिकर्मियों को व्यापक जनतांत्रिक शक्तियों के प्रयासों के साथ एकजुट करने के संदेश के साथ, 14 तथा 15 फरवरी को इलाहाबाद में जनवादी लेखक संघ का आठवां राष्ट्रीय सम्मेलन उत्साह के साथ संपन्न हुआ। दो-दिनी सम्मेलन में पहले दिन, 14 फरवरी को 'साझा संस्कृति संगम' का आयोजन किया गया, जिसमें सांप्रदायिक फ़ासीवाद के बढ़ते ख़तरे की निशानदेही तथा उसके ख़िलाफ़ संघर्ष के संकल्प के लिए विभिन्न जनतांत्रिक लेखक संगठनों, सांस्कृतिक-कार्यकर्ता ग्रुपों तथा स्वतंत्र लेखकों-बुद्धिजीवियों को एक मंच पर लाने का गंभीर प्रयास किया गया। दिन भर चले विचार-विमर्श के परिणाम के रूप में सर्वसम्मति से एक 'इलाहाबाद घोषणा' को स्वीकार भी किया गया।

साझा संस्कृति संगम

इलाहाबाद घोषणा में जहां फ़ासीवादी ताकतों का मुकाबला करने के लिए 'आज एक बड़ी और नयी साहसिक पहलकदमी की ज़रूरत' को रेखांकित किया गया है, वहीं यह भरोसा भी जताया गया कि जनतंत्रकामी लेखक, कलाकार तथा संस्कृतिकर्मी जो, 'इस देश की जरखेज सेकुलर सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत और नवजागरण की संपन्न मानवतावादी, जनतांत्रिक तथा प्रगतिशील साहित्यिक परंपराओं के सच्चे वारिस हैं... अपनी प्रतिबद्धता, लगन, रचनात्मक कल्पना तथा आविष्कारशील प्रतिभा की मदद से. ..अपनी इस भूमिका का कारगर ढंग से निर्वाह कर सकेंगे।' इस तरह आज के दौर के लिए समझ व दिशा सूत्रबद्ध किए जाने की पृष्ठभूमि में, 15 फरवरी को दिन भर जनवादी लेखक संघ का प्रतिनिधि सम्मेलन हुआ, जिसमें देश के विभिन्न हिस्सों से आए दो सौ से ज़्यादा लेखक प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। प्रतिनिधि सम्मेलन के अंत में चर्चा के बाद महासचिव द्वारा प्रस्तुत मुख्य रिपोर्ट स्वीकार करने के अलावा संगठन के नये नेतृत्व का भी चुनाव किया गया। अन्य लोगों के अलावा जाने-माने कथाकार दूधनाथ सिंह को नया अध्यक्ष चुना गया है, जबकि मुरली मनोहर प्रसाद सिंह को एक बार फिर महासचिव की जिम्मेदारी सोंपी गयी है और युवा आलोचक, संजीव को उप-महासचिव चुना गया है।

जनवादी लेखक संघ के इस ऐतिहासिक सम्मेलन के लिए और इसके हिस्से के तौर पर 'साझा संस्कृति संगम' के आयोजन के लिए, ऐतिहासिक-सांस्कृतिक नगरी इलाहाबाद से बेहतर दूसरी जगह

नहीं हो सकती थी। संस्कृति संगम के आरंभ में तमाम प्रतिनिधियों, आमंत्रितों तथा वक्ताओं का स्वागत करते हुए, बुजुर्ग कम्युनिस्ट विचारक, जिया उल हक़ ने इस शहर की गंगा-जमुनी विरासत को ख़ासतौर पर रेखांकित किया। लेखक प्रतिनिधियों और इलाहाबाद के तथा आस-पास के इलाकों के लगभग सभी जाने-माने लेखकों व बुद्धिजीवियों से खचाखच भरे सीमेट सभागार में संस्कृति संगम का उद्देश्य स्पष्ट करते हुए, पहले सत्र के संचालक मुरली मनोहर प्रसाद सिंह ने आशा व्यक्त की कि जिस तरह योरप में 1930 के दशक में फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लेखकों-कलाकारों-संस्कृतिकर्मियों को एकजुट करने में पेरिस ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी, वैसी ही भूमिका इस संगम के माध्यम से इलाहाबाद अदा करेगा।

शेखर जोशी, ज़ुबैर रज़वी, अक़ील रिज़वी तथा रमेश कुंतल मेघ के चार सदस्यीय अध्यक्ष मंडल ने संस्कृति संगम के पहले सत्र की अध्यक्षता की, जिसे जाने-माने अर्थशास्त्री तथा मार्क्सवादी सिद्धांतकार, प्रभात पटनायक और जानी-मानी सांप्रदायिकताविरोधी मानवाधिकार कार्यकर्ता, तीस्ता सीतलवाड ने संबोधित किया। पिछले सम्मेलन के बाद गुज़रे वर्षों में नहीं रहे जनवादी लेखक संघ के प्रमुख नेतागण चंद्रबली सिंह, मोहम्मद हसन तथा शिवकुमार मिश्र के नाम पर, सम्मेलन के मंच को नाम दिया गया था, जबकि सम्मेलन सभागार का बाहरी मुख्य द्वार इलाहाबाद के जाने-माने लेखक तथा जनवादी लेखक संघ के नेता, मार्कंडेय का स्मरण करा रहा था।

फ़ासीवादी प्रवृत्ति बढ़ने के व्यवस्थागत कारण

प्रभात पटनायक ने अपने विचारोत्तेजक संबोधन में मौजूदा परिस्थितियों में फ़ासीवादी तौर-तरीकों तथा आग्रहों की बढ़ती गुंजाइश के बुनियादी कारणों को विस्तार से रेखांकित किया। उन्होंने ध्यान दिलाया कि जनतंत्र को जनता के बीच इस आम यक़ीन से ही ताकत मिलती है कि जनतांत्रिक प्रक्रिया में हिस्सा लेकर, वे अपनी जिंदगी बेहतर बना सकते हैं। वित्तीय पूंजी के वर्चस्ववाली मौजूदा नवउदारवादी व्यवस्था, विभिन्न तरीकों से इस यक़ीन को ही तोड़ रही है और इस तरह हताशा में लोगों को 'उद्धारकों' या 'अवतारी पुरुषों' पर भरोसा करने की ओर धकेल रही है। उनका कहना था कि फ़ासीवाद का बीज बिंदु यही है। इस सिलसिले में उन्होंने इसकी ओर भी ध्यान खींचा कि किस तरह भूमंडलीकरण के बोलबाले के दौर में राष्ट्र राज्य के लिए नीतियों के मामले में विकल्प घटते जाते हैं और यह ऐसी स्थिति पैदा करता है जहां जनता के लिए चुनाव के लिए कोई वास्तविक विकल्प रह ही नहीं जाता है। सरकार जो भी बने वह घूम-फिरकर उन्हीं नवउदारवादी नीतियों पर आ जाती है। पटनायक ने इस सिलसिले में नब्बे के दशक से एक के बाद एक केंद्र में सभी सरकारों के, एक जैसी नीतियों पर ही चलने का उदाहरण दिया।

प्रभात पटनायक ने विस्तार से इसका जिक्र किया कि किस तरह नवउदारवादी नीतियों के बोलबाले के चलते, हमारे देश में वर्गीय ताकतों के संतुलन में ऐसे अनेक बदलाव हो रहे हैं, जो वास्तविक विकल्प की ओर बढने की जनता की शक्ति को कमज़ोर करते हैं। ऐसा नवउदारवादी रीति-नीतियों के अमल से लघु उत्पादकों, किसानों तथा मजदूरों की स्थिति कमज़ोर होने के रास्ते हो रहा है। बेरोजगारों की बढ़ती फौज इसी का एक महत्वपूर्ण लक्षण है। पटनायक ने याद दिलाया कि किस तरह रोजगार वृद्धि दर के शीर्ष पर चल रहे होने के दौर में भी, 2004-05 तथा 2009-10 के राष्ट्रीय नमूना सर्वेक्षणों के आंकड़ों के अनुसार, रोजगार वृद्धि दर 0.8 फीसद रही थी, जबकि जनसंख्या वृद्धि दर 1.5 फीसद सालाना रही थी। इसमें तबाह हुए लघु उत्पादकों को भी जोड़ लिया जाए तो, बेरोजगारी की बढ़ोतरी का स्तर और

ऊंचा हो जाता है। इस सिलसिले में उन्होंने यह भी याद दिलाया कि रोजगारशुदा लोगों और बेरोजगारों के बीच का अंतर घट गया है। उन्होंने रोजगार के बढ़ते ठेकाकरण, उद्योगों के बढ़ते निजीकरण, रोजगार बाजार में 'लचीलापन' लाए जाने की ओर भी ध्यान खींचा और कहा कि ये सभी तब्दीलियां मजदूर वर्ग की राजनीति की ताकत को कमज़ोर करने में भूमिका अदा कर रही हैं। इस तरह भूमंडलीकरण के युग ने इस तरीके से वर्गीय शक्तियों के संतुलन में एक निर्णायक मोड़ ला दिया है।

इन परिस्थितियों में वर्गीय राजनीति में गिरावट के साथ 'पहचान की राजनीति' के उभार के निहितार्थों की भी प्रभात पटनायक ने विस्तार से चर्चा की। पटनायक ने इस सिलसिले में यह भी रेखांकित किया कि किस तरह इस अवधारणा में अनेक असमान और वास्तव में एक-दूसरे से विपरीत प्रकार के आंदोलन भी शामिल हैं। इस सिलसिले में उन्होंने तीन अलग-अलग धाराओं की निशानदेही की। एक, पहचान से जुड़े प्रतिरोध आंदोलन, जैसे दलित आंदोलन या महिला आंदोलन। दूसरे, सौदेबाजी करने वाले पहचान के आंदोलन, जैसे जाटों की आरक्षण की मांग का आंदोलन, जिसके जरिए वे अपनी स्थिति मजबूत करना चाहते हैं। तीसरे, पहचान की फ़ासीवादी राजनीति, जिसकी स्पष्ट मिसाल फ़ासीवादी राजनीति है, जो एक ख़ास पहचान समूह से जुड़े होने के बावजूद, दूसरे 'पहचान समूहों' के ख़िलाफ़ जहरीला प्रचार कर उन पर हमले बोलती है। पटनायक ने यह भी याद दिलाया कि इस राजनीति को कॉरपोरेट वित्तीय पूंजी पालती-पोसती है और इसका वास्तविक मकसद उसी कॉरपोरेट जगत को मजबूती प्रदान करना होता है।

उन्होंने यह भी रेखांकित किया कि ये पहचान की राजनीतियां एक-दूसरे से काफी भिन्न होते हुए भी, वर्गीय राजनीति के कमज़ोर होने से, प्रतिरोध के पहचान आंदोलनों में प्रगतिशीलता का तत्व कमज़ोर हुआ है और इससे उन्हें और ज़्यादा 'सौदेबाजी की पहचान की राजनीति' की ओर धकेल दिया गया है। कुल मिलाकर वर्गीय राजनीति में गिरावट से पहचान की राजनीति के ऐसे रूपों को मजबूती मिली है जो अवाम के हिस्सों को ही एक-दूसरे के ख़िलाफ़ खड़ा करते हैं तथा व्यवस्था के लिए किसी भी आसन्न ख़तरे की संभावना को कमज़ोर करते हैं। पटनायक ने जोर देकर ध्यान दिलाया कि यह सब हमारे देश में जाति-आधारित सामंती व्यवस्था से जुड़ी 'पुरानी व्यवस्था' को ढहाकर, मजदूर वर्ग पर केंद्रित 'नयी सामूहिक व्यवस्था' के निर्माण की प्रक्रियाओं को आघात पहुंचाता है। इसी सिलसिले में उन्होंने इन परिस्थितियों के चलते मजदूर वर्ग के तथा समाज के बढ़ते लंपटीकरण की ओर भी ध्यान खींचा।

वर्तमान भ्रष्टाचार विमर्श के ख़तरे

इसके साथ ही प्रभात पटनायक ने नवउदारवादी व्यवस्था में चलने वाले प्राथमिक पूंजी संचय के साथ भ्रष्टाचार के रिश्ते को रेखांकित किया। इस प्रक्रिया को उन्होंने राजनीति के ही माल में तब्दील हो जाने के साथ भी जोड़ा, जिसका संबंध सबसे बढ़कर इससे है कि सत्ताधारी वर्ग की राजनीतिक पार्टियों के लिए अलग-अलग आर्थिक एजेंडा जनता के सामने रखने की गुंजाइश ही नहीं रही है। ऐसे में उनमें जनता को अपने पक्ष में करने के लिए दूसरे-दूसरे तरीकों को आजमाने की होड़ लग जाती है। इसके लिए राजनीति को संसाधन जुटाने के काम में लग जाना पड़ता है। पटनायक का कहना था कि भ्रष्टाचार राजनीतिक वर्ग में अचानक आए 'नैतिक पतन' का परिणाम नहीं है बल्कि नवउदारवादी व्यवस्था का अपरिहार्य हिस्सा है। लेकिन, इसी पर केंद्रित भ्रष्टाचार विमर्श, कॉरपोरेट निजाम का रास्ता और आसान

बना देता है। इस व्यवस्था में ऊंची वृद्धि दर के बावजूद, आम गरीबी के बढ़ने की ओर ध्यान खींचते हुए, पटनायक ने कहा कि **भ्रष्टाचार को गरीबी का कारण बनाकर पेश करना विडंबनापूर्ण तरीके से, जनता की बदहाली बढ़ाने के नवउदारवादी व्यवस्था के बुनियादी रुझान को, जनता की नज़रों में उसे सहारा देने का काम करता है।**

प्रभात पटनायक का कहना था कि भारतीय अर्थव्यवस्था आज संकट के जिस दौर से गुजर रही है, उसकी पृष्ठभूमि में यह ख़तरा और भी बढ़ जाता है। उन्होंने याद दिलाचा कि किस तरह जो शहरी मध्यवर्ग इस संकट से पहले तक चल रही ऊंची वृद्धि दर का लाभ हासिल कर रहा था, उसकी भी हालत खराब हो रही है। ऐसे में कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन की मदद से राजनीतिक वर्ग के ख़िलाफ़ खड़ा किया गया विमर्श, एक कहीं ज़्यादा ताकतवर, ज़्यादा निर्मम नव-उदारवाद की मांग को भी बल देता है। यहां नरेंद्र मोदी, कॉरपोरेट शासन यानी फ़ासीवाद की राह हमवार करता नज़र आता है। इसी क्रम में प्रभात पटनायक ने ध्यान दिलाया कि भारत के संदर्भ में फ़ासीवाद में संक्रमण को किसी एक घटना या व्यक्ति तक सीमित कर के नहीं देखा जाना चाहिए। उन्होंने मजदूरों के, अल्पसंख्यकों के अधिकारों के बढ़ते दमन समेत इसके विभिन्न तत्वों का जिक्र करते हुए, इन तत्वों से बनती परिस्थिति को 'पच्चीकारी फ़ासीवाद' का नाम दिया। पटनायक का कहना था कि मौजूदा हालात में इसी के आसार ज़्यादा हैं कि एकीकृत फ़ासीवाद के तजुर्बे की जगह, हमारे देश को संघीयकृत फ़ासीवाद यानी ऐसी अवस्था का सामना करना पड़ सकता है, जहां कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन द्वारा समर्थित सांप्रदायिक-फ़ासीवादी तत्व अगले चुनाव के बाद, ऐसे स्थानीय सत्ता केंद्रों की मदद से सत्ता में आ सकते हैं, जो ख़ुद सीधे-सीधे कॉरपोरेट-वित्तीय अभिजन से जुड़े हुए नहीं हैं।

जातिवाद और सांप्रदायिकता का रिश्ता

इस सत्र की दूसरी महत्वपूर्ण वक्ता तीस्ता सीतलवाड ने सांप्रदायिक ताकतों के ख़िलाफ़ लंबे संघर्ष के अपने अनुभवों से इस चर्चा को समृद्ध बनाया। इस सिलसिले में उन्होंने जहां हमारे देश में अस्सी के दशक के उत्तरार्द्ध से आए सांप्रदायिक उभार तथा नब्बे के दशक के आरंभ से अपनायी गयी आर्थिक नीतियों के रिश्ते को और भारत में फ़ासीवाद के बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के रूप में सामने की सचाई को रेखांकित किया, वहीं उन्होंने विशेष रूप से गुजरात के संदर्भ में सांप्रदायिक ताकतों की कई दशक से जारी तैयारियों की याद दिलायी। इस संदर्भ में उन्होंने इसका भी जिक्र किया कि किस तरह नब्बे के दशक से वहां भाजपा सत्ता में है। इसके भी दस-बारह साल पहले से गुजरात पर हिंदुत्ववादी तालिबान का शिकंजा कसता जा रहा था। सीतलवाड ने याद दिलाया कि सत्ता में आने से काफी पहले से फ़ासीवादी ताकतें सत्ताओं पर कब्जा कर चुकी होती हैं और दंगों तथा अल्पसंख्यकविरोधी जनसंहारों के जरिए अपना शिकंजा कसती जाती हैं।

इसी संदर्भ में ख़ासतौर पर गुजरात के अनुभवों के आधार पर जातिवाद तथा सांप्रदायिकता और जातिवाद तथा नवउदारवाद के रिश्तों को उजागर करते हुए, तीस्ता सीतलवाड ने टेलीविजन चैनलों तथा उनके माध्यम से टेलीविजन समाचारों पर अंबानी ग्रुप के बढ़ते नियंत्रण, समाचार पर कसते इजारेदाराना शिकंजे और गुजरात मॉडल के महिमामंडन के रिश्तों को रेखांकित किया। उन्होंने इसका जिक्र किया कि किस तरह अडानी, अंबानी तथा टाटा के अनुमोदन के चलते, अब विकास के तथाकथित 'गुजरात

मॉडल' पर कोई बहस ही नहीं होने दी जा रही है। उनका कहना था कि गुजराती अख़बारों में तो फिर भी इस मॉडल की समस्याओं की ओर इशारा करने वाली छोटी-मोटी ख़बरें छपती भी रहती हैं, लेकिन राष्ट्रीय मीडिया में 'गुजरात मॉडल' पर कोई सवाल नहीं उठाया जाता है। इस सिलसिले में उन्होंने सवाल पूछा कि यह मीडिया क्यों नहीं पूछता कि 2012 के जून से अब तक नरेंद्र मोदी जो हैलीकोप्टर से देश भर का चक्कर लगाते रहे हैं, उसका खर्चा आख़िर कौन भर रहा है? उनकी हरेक सभा में जो 2000 सुरक्षाकर्मी रहते हैं, जिनमें पूरे 200 गुजरात के पुलिस बल के लोग रहते हैं क्योंकि मोदी को अपनी सुरक्षा के लिए किसी दूसरे राज्य की पुलिस का भरोसा नहीं है, उस सब का खर्चा कहां से आ रहा है?

तीस्ता सीतलवाड ने टाटा की नैनो परियोजना के गुजरात के लिए स्थानांतरण के संदर्भ में यह भी याद दिलाया कि इसके लिए गुजरात के सरकारी खजाने से अभूतपूर्व रियायतें दिए जाने की मुख्य वजह यह थी कि मोदी को अपने सांप्रदायिक चेहरे को ढांपने के लिए टाटा घराने के अनुमोदन से मिल सकने वाली वैधता चाहिए थी। सीतलवाड का कहना यह भी था कि इसी प्रकार, कोई यह भी नहीं पूछ रहा है कि दुनिया भर में तानाशाहों का चेहरा चमकाने के लिए कुख्यात 'एप्को वर्ल्डवाइड' जो एक जमाने से 25,000 डालर प्रतिमाह में मोदी का छवि निर्माण संभाल रही थी, उस पर अब कितना खर्च हो चुका है? उनका कहना था कि फ़ासीवाद की यही तो निशानी है कि उसके संबंध में कोई सवाल ही न उठा सके। इसी प्रवृत्ति के एक लक्षण के तौर पर उन्होंने वेंडी डोनिगर की किताब पेंग्विन प्रकाशन द्वारा वापस लिये जाने का भी जिक्र किया।

सीतलवाड ने गुजरात का उदाहरण देते हुए इसकी भी चर्चा की कि किस तरह बहुसंख्यक सांप्रदायिकता की ताकतें, अपने एजेंडे को आगे बढ़ाने के लिए आदिवासियों व दलितों का सचेत रूप से इस्तेमाल करती रही हैं। इस सिलसिले में उन्होंने अल्पसंख्यक ठिकानों पर आतंकी बम विस्फोटों के सिलसिले में जेल में बंद, असीमानंद की गुजरात के आदिवासी इलाकों में गतिविधियों का भी जिक्र किया। उन्होंने इस पर हैरानी भी जतायी कि सब कुछ के बावजूद, आर एस एस संचालित आदिवासी कल्याण आश्रम को ही, आदिवासी कार्य मंत्रालय द्वारा खर्च किए जाने वाले संसाधनों का ज़्यादातर हिस्सा मिल रहा है। उन्होंने इसका भी जिक्र किया कि किस तरह शहरों में, जहां मुसलमान और दलित साथ-साथ रहते आए हैं, उनके बीच सोचे-समझे तरीके से कटुता की दीवार खड़ी की गयी है। सीतलवाड ने इसका भी जिक्र किया कि किस तरह से गुजरात की ताकतवर मंझली किसान जाति, पटेल समुदाय से जुड़ी गुजरात की मोदी सरकार में नंबर दो मानी जाने वाली आनंदी बेन पटेल, दलितों के संप्रदायीकरण की सचेत कोशिश के हिस्से के तौर पर, दलित इलाकों में सभाओं के मंच पर, दलित नेताओं को बुलाकर, उनके पांव धोती हैं। उन्होंने याद दिलाया कि 2002 की हिंसा की अगुआई सबसे बढ़कर पटेल समुदाय ने ही की थी और इसीलिए इस हिंसा से जुड़े विभिन्न मामलों में अब तक आजीवन कारावास की सजा पाने वाले कुल 117 लोगों में 80 फीसद इसी समुदाय से हैं।

लंबी तैयारी लंबी लड़ाई

तीस्ता सीतलवाड ने नवउदारवादी निजाम में, साझा साम्राज्यवादविरोधी संघर्ष के इतिहास को दबाने-मिटाने की कोशिशों के ख़तरे की ओर भी ध्यान खींचा। उन्होंने याद दिलाया कि जब सावित्री बाई फुले ने महिलाओं की शिक्षा के लिए काम शुरू किया था और उन्हें सवर्ण-नियंत्रित समाज के भीषण विरोध के

चलते अपना घर छोडना पड़ा था, एक मुसलमान ने ही उन्हें शरण दी थी। लेकिन साझा संघर्ष के इतिहास के अनगिनत प्रकरणों को भुलाने की ही कोशिश की जा रही है। गुजरात में बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के पक्ष में आम राय बनाये जाने की लंबी सचेत प्रक्रिया की चर्चा करते हुए, सीतलवाड ने ध्यान दिलाया कि किस तरह गुजरात में 1989 से ही पाठ्यपुस्तकों में सांप्रदायिक-बहुसंख्यकवादी बदलावों का सिलसिला चला आ रहा था। एनडीए के राज में 'त्रिशूल दीक्षा' अभियान की याद दिलाते हुए, उन्होंने बताया कि गुजरात में पूरे 12 लाख त्रिशूल बांटे गए थे और राजस्थान में 4 लाख। यह सांप्रदायिक हिंसा को धारदार बनाना था।

तीस्ता सीतलवाड ने इसकी ओर भी ध्यान खींचा कि किस तरह इसी के हिस्से के तौर पर बहुसंख्यक सांप्रदायिकता की ताकतें अल्पसंख्यकों तथा अन्य वंचित समुदायों में आंतरिक जनतंत्र की प्रवृत्तियों तथा ख़ास तौर पर महिलाओं के अधिकारों के संघर्ष को दबाने में भी मदद करती हैं। इस सिलसिले में उन्होंने दाऊदी बोहरा समुदाय का ख़ासतौर पर जिक्र किया, जिसके धर्मगुरु को मोदी राज के समर्थन के बदले में, समुदाय के मामलों में पूरी तानाशाही बरतने का लाइसेंस मिला हुआ है। इसी प्रकार उन्होंने इसका भी जिक्र किया कि किस तरह निजीकरण की नवउदारवादी नीतियों के चलते, दलितों के लिए भी रोजगार के मौके घट रहे हैं, लेकिन निजी क्षेत्र में दलितों के लिए आरक्षण की मांग को यूपीए-द्वितीय के राज में पूरी तरह से भुला ही दिया गया। अंत में सीतलवाड ने सांप्रदायिक फ़ासीवाद की काट करने के संदर्भ में, सोशल मीडिया के उपयोग पर भी जोर दिया। उनका कहना यह भी था कि जहां अभी मुश्किल से 19 फीसद लोगों तक इंटरनैट की पहुंच है, जनतांत्रिक ताकतों को अपने संघर्ष के हिस्से के तौर पर इस पहुंच को बढ़ाने के लिए भी काम करना चाहिए, ताकि अपना संदेश जनता के बीच पहुंचा सकें।

अध्यक्षमंडल की ओर से बोलते हुए अक़ील रिज़वी ने प्रगतिशील लेखक संघ के गठन की प्रक्रिया के साथ, इलाहाबाद के तथा निजी तौर पर अपने रिश्ते को याद करते कहा कि प्रेमचंद ने देहात को समझा था, लेकिन वह देहात अब बदल गया है। उनका कहना था कि इस बदलाव में कोई सार्थक अर्थ खोज पाना मुश्किल है। फ़ासीवाद को रोकने की लड़ाई बहुत मुश्किल होते जाने के हालात को रेखांकित करते हुए, रिज़वी ने कहा कि यह सही है कि लेखकों-कलाकारों-संस्कृतिकर्मियों की ऐसी ताकतों का मुकाबला करने की शानदार परंपरा है और वे लड़ भी रहे हैं, फिर भी यह ताकत वक़्त के ज़रूरत के मुकाबले बहुत थोड़ी है। चंचल चौहान ने चर्चा के अंत में धन्यवाद दिया।

लेखक संगठनों की एकता

'साझा संस्कृति संगम' के दूसरे सत्र में, इलाहाबाद घोषणा के मसौदे का अनुमोदन करते हुए प्रगतिशील लेखक संघ के महासचिव, अली जावेद, जन संस्कृति मंच के महासचिव, प्रणय कृष्ण और जनवादी लेखक संघ के सचिव, मनमोहन ने खचाखच भरे सभागार में उपस्थित लेखकों, कलाकारों तथा संस्कृतिकर्मियों को संबोधित किया। तीनों ने स्वतंत्रता के लिए संघर्ष के दौर में सामने आये प्रगतिशील साहित्य आंदोलन की अपनी साझा परंपरा को याद करते हुए, सांप्रदायिक फ़ासीवाद की चुनौती का सामना करने के लिए जनतंत्रकामी व धर्मनिरपेक्ष लेखकों व संस्कृतिकर्मियों की व्यापकतम एकता की ज़रूरत पर जोर दिया। अली जावेद ने 1936 में पी डब्ल्यू ए की स्थापना के समय के हालात से भी खराब होने की बात कही और इसके साथ ही यह भी ध्यान दिलाया कि आज लोगों को भरोसा लेखकों-बुद्धिजीवियों पर ही है।

प्रणय कृष्ण ने फ़ासीवाद का जवाब देने की चुनौती को स्वीकार करने के लिए ज़रूरी सामर्थ्य का सवाल उठाते हुए कहा कि हम जो कुछ कर रहे हैं, उससे बहुत-बहुत ज़्यादा करने की ज़रूरत है। मनमोहन ने इसके आत्मपरीक्षण की ज़रूरत पर जोर दिया कि इस मुकाम पर दक्षिणपंथ की जैसी तैयारी है, वैसी तैयारी वामपंथ की क्यों नहीं है? इसके साथ ही उन्होंने यह भी ध्यान दिलाया कि यह संकट का ही वक़्त नहीं है, वामपंथी व जनतांत्रिक शक्तियों के लिए एक बड़ा मौका भी है। प्रतिक्रांतिकारी परिस्थिति को क्रांतिकारी बदलाव के मौके में बदलने की अपील करते हुए उन्होंने इसी दौर में दलितों, अल्पसंख्यकों, महिलाओं आदि तमाम वंचितों के बीच देखने को मिल रही बढ़ती बेचैनी की ओर भी ध्यान खींचा।

कथाकार शिवमूर्ति ने भी इस सत्र की चर्चा में हिस्सा लिया। उन्होंने आज की परिस्थिति में सांप्रदायिकता और जातिवाद को, दो सबसे बड़े ख़तरे बताया और ध्यान दिलाया कि कैसे दोनों एक-दूसरे की मदद करते हैं। उन्होंने इन चुनौतियों का सामना करने के लिए नये तरीके खोजने की ज़रूरत पर जोर दिया। इस सत्र के अध्यक्षमंडल की ओर से बोलते हुए, वरिष्ठ आलोचक राजेंद्र कुमार ने कहा कि एकजुटता की आज जितनी ज़रूरत है, पहले कभी नहीं थी। आत्ममुग्धता को शत्रु बताते हुए, राजेंद्र कुमार ने आत्मालोचनात्मक स्वर में कहा कि हम जनवाद का साधारणीकरण नहीं कर पाये हैं और बौद्धिकीकरण में ही उलझे रहे हैं, जो काफी नहीं है। उन्होंने आलोचना की भूमिका के संदर्भ में कहा कि उसे जनता की समझ का विकास करना चाहिए। कथाकार नमिता सिंह भी इस सत्र के अध्यक्षमंडल में थीं। संजीव कुमार ने इस सत्र का संचालन किया। धन्यवाद ज्ञापन हरिश्चन्द्र पाण्डेय ने किया।

चुनौती के विभिन्न पहलू

'साझा संस्कृति संगम' के तीसरे सत्र में, जिसका संचालन रेखा अवस्थी ने किया, विभिन्न वक्ताओं ने सांप्रदायिक फ़ासीवाद के विरुद्ध संघर्ष के अनुभव के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को रखा। आलोचक वीरेंद्र यादव ने सांप्रदायिक फ़ासीवाद का अश्वमेध का घोड़ा छोड़ दिए जाने का जिक्र किया और उसे रोकने के लिए सिर्फ़ प्रस्ताव नहीं बल्कि सशक्त हस्तक्षेप की ज़रूरत पर जोर दिया। इसी संदर्भ में उन्होंने साहित्य के जनतंत्रीकरण की ज़रूरत को रेखांकित किया। उनका कहना था कि धर्मनिरपेक्षता में सामाजिक न्याय की लड़ाई भी शामिल है और इस हिसाब से धर्मनिरपेक्षता को पुनर्परिभाषित किया जाना चाहिए। अखिल भारतीय जनवादी महिला समिति की नेता, सुभाषिणी अली ने जहां जोर देकर कहा कि बिना औरतों के मंज़िल पर नहीं पहुंचा जा सकेगा, वहीं फ़ासीवाद का ख़तरा किसी एक पार्टी या नेता तक सीमित कर के देखने के ख़िलाफ़ भी आगाह किया। उन्होंने इसकी भी चर्चा की कि किस तरह धर्मनिरपेक्षता का दम भरने वाली ताकतें भी कई बार, अल्पसंख्यकों के सांप्रदायिक नेतृत्व को ही मान्यता देती हैं। इस सिलसिले में उन्होंने ध्यान दिलाया कि किस तरह बहुसंख्यक व अल्पसंख्यक, दोनों ही ओर की सांप्रदायिकताएं एक-दूसरे की मदद करती हैं। उन्होंने जोर देकर कहा कि यह अल्पसंख्यकों पर उपकार नहीं उनका अपकार है। उन्होंने पहचान की राजनीति की नकारात्मक भूमिका पर भी विस्तार से प्रकाश डाला।

सुभाष गताड़े ने न्यू सोशलिस्ट इनीशिएटिव की ओर से बोलते हुए, असहमति की आवाज़ को कुचलने के लिए, आहूत ब्रिगेड-कॉरपोरेट-नौकरशाह गठजोड़ की बढ़ती कारगुजारियों की ओर ध्यान खींचा। उन्होंने सांप्रदायिक-फ़ासीवाद के बढ़ते ख़तरे के संदर्भ में यह रेखांकित किया कि बहुसंख्यक

सांप्रदायिकता के अगुआओं का इलाका, फुले, अंबेडकर आदि का भी इलाका है। उनका सवाल था कि बहुसंख्यक सांप्रदायिकता, मनुवादी प्रतिक्रांति का भी मामला नहीं है। इसके साथ ही उन्होंने प्राचीन परंपरा में महिलाओं, दलितों आदि के ख़िलाफ़ हिंसा की स्वीकार्यता और राष्ट्रीय आंदोलन में उत्पीड़ितों को कुचलने वाली धाराओं की मौजूदगी की ओर ध्यान खींचा और ध्यान दिलाया कि इन तत्वों ने सांपद्रायिक फ़ासीवाद के उभार में मदद की है। मलयश्री हाश्मी ने जन नाट्य मंच के सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ नाटक के अनुभवों का साझा करते हुए, बताया कि किस तरह इस चुनौती के बदलते रूपों के साथ, सांप्रदायिकता के ख़िलाफ़ नाटक के हस्तक्षेप का स्वर भी बदलता गया है।

मुंबई से आए शायर सैयद रियाज़ ने 'अदब ए इस्लामी' जैसी अवधारणाओं के ख़तरों की ओर ध्यान खींचा। कवि राजेश जोशी ने सांप्रदायिक फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ाई में हर तरह के हथियारों की ज़रूरत पर जोर देते हुए कहा कि कई बार इन ताकतों के ख़िलाफ़ 'हंसी' भी कारगर हथियार बन जाती है। चंद्रकला पांडेय ने पं. बंगाल में इस समय चल रहे 'अंधेर नगरी, चौपट रानी' के जनविरोधी, जनतंत्रविरोधी राज की ओर ध्यान खींचा। अध्यक्षमंडल की ओर से दूधनाथ सिंह ने सत्र को संबोधित किया। बाद में 'साझा संस्कृति' ने सर्वसम्मति से 'इलाहाबाद घोषणा' का अनुमोदन किया। अंत में सुधीर सिंह ने साझा संस्कृति के लिए जुटे सभी लेखकों, कलाकारों व संस्कृतिकर्मियों का धन्यवाद करते हुए, इसे प्रतिरोध के रास्ते पर बढ़ा हुआ एक कदम बताया। शाम में हुए सांस्कृतिक कार्यक्रम में 'हरियाणा ज्ञान विज्ञान मंच' की टीम ने कुछ गीत प्रस्तुत करने के अलावा अपना नाटक 'भस्मासुर यज्ञ' प्रस्तुत किया। बाद में इलाहाबाद के नाट्य ग्रुप 'समानांतर' ने सत्यजीत राय की कहानी पर आधारित एकल नाटक 'असमंजस बाबू' की प्रस्तुति की। देर रात तक चले कवि सम्मेलन में अनेक स्थानीय कवियों समेत बड़ी संख्या में आगंतुक कवियों ने अपनी कविताएं सुनायीं।

प्रतिनिधि सत्र

15 फरवरी का दिन जनवादी लेखक संघ के आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन के प्रतिनिधि सत्र को समर्पित था। पदाधिकारी मंडल ने सम्मेलन की संचालन समिति की जिम्मेदारी संभाली। शोक प्रस्ताव के जरिए, पिछले सम्मेलन के बाद गुज़रे वर्षों में नहीं रहे जनवादी लेखक संघ के नेताओं तथा जनवादी आंदोलन की प्रमुख हस्तियों को श्रद्धांजलि अर्पित किए जाने के बाद, चंचल चौहान ने महासचिव की मुख्य रिपोर्ट सम्मेलन के सामने विचार के लिए रखी। इस क्रम में उन्होंने नवउदारवाद के मौजूदा दौर में मध्य वर्ग की बदलती हुई भूमिकाओं की ओर ख़ासतौर पर ध्यान खींचा। बाद में प्रतिनिधियों ने पहले राज्यवार टोलियों में बंटकर, रिपोर्ट पर चर्चा की। पूर्णाधिवेशन में हरेक राज्य के दो-दो प्रतिनिधियों ने अपने राज्य के प्रतिनिधिमंडल की ओर से रिपोर्ट पर बहस में हस्तक्षेप किया। इस क्रम में उन्होंने अपने-अपने क्षेत्र में काम के अनुभवों को भी चर्चा में जोड़ा। इस गंभीर चर्चा में 16 प्रतिनिधियों ने हिस्सा लिया। बहस का चंचल चौहान ने जवाब दिया, जिसके बाद कुछ सुझावों को शामिल करने के आश्वासन के साथ, सर्वसम्मति से रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया गया।

इसी सत्र के दौरान जलेस सम्मेलन ने अनेक प्रस्ताव भी स्वीकार किये, जिनमें दलित उत्पीडन के विरुद्ध, महिलाओं के उत्पीडन के विरुद्ध तथा अभिव्यक्ति की आज़ादी पर बढ़ते हमलों के ख़िलाफ़ प्रस्ताव प्रमुख हैं। इस सत्र के दौरान ही शेखर जोशी, दूधनाथ सिंह तथा अन्य लेखकों ने, अनेक पुस्तकों तथा

पत्रिका विशेषांकों का भी विमोचन किया, जिनमें जनवादी लेखक संघ की झारखंड राज्य पत्रिका *उत्तरा* के दिवंगत शिवकुमार मिश्र पर केंद्रित अंक और नीलकांत की तीन पुस्तकों का विमोचन भी शामिल था। इस सत्र के दौरान ही सम्मेलन की ओर से शेखर जोशी ने शॉल ओढ़ाकर मार्कंडेय की पत्नी श्रीमती विद्यावती सिंह का अभिनंदन किया। मार्कंडेय के दो भाई भी इस मौके पर उपस्थित थे।

आख़िर में सम्मेलन ने नयी 161 सदस्यीय केंद्रीय परिषद का चुनाव किया, जिसने सम्मेलन मे दौरान ही हुई अपनी पहली संक्षिप्त बैठक में 38 सदस्यीय कार्यकारिणी तथा 24 सदस्यीय पदाधिकारी मंडल का चुनाव किया। संगठन के नवनिर्वाचित अध्यक्ष, दूधनाथ सिंह ने नयी रचनाशीलता को नये ढंग से परखने की ज़रूरत पर जोर देते हुए कहा कि हमारा संगठन नये लेखक के प्रति स्वीकृति बढ़ाए, उसके महत्व को रेखांकित करने में मदद करे। उन्होने जोर देकर कहा कि हमारे संगठन में बेहतरीन पैदा करने की ताकत है और इन संभावनाओं को सामने लाना है। जलेस के उत्तर प्रदेश राज्य सचिव, प्रदीप सक्सेना के धन्यवाद ज्ञापन के साथ इस महत्वपूर्ण सम्मेलन का समापन हुआ।

मो. : 09810897260

जनवादी लेखक संघ के आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन (14-15 फरवरी, इलाहाबाद) में पारित प्रस्ताव

दलित उत्पीड़न के ख़िलाफ़ प्रस्ताव

आज के दो दशक पहले उदारीकरण की अनुदार संरचना में धकेले जा रहे भारत की सुहानी तस्वीर एकध्रुवीय वैश्वीकरण के समर्थकों ने पेश की थी। सम्मोहन की उस अवस्था में लगा था कि इस संरचना में शामिल होने भर से देश की तमाम समस्याएं हल जो जाएंगी। सामाजिक प्रश्नों के संदर्भ में भी यह उम्मीद तारी हुई थी। लेकिन पिछले एक दशक में ही घटी घटनाओं को ध्यान में रखें तो पता चलेगा कि भारतीय समाज की वीभत्स सचाई, जातिवादी मनोरचना एक स्तर पर पहले से अधिक क्रूर, हिंसक और हमलावर हुई है। हाल फ़िलहाल में दलितों पर हुए हिंसक हमलों की सूची बनायी जाये तो स्थिति की भयावहता का अंदाज़ा हो जाता है। वर्ष 2005 में हरियाणा के गोहाना क़स्बे में वाल्मीकि बस्ती पर हमला करके लगभग सत्तर घर लूटे और जलाये गये। यहीं 2007 में सालवन में दलितों के 300 घर आग के हवाले कर दिये गये। 2010 में हरियाणा के ही हिसार ज़िले के मिर्चपुर गांव में दलितों के दो दर्जन से अधिक घर जला दिये गये और बारहवीं कक्षा की प्रतिभाशाली छात्रा सुमन (पोलियोग्रस्त) को पिता (ताराचंद वाल्मीकि) समेत जला दिया गया। जनवरी 2012 में ओडिशा के बोलंगीर ज़िले के लाठोर क़स्बे में दलित बस्ती पर हमला करके चालीस मकानों को तबाह कर दिया गया। लूट के बाद उनमें आग लगा दी गयी। नवंबर 2012 में तमिलनाडु के धर्मपुरी ज़िले में दलित-बहुल नायकनकोट्टाई गांव में दलितों की तीन बस्तियों पर धावा बोला गया और चार सौ से अधिक मकानों को लूटने के बाद आग के हवाले कर दिया गया।

जनवादी लेखक संघ का यह राष्ट्रीय सम्मेलन ऐसी दलितविरोधी जातिवादी हिंसा की पुरज़ोर निंदा करता है और सरकार से इस संबंध में कड़ी कार्रवाई की मांग करता है। भारतीय संविधान और संसद

द्वारा उनकी सुरक्षा, सबलीकरण और विकास के लिए जो भी क़दम उठाये गये हैं, उन्हें ख़त्म करने की जिस तरह से खुली वक़ालत की जा रही है, हम उसकी भी निंदा करते हैं।

प्रस्ताव : बजरंग बिहारी तिवारी **अनुमोदन : संजीव कुमार**

उर्दू की हिफ़ाज़त और फ़रोग़ के लिए

जनवादी लेखक संघ उर्दू की हिफ़ाज़त और फ़रोग़ को देश में जम्हूरियत की हिफ़ाज़त और उसके फ़रोग़ से जोड़ कर देखता है। उर्दू को ख़त्म करने की जो साज़िश सामराजियों ने रची, वह आज़ादी के बाद भी चलती रही क्योंकि उर्दू ने आज़ादी की लड़ाई में बहुत ही अहम भूमिका अदा की थी। आज़ादी के तराने जन जन तक उसी जुबान में पहुंचते थे। इसलिए भारत में जनवाद की रक्षा और विकास का सवाल उर्दू की रक्षा और विकास से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसी समझ के तहत जनवादी लेखक संघ ने उन तमाम राज्यों में उर्दू को दूसरी राजभाषा का दर्जा देने के लिए जद्दोजहद की जिनमें उर्दूभाषी अवाम की तादाद काफी ज़्यादा है, जिसके फलस्वरूप बिहार, झारखंड, दिल्ली आदि राज्यों में उसे वह दर्जा मिला है। यह अफ़सोसनाक है कि उत्तरप्रदेश जैसे राज्य में, जहां उर्दूभाषी आबादी ख़ासी बड़ी है, इस जुबान की उन्नति के लिए जो क़दम उठाये जाने चाहिए थे, वे नहीं उठाये गये।

जनवादी लेखक संघ ऐसे सभी राज्यों की सरकारों से, जहां काफी तादाद में उर्दूभाषी अवाम रहते हैं, यह मांग करता है कि वे अपने राज्यों में उर्दू को दूसरी राजभाषा बनायें और उसकी पढ़ाई लिखाई आदि की सहूलियत मुहैया करायें। जलेस उर्दू के हक़ में संघर्ष करने के लिए सभी लेखकों का आह्वान करता है।

प्रस्ताव : चंचल चौहान **अनुमोदन : शुभा**

विकास-निधि के एक अंश का उपयोग साहित्य, कला और शिक्षा के लिए हो

जनवादी लेखक संघ का आठवां राष्ट्रीय सम्मेलन मांग करता है कि सांसदों, विधायकों और नगर निगम प्रतिनिधियों को विकास के लिए दी जा रही रक़म का एक निश्चित हिस्सा शिक्षा, साहित्य और कला पर भी ख़र्च किया जाये। विभिन्न अंचलों, मुहल्लों, क़स्बों और गांवों में पुस्तकालय, नाट्यगृह, पुस्तक-पत्रिका बिक्री केंद्र, साहित्यिक जनसभागार, कलावीथिका, संगीत समारोह, खेल मैदान आदि के लिए उक्त राशि का एक महत्वपूर्ण अंश ख़र्च किये जाने की ज़रूरत है। संपूर्ण देश में सांस्कृतिक शून्यता और सन्नाटे को तोड़ने के लिए सांसद, विधायक, नगर-निगम प्रतिनिधि और ग्राम पंचायतें इस संकल्प के लिए अपनी प्रतिबद्धता ज़ाहिर करें और इस दिशा में ठोस कार्रवाई करें। यह सुनिश्चित किया जाना चाहिए कि हर पंचायत-क्षेत्र में कम-से-कम एक-एक पुस्तकालय, कलाकेंद्र और खेल का मैदान हो जो सभी के लिए उपलब्ध हो।

मीडिया में साहित्य-कलाओं को स्थान दिये जाने के संबंध में प्रस्ताव

यह अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण है कि अंग्रेज़ी तथा भारतीय भाषाओं के सूचनातंत्र अर्थात् मीडिया में साहित्य, कला, संगीत तथा संस्कृति के तमाम क्षेत्रों की गतिविधियों के लिए कोई जगह नहीं है। यह स्थिति सिर्फ़ प्रिंट मीडिया में ही नहीं, बल्कि निजी इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में भी भयंकर रूप धारण कर चुकी है। साहित्य, कला, संगीत, थियेटर आदि के प्रति बरती जा रही यह उदासीनता और उपेक्षा असहनीय हद तक बढ़ गई है। पेड न्यूज़ या केवल टीआरपी या मुनाफ़ा कमाने का लक्ष्य देश, समाज को किस अधःपतन और अपसंस्कृति के जाल में फंसा रहा है, यह आज किसी से भी छिपा नहीं है। इस संदर्भ में जनवादी लेखक संघ का यह राष्ट्रीय सम्मेलन आह्वान करता है कि मीडिया के प्रबंधक और मीडियाकर्मी देशहित में इस कमी को दूर करने का अविलंब प्रयास करें।

प्रस्ताव : रेखा अवस्थी **अनुमोदन : मनमोहन**

स्त्रियों के उत्पीड़न के विरोध में प्रस्ताव

स्वतंत्रतता प्राप्ति के बाद संविधान के ज़रिये देश ने संकल्प लिया था कि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्त्री और पुरुष के बीच समानता लाने के प्रयास किये जायें। कोई भी लोकतांत्रिक समाज तब तक अपने को आधुनिक और सभ्य नहीं कह सकता जब तक कि स्त्रियों को पूर्ण आज़ादी और बराबरी का दर्जा हासिल न हो। यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि महिला आरक्षण बिल आज तक संसद में पारित नहीं हो पाया है। आज़ादी के छह दशकों बाद भी स्त्रियों के प्रति अत्याचार और उत्पीड़न की घटनाएं कम नहीं हुई हैं। वे जीवन के हर क्षेत्र में और पूरे समाज के विकास में अभूतपूर्व योगदान दे रही हैं, इसके बावजूद उन्हें हर तरह के अपमान, शोषण और अत्याचार का शिकार बनाया जा रहा है। आज स्त्रियां कहीं भी अपने को सुरक्षित महसूस नहीं करतीं, न घर में, न सार्वजनिक स्थलों पर और न ही कार्यस्थलों पर। नारी उत्पीड़न की ऐसी घटनाएं ग्रामीण क्षेत्रों से लेकर आधुनिक कहे जाने वाले महानगरों तक में घटित हो रही हैं और हर तबके की स्त्रियां इसकी मार झेल रही हैं। यहां तक कि शिक्षा और संस्कृति के संस्थानों में भी यह रुझान देखा जा रहा है। यह हमारे देश के लिए बहुत शर्मनाक है। यह भी शर्मनाक और चिंताजनक है कि जब-जब इस तरह की घटनाएं सामने आती हैं, परंपरावादियों और कठमुल्लों को असूर्यम्पश्या, लज्जाशील और दब्बू स्त्री का आदर्श सामने रखने का एक बहाना मिल जाता है और पितृसत्तात्मक मानसिकता के साथ टकराने के बजाय स्त्री की आज़ादी को कम करने की मांग खुल कर सामने आने लगती है।

स्त्रियों के प्रति ऐसे उत्पीड़क व्यवहार में तब तक परिवर्तन नहीं हो सकता जब तक पितृसत्तात्मक मानसिकता को निर्मूल न कर दिया जाए। जनवाद और सामजिक बदलाव के अभियान की कामयाबी के लिए ज़रूरी है कि स्त्रियों की आज़ादी, उनके सम्मान, सामाजिक सुरक्षा और बराबरी को सुनिश्चित करने के लिए साझा प्रयास किये जायें।

प्रस्ताव : जबरीमल्ल पारख **अनुमोदन : जफ़र इक़बाल**

अभिव्यक्ति की आज़ादी पर बढ़ते हमलों के ख़िलाफ़ प्रस्ताव

जनवादी लेखक संघ का यह आठवां राष्ट्रीय सम्मेलन अभिव्यक्ति की आज़ादी पर लगातार बढ़ते हमलों की निंदा करता है। पिछले कुछ समय में न सिर्फ़ ऐसे हमलों की बारंबारता बढ़ी है, बल्कि राजनीतिक स्तर पर प्रतिक्रियावादी ताक़तों के मज़बूत होते जाने के साथ-साथ हमलावरों का मनोबल भी बढ़ा है। फ़ासीवादी गुंडा-गिरोहों द्वारा चित्र-प्रदर्शनियों, फ़िल्म-स्क्रीनिंग आदि के मौक़ों पर तोड़-फोड़ तो एक आम बात हो ही गयी है, किताबों को प्रतिबंधित करवाने और स्कूल-कॉलेज के पाठ्यक्रमों से निकलवाने की उनकी मुहिमों की कामयाबी भी एक ऐसी परिघटना है जो लगातार अधिक मज़बूत होती गयी है। एकदम ताज़ा उदाहरण वेंडी डोनेगर की किताब 'हिंदुइज़्म' का है। हिंदुत्ववादियों के आगे घुटने टेकते हुए किताब के प्रकाशक पेंगुइन ने अदालत के बाहर हुए समझौते के तहत इस किताब को वापस ले लिया।

इस तरह के प्रत्यक्ष हमलों के अलावा भी मुख्यधारा मीडिया में असहमति और परिवर्तनकामी सोच को सामने आने से रोकने के लिए एक तरह की अघोषित सेंसरशिप लागू है जो कि कहीं से भी एक विवेकशील समाज का लक्षण नहीं है।

अभिव्यक्ति पर इस तरह की प्रत्यक्ष-परोक्ष पाबंदियों का मक़सद सृजन, चिंतन और शोध को किसी भी स्तर पर बदलाव का साधन बनने से रोकना और उन्हें पिष्टपेषण में गर्क करना है। यह सम्मेलन ऐसी तमाम पाबंदियों की भर्त्सना करता है और सभी लेखकों-कलाकारों-संस्कृतिकर्मियों का आह्वान करता है कि ऐसी कोशिशों के ख़िलाफ़ एकजुट होकर अपनी आवाज़ बुलंद करें।

प्रस्ताव : राजेंद्र साईंवाल **अनुमोदन : प्रदीप सक्सेना**

पश्चिम बंगाल के मौजूदा हालात पर प्रस्ताव

शासक दल के चलते पश्चिम बंगाल की परिस्थितियां अत्यंत खराब हो चुकी हैं। शासक-दल की शह पर हिंसा-हत्या चरम पर पहुंच गयी है। 13 मई 2011 से लेकर 30 नवंबर 2013 तक वामपंथियों के 145 साथी शहीद हुए। 40 हज़ार साथी अपने-अपने इलाके से बाहर हैं। स्कूल, कॉलेज, विश्वविद्यालयों में भय का माहौल बन गया है। महिलाएं असुरक्षित हैं। बलात्कार की घटनाएं चरम पर हैं। संस्कृतिकर्मियों-साहित्यकर्मियों पर जानलेवा हमले हो रहे हैं।

जनतंत्र विरोधी व्यक्ति का यही मकसद है कि किसी तरह से जनतांत्रिक प्रक्रिया से आम लोगों को काट कर अलग-थलग कर दिया जाये। अलग-थलग करने की प्रक्रिया तेज़ होती जा रही है। सरकारी तौर पर सोच-समझ कर यह प्रक्रिया तेज़ की जा रही है। खाये-पीये-अघाये लोगों को जनतंत्र में आस्था नहीं है। जनतंत्र के मजबूत होने से उनकी समस्याएं बढ़ती हैं। इन समस्याओं का समाधान करने के लिए सरकारी तौर पर जो हस्तक्षेप होना चाहिए, वैसा हस्तक्षेप नहीं हो पा रहा है।

सरकार सोचे-समझे प्रकल्प के तहत इस जनतांत्रिक प्रक्रिया को पूरी तरह से चौपट करना चाहती है। इसके कई उदाहरण हैं। इस प्रक्रिया को समाप्त करने के सिलसिले में यह देखा जाता है कि सरकार जान-बूझकर कानून-व्यवस्था को पंगु बना देती है। अपराधी सिर चढ़कर बोलने लगता है। गांव-शहर

में ऐसी घटनाएं होने लगती हैं, जिनके बारे में सोचकर घृणा होने लगती है।

आज पश्चिम बंगाल में क्या हो रहा है? चारों तरफ असुरक्षा का भाव है। समाज में महिलाएं असुरक्षित हैं। पहले सड़कों पर ऐसी घटनाएं नहीं घटती थीं, जो आज घट रही हैं। तृणमूल के शासन के 33 महीने हुए हैं, लेकिन लोगों का दम घुटने लगा है। सरेआम बलात्कार हो रहा है; यहां तक कि घर में घुसकर बलात्कार किया जा रहा है और बलात्कार के बाद महिला की हत्या की जा रही है। इससे और खराब क्या हो सकता है?

पश्चिम बंगाल के शासक दल और उसकी मुख्यमंत्री को देखकर देश की जनतांत्रिक शक्तियां जहां हतप्रभ हैं, वहीं गैर जनतांत्रिक शक्तियां दीवाली मना रही हैं। क्या सुप्रीम कोर्ट को इस तरह की शक्तियों के विरुद्ध कोई फैसला नहीं देना चाहिए। जिस राज्य में सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप से चुनाव होते हैं, उस राज्य में जनजांत्रिक माहौल क्या होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

वर्तमान समय ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कांग्रेस, भाजपा, तृणमूल कांग्रेस चाहे जो कुछ करें, पर वे दल जनतंत्र को प्रसारित नहीं करेंगे। इसलिए व्यापक स्तर पर जन-आंदोलन को प्रसारित करना ही एकमात्र रास्ता है, जिसके जरिये जनतंत्र प्रसारित हो सकता है तथा जनतंत्र के चारों स्तंभ मजबूत हो सकता हैं। समाज के बुनियादी बदलाव में जन-आंदोलन की महती भूमिका है और आने वाले समय में भी रहेगी। यही आंदोलन जनतंत्र विरोधी सारी शक्तियों को समाप्त करेगा। वामपंथी विचारधारा को मजबूत करने के लिए जनवादी लेखक संघ कृत संकल्प है। यह 8वां जलेस राष्ट्रीय सम्मेलन बंगाल की स्थितियों को बदल कर शांति बहाल करने की शपथ लेता है और तृणमूल कांग्रेस के नेतृत्व वाली पश्चिम बंगाल राज्य सरकार की भर्त्सना करता है।

प्रस्ताव : चन्द्रकला पाण्डेय **अनुमोदन : चंचल चौहान**

आठवें राष्ट्रीय सम्मेलन में निर्वाचित पदाधिकारी

- **अध्यक्ष :** दूधनाथ सिंह
- **कार्यकारी अध्यक्ष :** ज़ुबैर रज़वी
- **उपाध्यक्ष :** रमेश कुंतल मेघ, शेखर जोशी, मुद्राराक्षस, इब्बार रब्बी, आफ़ाक़ अहमद, चंचल चौहान, मृणाल, विजेंद्र, नमिता सिंह, चंद्रकला पांडेय
- **महासचिव :** मुरली मनोहर प्रसाद सिंह
- **उप-महासचिव :** संजीव कुमार
- **सचिव :** राजेश जोशी, मनमोहन, शुभा, रेखा अवस्थी, प्रदीप सक्सेना, सुब्रत लाहिड़ी, नीरज सिंह, राजेंद्र साईंवाल, (एक स्थान रिक्त)
- **कोषाध्यक्ष :** जवरीमल्ल पारख

केंद्रीय कार्यकारिणी के सदस्य

असग़र वजाहत, विष्णु नागर, मैत्रेयी पुष्पा, कांतिमोहन, असद ज़ैदी, राजेंद्र शर्मा, बली सिंह, राकेश तिवारी, विभास वर्मा, बजरंग बिहारी तिवारी, रामप्रकाश त्रिपाठी, नरेंद्र जैन, वक़ार सिद्दीक़ी, मनोज कुलकर्णी, नंद भारद्वाज, राजीव गुप्त, रोहतास, हरपाल, जितेंद्र सिंह सोंढ़ी, आलोक धन्वा, अनंत कुमार सिंह, शीन हयात, विनीताभ, अली इमाम ख़ान, गोपाल प्रसाद, प्रह्लाद चंद्र दास, फुआद हलीम, राम आह्लाद चौधरी, ममता त्रिवेदी, डॉ. शहनाज़ नबी, डॉ. सुंदर लोहिया, जियानंद शर्मा, शैलेश सिंह, रमन मिश्र, संजय भिसे, हृदयेश मयंक, सुधीर सिंह, (एक स्थान रिक्त)

केंद्रीय परिषद् के अन्य सदस्य

- **दिल्ली :** निर्मला गर्ग, महेश दर्पण, गोविंद प्रसाद, देवेंद्र चौबे, महेंद्र बेनीवाल, बलवंत कौर, शंभु यादव, अरविंद कुमार मिश्र, ज़फ़र इक़बाल
- **उत्तर प्रदेश :** हरीशचंद्र पांडेय, प्रियंवद, अनिल कुमार सिंह, नलिन रंजन सिंह, केशव तिवारी, उमाशंकर सिंह परमार, संतोष चतुर्वेदी, रमेश कुमार, अली बाक़र ज़ैदी, सुरेश कुमार, शौक़ अमरोहवी, प्रेमनंदन, विशाल श्रीवास्तव, (सात स्थान रिक्त)
- **राजस्थान :** विजय स्वामी, ब्रजसुंदर जांगिड़, पवन पारस, अशोक सक्सेना, विनोद सोनी, सूर्यप्रकाश, रामेश्वर बगड़िया, कमलेश कुमार, कामेश्वर त्रिपाठी, भवानी शंकर, अनिल शर्मा
- **हरियाणा :** जयपाल, ओम प्रकाश करुणेश, मनजीत राठी
- **महाराष्ट्र :** मुख़्तार ख़ान, सलाम बिन रज़्ज़ाक, राकेश शर्मा, डॉ. रमेश राजहंस
- **पश्चिम बंगाल :** दिलीप सिंह, शिवनाथ राय, ओमप्रकाश पांडेय, राम प्रवेश प्रसाद, रेखा सिंह बख्शी, रंजना शर्मा, दिनेश झा, राहुल झा, धर्मेंद्र दास, अरुण रज्जक, वसीम आलम
- **झारखंड :** गोपाल प्रसाद, नारायण सिंह, शैलेश आस्थाना, श्यामल सुमन, अशोक शुभदर्शी, हेना चक्रवर्ती, शकील, धनंजय प्रसाद, अशोक कुमार, कुमार सत्येंद्र, एस निशा सिम्मी
- **मध्यप्रदेश :** ज़हीर कुरैशी, रतन चौहान, राम किशोर मेहता, अरुण वर्मा, सविता भार्गव, प्रदीप मिश्र, राग तैलंग, ललित साह
- **छत्तीसगढ़ :** मुमताज, नासिर अहमद सिकंदर, (दो स्थान रिक्त)
- **बिहार :** वंशीधर सिंह, अलख देव प्रसाद अचल, कृष्ण चंद्र चौधरी, शाह ज़फ़र इमाम, सत्येंद्र कुमार, कुमार वीरेंद्र, घमंडी राम, मार्कण्डेय, सिद्धेश्वर नाथ पांडेय, विजय कुमार सिंह, अनिल अनल
- **हिमाचल प्रदेश :** विजय विशाल, लल्लन राय, मुरारी शर्मा
- **अन्य :** हरियश राय, वी. कृष्णा, रोहिताश्व, (एक स्थान रिक्त)

सांप्रदायिक सद्भाव की ऐतिहासिक अनिवार्यता

मृणाल

'मंदिर-मस्जिद, गुरुद्वारे में बांटा है भगवान को,
धरती बांटी, सागर बांटा, मत बांटो इंसान को।

देश में उभरते सांप्रदायिक फ़ासीवाद एवं अलगाववादी रुझानों के तहत आतंकवादियों के नग्न नृत्य ने हमारी राष्ट्रीय एकता और अखण्डता पर तो प्रश्नचिन्ह खड़ा कर ही दिया है, आम नागरिकों का जीना तक दूभर कर दिया है। आये दिन अख़बार की सुर्खियों में संख्या में दो-चार की कमी बेसी भले ही हो, पर नृशंसता और वहशीपन की सीमा को लांघने वाली ख़बरों की अंतर्कथा लगभग समान ही रहती है। आतंकवादियों की गोलियों या दंगाइयों द्वारा दुधमुंहे बच्चों और निरीह-बेगुनाह लोगों की की जाने वाली हत्याओं के साथ यदि पुलिस और सी.आर.पी. की गोलियों से मरने वालों की संख्या को जोड़ दिया जाय तो दैनिक औसत लगभग समान ही आता है। अगर हिसाब जोड़ा जाय तो सांप्रदायिक उन्माद में आतंकवादियों के वहशीपन की शिकार बेगुनाह औरतों और बच्चों की संख्या पूरे स्वाधीनता आंदोलन के दौरान मरने वालों की संख्या को कब की पार कर गयी। क्या इन निरीह, बेगुनाह लोगों की हत्याओं के साथ हमारा समाज नहीं मर रहा है? स्वाधीनता आंदोलन के दौरान हमने जो मैत्री और परस्पर भाईचारे का रिश्ता कायम किया था—क्या वे हमारे सामाजिक रिश्ते नहीं मर रहे हैं! उदात्त मानवीय मूल्यों और संवेदनाओं की हमारी एक गौरवशाली परंपरा रही है, क्या उन परंपराओं की हत्या के साथ हमारे देश की आत्मा नहीं मर रही है?

आज सांप्रदायिकता और फिरकापरस्ती द्वारा फैलायी जा रही परस्पर घृणा और नफरत की आग में सारे मानवीय मूल्यों एवं मानवीय रिश्तों की होलिका धू-धूकर जल रही है। सांप्रदायिक उन्माद में एक बार विभाजन झेल चुके देश के शरीर पर पुनः अलगाववाद नासूर बन गया है। विगत साठ वर्षों में हमने अपनी ऐतिहासिक भूलों से सबक लेने की कोशिश नहीं की है। नयी पहचान और नये रिश्तों को कायम करने की जगह हमने अपने सामाजिक विकास की गति को पीछे ढकेलने में महारत हासिल कर ली है। साम्राज्यवादी साजिश के तहत, प्रतिगामी शक्तियों के साथ सत्ता-पक्ष के गंठजोड़ ने हमें अठारहवीं सदी के माहौल में लौटने पर मजबूर किया है।

जब देश एक बार फिर सांप्रदायिकता, फिरकापरस्ती, क्षेत्रीयता, अलगाववाद एवं फ़ासीवादी उभार के तहत विखंडन के कगार पर खड़ा हो तो हमारा अतीत बरबस ही अपने संदर्भों की ओर हमें खींच ले जाता है।

सांप्रदायिक सद्भावना के लिए, फिरकापरस्ती के ख़िलाफ़ अपनी पूरी ईमानदारी और दृढ़ निश्चय के साथ जब प्रयास करने की बात आती है तो वहां आज भी महात्मा गांधी हमारा पथ प्रदर्शन करते दीख पड़ते हैं। जो विषय विचारार्थ है उसमें एक बात शुरू में ही स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि गांधी के राजनीतिक विचारों और आदर्शों से हमारी या आपकी सहमति नहीं भी हो सकती है, क्योंकि गांधीवाद के आदर्श पुरातनपंथी बुर्जुआ मूल्यों के पृष्ठपोषक रहे हैं। महात्मा कतई समाजवादी या क्रांतिकारी नहीं थे, फिर भी राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान-जो अंग्रेज़ों को सिर्फ़ भारत से भगाने मात्र का आंदोलन न था, अपितु हमारे देश के नव-निर्माण का, नये सामाजिक रिश्तों और नयी पहचान के विकास का भी आंदोलन था, जिसकी प्रक्रिया से हम आज भी गुजर रहे हैं, महात्मा गांधी की भूमिका को अस्वीकारा नहीं जा सकता।

महात्मा गांधी ने जो सबसे बड़ा काम किया वह था-भारतीय स्वाधीनता आंदोलन को जन-जन की आकांक्षाओं से जोड़ने का। भारतीय जनता ने अपने भविष्य के महान सपने संजोये। अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए महात्मा गांधी के एक इशारे पर वह अपना सर्वस्व न्योछावर करने के लिए सतत तैयार थी। अपने इस उदेश्य तक पहुंचने के लिए महात्मा ने जो सबसे महत्वपूर्ण कार्य किया वह था-विभिन्न धर्मों और मतों में बंटी जनता को-अपने धर्मों से, अपनी धार्मिक आस्थाओं से, संबंध-विच्छेद किये वगैर स्वयं को राष्ट्र से और राष्ट्रीय हित से जोड़ने के लिए उत्प्रेरित करना। हमारे कतिपय प्रगतिशील मित्रों को बात अटपटी -सी लग सकती है, पर हम भारत को उस समय के परिप्रेक्ष्य में देखें जब महात्मा ने इस सोच की ओर हमें प्रेरित किया। क्या यह उस समय संभव था कि आम जनता को कहा जाय कि धर्म और मजहब के झार-झंखाड़ को साफ़ कर एकबारगी आज़ादी की लड़ाई में पिल पड़े? आज़ादी के साठ वर्षों बाद भी हमारा समाज जब एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित नहीं कर पाया है, अभी भी वह रूढ़ियों, अंधविश्वासों तथा पुरातनपंथी आस्थाओं की गिरफ्त में है तो प्रथम विश्वयुद्ध के जमाने में यह कहां तक संभव था? फलस्वरूप, उस समय जहां तक राष्ट्रीय भावना के विकास के साथ राष्ट्रीय हित से आम लोगों को जोड़ने की बात थी, गुलामी की जंजीरों को तोड़ने के लिए जन-जन में आकांक्षा भरने की बात थी, वहां इससे कोई बेहतर राह नहीं हो सकती थी कि-अपनी धार्मिक आस्थाओं से संबंध तोड़े वगैर भी अपने आपको राष्ट्र से और राष्ट्रीय भावनाओं से जोड़ा जाय।

पर भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की यह त्रासदी रही कि एक समय के महान राष्ट्रवादी नेता, जिनके राष्ट्रवादी विचारों के तहत भारत की जनता उन्हें एकता का राजदूत कहती थी-वही मु. अल्ली जिन्ना 30 सितंबर 1921 को कांग्रेस छोड़ने के बाद से क्रमशः भारत की एकता और अखण्डता के कट्टर दुश्मन बन गये। 1919 में 'पार्लमेंटरी सेलेक्ट कमेटी' के सामने जब जिन्ना गवाही दे रहे थे तो उनसे पूछा गया था, क्या आप सचमुच भारतीय राष्ट्रवादी की हैसियत से बोल रहे हैं? इसके उत्तर में उन्होंने दृढ़ता के साथ कहा था 'हां, मैं भारतीय राष्ट्रवादी की हैसियत से बोल रहा हूं।' उसके बाद मेजर आर्म्स वी जोर ने उनसे पूछा, 'अर्थात् आप राजनीतिक जीवन में मुसलमान और हिंदू के बीच किसी भेदभाव को जल्दी से जल्दी दूर कर देना चाहते हैं? इसके उत्तर में जिन्ना ने कहा था, 'हां, मुझे सबसे ज़्यादा ख़ुशी होगी, जब वह दिन आयेगा।'

आज आरक्षण, जातिगत एवं धार्मिक सवालों के साथ डोमिसाईल एवं स्थानीयता को लेकर देश में भयंकर दंगे हो रहे हैं, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण गुजरात की घटनाएं हैं। जिन्ना ने 1906 में मुसलमानों को विशेष सुविधा दिये जाने या आरक्षण का विरोध करते हुए कहा था कि 'मैं समझता हूं कि पिछड़े वर्ग

से मतलब मुस्लिम समाज से है। अगर इसका मतलब मुसलमान है तो मैं आपका ध्यान इस बात की तरफ खींचना चाहता हूं कि मुसलमान समाज के साथ वही सलूक करना चाहिये, जैसा कि हिंदू समाज के साथ किया जा रहा है। इंडियन नेशनल कांग्रेस जिस बुनियाद पर खड़ी है, वह यह है कि हम सब समान हैं, कि किसी भी वर्ग या समाज के लिए कोई संरक्षण न होना चाहिए और मेरा सारा उदेश्य यह है कि संरक्षण हटा दिया जाय।'

हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास की यह सबसे त्रासद स्थिति रही कि ऐसे प्रगतिशील विचारों वाले जिन्ना-देश के विभाजकों की अगली पंक्ति में जा खड़े हुए, दूसरी ओर महात्मा गांधी जो -भारतीय उपमहाद्वीप के उस समय के सर्वाधिक लोकप्रिय और सर्वमान्य नेता थे, जिन्होंने यहां तक कहा था कि- 'देश का बंटवारा होगा भी तो मेरी लाश पर'-अंतिम क्षणों में तत्ववादी शक्तियों के सामने हार गये।

महात्मा गांधी का उदय भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में प्रथम विश्व युद्ध के बाद हुआ। उधर 1857 के जनविद्रोह में हिंदू-मुस्लिम जनता की अभूतपूर्व एकता को देखकर अंग्रेज़ों के पांव तले की जमीन खिसक गयी थी और उस समय इस एकता को तोड़ना उन्होंने अपना मुख्य उदेश्य बना लिया था। कौमी एकता के प्रति महात्मा गांधी की पूरी ईमानदारी के बावजूद उनके धार्मिक रुझानों और 'रामराज्य' की शब्दावली का उपयोग अंग्रेज़ों ने सांप्रदायिक विद्वेष फैलाने में वखूबी किया। फिर भी 'प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जो तूफानी उभार आया उसमें हिंदू-मुस्लिम एकता पहले से भी ज़्यादा मजबूत हुई। गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस और जुझारू मुस्लिम नेताओं की ख़िलाफ़त समिति जिसका नेतृत्व अली बंधुओं ने किया था, के बीच संयुक्त मोर्चा कायम हो गया। दोनों संस्थाओं ने संयुक्त रूप से सरकार के ख़िलाफ़ ऐसा मोर्चा कायम किया जो स्वराज्य प्राप्ति के लिए संघर्ष छेड़ सके। सड़कों पर हिंदू-मुस्लिम एकता में जोश भरे नारे सुनाई देने लगे। 1919 की सरकारी रिपोर्ट को मजबूर होकर स्वीकार करना पड़ा कि -'हिंदुओं और मुसलमानों के बीच अभूतपूर्व भाईचारा कायम हो गया है- दोनों संप्रदायों के बीच मैत्री के असाधारण दृश्य दिखाई देने लगे हैं।' (र. पा. दत्त अ. भारत, पृ.-471)

राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान उभरती क्रांतिकारी शक्तियों की एकजुटता को ध्वस्त करने के लिए साम्राज्यवादियों ने सांप्रदायिक शक्तियों को बढ़ावा दिया और बड़े-बड़े सांप्रदायिक दंगे कराये। असहयोग आंदोलन जब अपनी ऊंचाई पर था, 5 फरवरी 1922 को हुए चौरी चौरा काण्ड को लेकर महात्मा गांधी ने 12 फरवरी 1922 को बारदौली में हुई कांग्रेस कमेटी की बैठक में-हर किस्म के आंदोलन को बंद कर देने का निर्णय लिया।

मैं आंदोलन बंद करने के औचित्य की जांच परख में यहां नहीं जाना चाहता, पर एक बात जो हुई वह यह कि आंदोलन बंद कर देने से पूरे देश में सांप्रदायिक दंगे भड़क उठे। राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के दौरान सांप्रदायिक दंगों का यह पहला विस्फोट था। सांप्रदायिक दंगों का यह सिलसिला 1928 तक लगातार चलता रहा। पं. नेहरू ने अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा था, 'यह संभव है कि एक महान आंदोलन को इस तरह एक ब एक बंद कर देने से देश में दुखद घटना घटी। राजनीतिक संघर्ष में यदाकदा तथा व्यर्थ हिंसा की ओर प्रवाह रुक गया, लेकिन दबी हिंसा के लिए बाहर निकलने का कोई रास्ता चाहिये था और आगामी वर्षों में इसने संभवतः सांप्रदायिक गोलमाल बढ़ा दिया।'

राष्ट्रीय आंदोलन में कायम हिंदू-मुस्लिम एकता को भयंकर झटका लगा। 1923 में अमृतसर, मुल्तान, मेरठ, मुरादाबाद, राय बरेली, सहारनपुर तथा अन्य शहरों में सांप्रदायिक दंगे हुए। 1924 में

दिल्ली, कोहट, गुलवर्गा, जबलपुर, नागपुर, लाहौर, लखनऊ और इलाहाबाद में, तथा 1925 में दिल्ली, कलकत्ता, इलाहाबाद और लाहौर में बड़े-बड़े सांप्रदायिक दंगे हुए। इसके अलावे 1926 से 1927 तक लगभग चालीस बड़े सांप्रदायिक दंगे हुए।

इसी समय कुछ प्रतिक्रियावादी आंदोलन भी चलाये गये, जिन्होंने आग में घी डालने का काम किया। इनमें मुख्य रूप से 'तवलीग' आंदोलन-यह गैर मुसलमानों को मुसलमान बनाने का आंदोलन था, इसके समानान्तर दूसरा आंदोलन था आर्य समाज का 'शुद्धि आंदोलन', जो हिंदू पहले मुसलमान हो गये थे, उनको शुद्ध करके फिर से हिंदू बनाने का आंदोलन। सांप्रदायिक दंगों के इसी माहौल में 'हिंदू महासभा' का जन्म हुआ।

'हिंदू महासभा' ने बहुसंख्यक हिंदू जनता को यह समझाना शुरू किया कि हिंदुओं के सबसे बड़े दुश्मन मुसलमान हैं, दूसरी ओर मुस्लिम लीग मुसलमानों को समझा रही थी कि मुसलमानों के सबसे बड़े दुश्मन हिंदू हैं। दोनो को अंग्रेज अधिक अपने दिखाई पड़ रहे थे। हिंदू महासभा और मुस्लिम लीग के नेता क्रमशः हिंदुओं और मुसलमानों के हितों की रक्षा के नाम पर अपने वक्तव्यों द्वारा पूरे परिवेश में सांप्रदायिकता का जहर घोल रहे थे।

पर यह बात रेखांकन के योग्य है कि 'सांप्रदायिकता' के इस जहरीले वातावरण में, जब पूरा देश दंगों में झुलस रहा था, हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए जिस व्यक्ति ने सबसे ज़्यादा प्रयास किया वे महात्मा गांधी थे। दिल्ली के दंगे के बाद गांधीजी दिल्ली पहुंचे। वहां उन्होंने इन सांप्रदायिक दंगों के ख़िलाफ़ इक्कीस दिन का अनशन आरंभ किया। उन्होंने अपने को उस क्रोधोन्माद और हत्या प्रवृत्ति का जिम्मेदार ठहराया और उपवास के जरिये अपने 'पाप' का प्रायश्चित करना चाहा।

इस अवसर पर 26 सितंबर से 2 अक्टूबर 1924 तक दिल्ली में एकता सम्मेलन हुआ। इसमें विभिन्न धर्मों के लोग शामिल हुए, जिसमें कलकत्ता के बड़े पादरी भी थे। सम्मेलन में भाग लेने वाले लोगों ने यह प्रतिज्ञा की कि वे धर्म और मत की स्वतंत्रता का पालन कराने का भरसक प्रयास करेंगे। इसके विरुद्ध आचरण की वे कड़ी निंदा करेंगे। सांप्रदायिक सौहार्द और कौमी एकता कायम करने के लिए महात्मा गांधी के नेतृत्व में एक केंद्रीय पंचायत गठित की गयी, जिसके अध्यक्ष सह-संयोजक महात्मा गांधी बनाये गये। सदस्यों में थे हकीम अजमल खां, लाला लाजपतराय, के. एफ. नरिमन, डॉ. ए. के. दत्त और मास्टर सुंदर सिंह।

महात्मा गांधी ने दंगों को रोकने की बेहद कोशिश की पर कामयाबी एक हद तक ही मिली। हिंदुओं और मुसलमानों दोनों को बहुत ही कीमती जानें गंवानी पड़ीं। स्वामी श्रद्धानंद, जिन्होंने 22 दिसंबर 1926 को कांग्रेस के गौहाटी अधिवेशन को यह संदेश भेजा था कि 'भारत के स्वाधीन होने की आशा केवल हिंदू-मुस्लिम एकता पर अवलंबित है', सांप्रदायिक घृणा के शिकार हो गये। स्वामी श्रद्धानंद के संबंध में शोक प्रस्ताव महात्मा गांधी ने पेश किय, जिसका समर्थन मुहम्मद अली जिन्ना ने किया। सांप्रदायिक दंगों को रोकने के महात्मा गांधी के सारे ईमानदार प्रयासों के बावजूद दंगे की छिटफुट घटनाएं घटती रहीं, दंगे तभी रुके जब एकबार फिर क्रांतिकारी शक्तियों ने ब्रिटिश साम्राजयवादियों से लोहा लेना आरंभ कर दिया। फिर भी सांप्रदायिक सद्भावना के लिए महात्मा गांधी के प्रयासों को किसी भी रूप में कम करके नहीं आंका जा सकता। 12 मार्च 1930 को महात्मा गांधी की प्रसिद्ध डांडी यात्रा में हिंदू और मुसलमान दोनों शरीक हुए। इसी बीच शहीदे आजम भगत सिंह और उनके साथियों को 23 मार्च 1931 को फांसी दे दी गयी थी।

1935 के आसपास सांप्रदायिक शक्तियां एक बार फिर सक्रिय हुईं और ब्रिटिश शासकों के हाथ की कठपुतली बनकर सांप्रदायिक हंगामे कराने लगी। हिंदू महासभा के गर्भ से पैदा हुए अर्द्ध-फ़ासिस्ट हिंदू संगठन-राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ-को अपने विकास के लिए बहुत ही उपयुक्त अवसर मिला। फरवरी 1935 में हिंदू महासभा ने 'कम्यूनल एवार्ड विरोधी दिवस' मनाया, जिसके चलते जगह-जगह हिंदुओं और मुसलमानों के बीच संघर्ष भड़क उठे। हिंदू संप्रदायवादियों ने अपना प्रतिक्रियावादी नारा बुलंद किया-'हिंदुस्तान हिंदुओं का है।' मुस्लिम फिरकापरस्त भी कम सक्रिय न थे। दोंनों समुदायों के फिरकापरस्तों की भूमिका लगभग समान ही थी और दोनों ने साथ मिलकर पूरे परिवेश में एक बार फिर सांप्रदायिकता का जहर बोना आरंभ कर दिया।

1935 के 'भारत सरकार का कानून और संविधान' के तहत अंग्रेज़ों ने सारे मतदाताओं को 13 अलग निर्वाचन मंडलों में विभक्त कर भारतवासियों को एक दूसरे से और ज़्यादा अलग करने का प्रयास किया। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन की भावनाओं के विपरीत हमारे अंदर यह सोच पैदा करने का वखूबी प्रयास किया कि हम हिंदू हैं, हम मुसलमान हैं, हम सिख और ईसाई हैं-हम एक नहीं, हम अलग-अलग हैं। कम्यूनल एवार्ड के तहत भारतीयों को बांटने की अंग्रेज़ों की यह नई योजना थी।

1937 के चुनाव के बाद कांग्रेस नेतृत्व द्वारा पद ग्रहण जिन राज्यों में बहुमत भी न मिला था, उनमें कांग्रेस सरकारें बनाने की तिकड़मबाजी, पदग्रहण के बाद श्रमजीवी भारतीय जनता के स्वार्थ के लिए सरकार के संचालन से इंकार और फिर साम्राज्यवादी युद्ध के दौर में जनसंग्राम की जगह साम्राजियों से सौदेबाजी ने देश की प्रतिक्रियावादी शक्तियों को ताकतवर करने तथा देश के बंटवारे की मांग बुलंद करने का मौका दिया।

1940 में मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन में देश के बंटवारे का प्रस्ताव पारित किया गया जो आगे चलकर 'पाकिस्तान प्रस्ताव' के नाम से जाना गया। 1937 में मुस्लिम लीग ने घोषणा की थी कि-'उसका लक्ष्य भारत में स्वतंत्र जनतांत्रिक राज्यों के संघ रूप में पूर्ण स्वाधीनता की स्थापना है।' कांग्रेस पूर्ण स्वाधीनता की घोषणा पहले ही कर चुकी थी। 1937 के चुनाव में संयुक्त प्रांत (आज का उत्तर प्रदेश) में लीग और कांग्रेस ने यह समझौता किया था कि अगर जीत हुई तो उनकी संयुक्त सरकार बनेगी, जिसमें दो सदस्य मुस्लिम लीग के भी रहेंगे। कांग्रेस और मुस्लिम लीग ने एक मंच से प्रचार भी किया। पर चुनाव के बाद इस समझौते का क्या हश्र हुआ, यह मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद से ही सुनें।

'चौधरी खलीकुजमां और नबाब इस्माइल खां उस वक़्त संयुक्त प्रदेश में मुस्लिम लीग के नेता थे। जब मैं सरकार बनाने के लिए लखनऊ आया। मैंने उन दोनों से बात की। उन्होंने मुझे विश्वास दिलाया कि वे न केवल कांग्रेस से सहयोग करेंगे बल्कि पूरी तरह कांग्रेस के कार्यक्रम का समर्थन भी करेंगे। वे स्वभावतः आशा करते थे कि नई सरकार में मुस्लिम लीग को कुछ हिस्सा मिलेगा। स्थानीय हालत कुछ ऐसी थी कि उनमें सिर्फ़ एक सरकार में शामिल न हो सकता था। या तो दोनों को लेना होता या किसी को नहीं। अतः मैंने उन्हें आशा दी कि उन दोनों को सरकार में लिया जायेगा। अगर मंत्रिमण्डल सिर्फ़ सात सदस्यों का होगा तो दो मुस्लिम लीगी होंगे और बाकी सब कांग्रेसी होंगे। नौ सदस्यों के मंत्रिमण्डल में कांग्रेसजनों का बहुमत और भी ज़्यादा होगा। मेरे साथ बातचीत के बाद एक कागज तैयार किया गया जिसमें था कि मुस्लिम लीग कांग्रेस के साथ मिलकर काम करेगी और कांग्रेस का कार्यक्रम स्वीकार कर लेगी। नवाब इस्माइल खां और चौधरी खलीकुजमां दोनों ने इस कागज पर दस्तख़त किये

और मैं लखनऊ से पटना के लिए रवाना हो गया, क्योंकि बिहार में सरकार बनाने के लिए मेरी उपस्थिति ज़रूरी थी। कुछ दिन बाद वापस इलाहाबाद पहुंचा और मुझे यह देखकर बड़ा अफसोस हुआ कि जवाहरलाल ने चौधरी खलीकुजजमां और नवाब इस्माइल खां को लिखा था कि उन दोनों में से सिर्फ़ एक को ही मंत्रिमण्डल में लिया जायेगा। उन्होंने कहा था कि मुस्लिम लीग फैसला कर सकती है कि उनमें से किसको लिया जाना चाहिए। लेकिन मैंने जो ऊपर कहा, उसकी रोशनी में कोई भी अकेला सरकार में शामिल होने की स्थिति में न था। अतः उन्होंने अफसोस जाहिर किया और कहा कि वे जवाहर लाल के प्रस्ताव को स्वीकार करने में असमर्थ हैं।

यह सबसे दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी। अगर संयुक्त प्रदेश की लीग के सहयोग का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया होता तो मुस्लिम लीग पार्टी व्यवहारतः कांग्रेस में मिल गई होती। जवाहर लाल के काम ने संयुक्त प्रदेश में मुस्लिम लीग को नई जिंदगी दी। भारतीय राजनीति के सब विद्यार्थी जानते हैं कि संयुक्त प्रदेश से ही लीग का पुनर्गठन हुआ। मि. जिन्ना ने इस हालत से पूरा फायदा उठाया और ऐसा आक्रमण आरंभ किया जिसका आख़िरी परिणाम पाकिस्तान हुआ।'

कांग्रेस और मुस्लिम लीग का आपस का विरोध दिन ब दिन तेज़ होने लगा। मि. जिन्ना ने दावा किया कि हिंदुस्तान के मुसलमानों की तरफ से बोलने का एकमात्र अधिकार मुस्लिम लीग को ही है - कांग्रेस हिंदुओं का संगठन है। इसके विपरीत महात्मा गांधी हिंदू-मुस्लिम एकता के लिए अब भी प्रयास करते रहे। जिन्ना से हिंदू-मुस्लिम एकता पर बात करने के लिए जब महात्मा गांधी ने अब्दुल कलाम आज़ाद को साथ ले जाना चाहा तो जिन्ना ने बात करने से इंकार कर दिया।

मुस्लिम लीग और कांग्रेसी नेतृत्व की आपसी खींचतान ने हिंदुओं और मुसलमानों में अलगाववादी और सांप्रदायिक प्रवृत्तियों को बढ़ावा दिया, राष्ट्रीय आंदोलन की स्वस्थ परंपराओं को तोड़ा तथा भारतीय जनता की एकजुटता को कमज़ोर किया। पर महात्मा गांधी अंत-अंत तक -हिंदू-मुसलमान के आधार पर देश के टुकड़े होने का विरोध करते रहे। वे दोनों को साथ लाने का प्रयास करते रहे।

इसका ज्वलंत प्रमाण 10 दिसंबर 1945 को एक इंटरव्यू में दिया गया जिन्ना का बयान है। जिन्ना ने कहा-'हिंदुस्तान में गतिरोध हिंदुस्तानियों और अंग्रेज़ों के बीच उतना ज़्यादा नहीं। वह हिंदू कांग्रेस और मुस्लिम लीग के बीच है। जब तक पाकिस्तान मंज़ूर नहीं किया जाता, कुछ भी हल नहीं किया जा सकता और न हल किया जा सकेगा। एक नहीं दो संविधान सभाएं होंगी, एक हिंदुस्तान का संविधान बनावें और निश्चित करने के लिए दूसरी पाकिस्तान का संविधान बनावें।'

उन्होंने आगे कहा-'हम भारतीय समस्या को दस मिनट में हल कर सकते हैं, अगर मि. गांधी कह दें, 'मैं सहमत हूं पाकिस्तान होना चाहिए। मैं सहमत हूं कि अपनी वर्तमान सीमाओं के साथ छः प्रांतों-सिंध, बलूचिस्तान, पंजाब, पश्चिमोत्तर-सीमांत प्रदेश, बंगाल और असम समेत चौथाई भारत को लेकर पाकिस्तान राज्य बनेगा।'

जिन्ना के इस बयान से स्वतः स्पष्ट है कि महात्मा गांधी ने अब तक बंटवारों को स्वीकार न किया था, जबकि जिन्ना इस पर जोर दे रहे थे। महात्मा गांधी देश के सर्वाधिक लोकप्रिय नेता थे-उनकी स्वीकृति आवश्यक थी।

इसके बाद की मुस्लिम लीग और कांग्रेस की राजनीति देश के बंटवारे और उसमें अपने-अपने हिस्से के ही इर्द-गिर्द चक्कर काटती रही। इधर मुस्लिम लीग, उधर उसकी जोड़ीदार हिंदू महासभा, दोनों हीं

पूरे भारतीय परिवेश में सांप्रदायिकता का जहर घोलने में किसी से पीछे नहीं थी। बहुसंख्यक जनता के अंदर उभरे सांप्रदायिक रुझानों ने, अल्पसंख्यकों के अंदर आतंक और आशंका का बीजारोपण किया जिसका उपयोग ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने मुस्लिम लीग को उकसाने में बखूबी किया और मुस्लिम लीग ने देश के बंटवारे का नारा अपने पूरे जोशोखरोश से लगाना शुरू किया।

महात्मा गांधी के नेतृत्व में कांग्रेस ने जब 'क्वीट इंडिया मूवमेंट', 'अंग्रेज़ों भारत छोड़ो' का नारा दिया तो मुस्लिम लीग दुविधा में पड़ गयी और तटस्थता की नीति का अनुसरण किया। 17 दिसंबर 1942 को तत्कालीन वाइसराय लॉर्ड लिन लिथगो ने जब यह कहा कि 'दुनिया में विभाजित भारत का वजन नहीं रह जायेगा' तो यह बात मुस्लिम लीग के नेताओं को बहुत बुरी लगी और 'पाकिस्तान की मांग' पर उन्होंने और जोर देना शुरू किया। 1943 के अपने करांची अधिवेशन में उन्होंने नया नारा दिया, 'बांटो और भागो' अर्थात् 'अंग्रेज़ों भारत का बंटवारा कर चले जाओ।' 1942 का आंदोलन अपने अंतर्विरोधों के कारण बिखर गया।

नेताजी सुभाष चंद्र बोस के नेतृत्व में 'आज़ाद हिंद फौज' के सशस्त्र संघर्ष, नौ सेना विद्रोह, बंबई की सूती मिलों में हड़ताल, तेलंगाना का किसान आंदोलन तथा त्रिपुरा के तेभागा आंदोलन द्वारा जहां जनसंघर्षों में उभार आया था, अंग्रेज़ी सरकार हताशा की स्थिति में पहुंचती जा रही थी। पर, राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन के बुर्जुआ नेतृत्व की कमज़ोरियों से पूर्णतया परिचित ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रतिक्रियावादी शक्तियों को उभार रहे थे, जिसका परिणाम अंततोगत्वा सांप्रदायिक दंगों के विस्फोट के रूप में हुआ।

15 मार्च 1946 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने ब्रितानी संसद में अपने बयान में कहा, 'वह (भारत) स्वाधीनता का चुनाव करता है और हमारे दृष्टिकोण से उसे ऐसा करने का अधिकार है तो हमारा काम होगा संक्रमण को जितना संभव हो उतना निर्विघ्न और आसान बनाने में मदद करना।'

उन्होंने यह भी कहा, 'हमें अल्पसंख्यक समाज के अधिकारों का ध्यान है। होना ऐसा चाहिए कि जिससे अल्पसंख्यक समाज भयमुक्त होकर रह सके। दूसरी तरफ हम बहुसंख्यक समाज की अग्रगति को रोकने का अधिकार अल्पसंख्यक समाज को नहीं दे सकते।'

इसके बाद ही 24 मार्च 1946 को कैबिनेट मिशन दिल्ली आया। कांग्रेस द्वारा कैबिनेट मिशन की दीर्घकालीन योजना को स्वीकार करते हुए भी उसकी अंतरिम सरकार के प्रस्ताव को ठुकरा दिया गया। दूसरी ओर लीग ने कांग्रेस को छोड़कर सरकार बनाने की पहल की, मुस्लिम लीग ने यह घोषणा की कि वह अंतरिम सरकार बनाने की जिम्मेदारी लेने को तैयार है। पर वाइसराय ने देश की सबसे बड़ी पार्टी कांग्रेस को छोड़कर सरकार बनाने की मुस्लिम लीग की पहल को ठुकरा दिया। अंत में झख मारकर मुस्लिम लीग ने 27 जुलाई 1946 को अपनी कौंसिल की बैठक में, कैबिनेट मिशन की योजना को अस्वीकार कर दिया और पाकिस्तान की प्राप्ति के लिए प्रत्यक्ष संघर्ष करने का फैसला लिया।

अब कांग्रेस की बारी थी, उसने सौदेबाजी का दरवाजा पुनः खोला, और 8 अगस्त 1946 को कैबिनेट मिशन की पूरी की पूरी योजना स्वीकार कर ली। वाइसराय ने भी देर न की और 12 अगस्त 46 को अंतरिम सरकार बनाने का निमंत्रण भेज दिया। नेहरू ने मुस्लिम लीग को भी अंतरिम सरकार में शामिल करने का प्रयास किया, जिन्ना से बातें की, पर जिन्ना तैयार न हुए। 16 अगस्त 1946 को 'लड़कर लेंगे पाकिस्तान' के नारे के साथ प्रत्यक्ष संघर्ष दिवस मनाने का फैसला किया गया।

बंगाल में सुहरावर्दी के नेतृत्व में मुस्लिम लीग की सरकार थी। कलकत्ता में भयंकर सांप्रदायिक दंगा

कराया गया। भागीरथी का पानी लाल हो गया। सांप्रदायिक दंगों का सिलसिला एकबार फिर शुरू हो गया। कलकत्ता नोआखाली तथा बिहार में भयंकर सांप्रदायिक दंगे हुए। महात्मा गांधी ने अपनी जान की परवाह न कर कलकत्ता, नोआखाली आदि दंगाग्रस्त इलाकों की पैदल यात्रा की और सांप्रदायिक सद्भाव कायम करने में अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

24 अगस्त 1946 को नेहरू के नेतृत्व में अंतरिम सरकार बन गयी। मुस्लिम लीग जो पहले अंतरिम सरकार में शामिल होने का प्रस्ताव ठुकरा चुकी थी, अंततः 15 अक्टूबर 1946 को अंतरिम सरकार में शामिल होने के लिए तैयार हो गयी। लियाकत अली के नेतृत्व में चार सदस्य शामिल हुए।

भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के इतिहास का सबसे दुखद अध्याय तब शुरू हुआ, जब राष्ट्रीय आंदोलन के दौरान कायम कौमी सद्भावना की स्वस्थ परंपराओं को तार-तार करते हुए मुस्लिम लीग ने पाकिस्तान की अपनी मांग पर जोर डालने के लिए, 'प्रत्यक्ष संग्राम' का रास्ता अपनाकर उन प्रांतों में हावी होने का प्रयास आरंभ किया जहां मुसलमानों की संख्या अधिक थी। इसकी सबसे क्रूर और भयंकर परिणति पंजाब में हुई।

पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी के मल्लिक खिजिर हयात खां की संयुक्त सरकार थी, जिसमें हिंदू, मुसलमान, सिख सब शामिल थे। लीग ने हयात खां की संयुक्त सरकार को 2 मार्च 1947 को इस्तीफा देने के लिए मजबूर किया, गवर्नर ने मुस्लिम लीग को अपनी सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया। अकाली नेता मास्टर तारा सिंह जो अलग 'सिखस्तान' की मांग कर रहे थे, अपना संतुलन खो बैठे। मास्टर तारा सिंह ने मुस्लिम लीग को समाप्त कर देने का आह्वान किया। 4 मार्च 1947 को लाहौर में पाकिस्तान विरोधी प्रदर्शन हुआ। इसके बाद से तो सांप्रदायिकता का भूत सबके सिर पर चढ़कर नाचने लगा। लाहौर, तक्षशीला, अमृतसर, रावलपिंडी आदि जगहों में भयंकर मार-काट मच गई-सांप्रदायिक दंगे शुरू हो गये। इन दंगों के दौरान ऐसी नृशंसता का नंगा नाच हुआ कि हैवानियत भी शर्मा जाय।

महात्मा गांधी ने दंगों का विरोध किया और सभी पक्षों से सांप्रदायिक सद्भाव तथा संतुलन बनाये रखने की अपील की। देश के बंटवारे की जमीन तो लगभग तैयार ही हो गयी थी, पर महात्मा गांधी ने अभी भी बंटवारे को स्वीकार नहीं किया था और अवरोध बने हुए थे।

24 मार्च 1947 को अपना कार्यभार संभालने के बाद लार्ड माउंटवेटन ने बड़ी चतुराई से देश के बंटवारे की योजना तैयार की तथा उसके कार्यान्वयन की दिशा में पूरे सोच-विचार के साथ कदम ब-कदम आगे बढ़ाया। मुस्लिम लीग से सरदार पटेल पहले से ही खीझे हुए थे, फलस्वरूप माउंटवेटन ने सर्वप्रथम पटेल को ही अपने जाल में फंसाया और उन्हें बंटवारे के लिए राजी किया। उसके बाद माउंटवेटन दंपति ने अपने सम्मिलित प्रयास से पं. नेहरू को भी बंटवारे के पक्ष में कर लिया।

31 मार्च 1947 को महात्मा गांधी दिल्ली पहुंचे। देश विभाजन की राह में वे अब भी अवरोध बने हुए थे। इस संदर्भ में मौलाना अब्दुल कलाम आज़ाद और महात्मा गांधी के बीच हुई वार्ता गौर के काबिल है, जो भारत के बंटवारे के संदर्भ में पर्दे के पीछे की सारी प्रक्रिया को उजागर कर देती है।

मौलाना अब्दुल कलाम 'आज़ाद' लिखते हैं,

> 'मैं फौरन उनसे (महात्मा गांधी से) मिलने गया और उनका पहला कटाक्ष था-बंटवारा अब ख़तरा बन गया है। लगता है कि वल्लभभाई और यहां तक कि जवाहर लाल ने भी घुटने टेक दिये हैं। अब आप क्या कीजियेगा? क्या आप मेरा साथ देंगे या आप भी बदल गये हैं।

मैंने जबाब दिया, 'मैं बंटवारे के ख़िलाफ़ रहा हूं और अब भी हूं। बंटवारे के ख़िलाफ़ जितना मैं आज हूं उतना पहले कभी न था। लेकिन मुझे यह देखकर अफसोस है कि जवाहरलाल और सरदार पटेल ने भी हार मंज़ूर कर ली है, और आपके शब्दों में हथियार डाल दिये हैं। मेरी आशा अब एकमात्र आप पर टिकी है। अगर आप बंटवारे के ख़िलाफ़ खड़े हों तो हम अब भी उसे रोक सकते हैं। अगर आप भी मंज़ूर कर लेते हैं, तो मुझे डर है कि हिंदुस्तान का सर्वनाश हो जायेगा।'

गांधीजी ने कहा-'आप भी कैसा सवाल पूछते हैं?' अगर कांग्रेस बंटवारा मंज़ूर करेगी तो उसे मेरी लाश के ऊपर होकर गुजरना पड़ेगा। जब तक मैं जिंदा हूं, मैं भारत के बंटवारे के लिए कभी राजी न हूंगा और अगर मेरा वश चला तो कांग्रेस को भी इसे मंज़ूर करने की इजाजत न दूंगा।'

बाद में उसी दिन गांधीजी लॉर्ड माउंटवेटन से मिले। वे दूसरे दिन भी उनसे मिले, फिर दो अप्रैल को भी मिले। ज्यों ही वे लार्ड माउंटवेटन से पहली बार मिलकर वापस आये त्यों ही सरदार पटेल उनके पास आ पहुंचे और दो घण्टे से ज़्यादा उनसे गुप्त वार्ता करते रहे। इस मुलाकात में क्या हुआ मैं नहीं जानता। लेकिन जब मैं फिर गांधीजी से मिला, तो मुझे इतना बड़ा आघात लगा जितना जिंदगी में कभी भी न लगा था, क्योंकि मैंने देखा कि वह भी बदल गये हैं।'

महात्मा गांधी भी क्यों बदल गये और बंटवारे के पक्ष में हो गये, इस पर रोशनी डालते हुए अब्दुल कलाम आज़ाद ने बताया कि महात्मा जी अंत-अंत तक देश के बंटवारे का विरोध करते रहे थे, देश की एकता को बचाये रखने के लिए उन्होंने माउंटवेटन को यह सुझाव दिया था कि जिन्ना को सरकार बनाने दिया जाय और उन्हें अपने मंत्रिमण्डल के सदस्यों का भी चयन करने दिया जाय। माउंटवेटन भी बहुत हद तक इस सुझाव के पक्ष में हो गये थे, पर पटेल और नेहरू दोनों ने इसका जमकर विरोध किया और गांधीजी को अपना प्रस्ताव वापस लेने के लिए मजबूर किया। आज़ाद ने लिखा कि 'गांधीजी ने मुझे यह बात याद दिलाई और कहा कि हालत अब ऐसी है कि बंटवारा अवश्यंभावी लगता है।'

आज़ाद का ख्याल था कि गांधीजी सरदार पटेल के प्रभाव के कारण बंटवारे का विरोध न कर सके और अंततः उन्होंने अपने आप को बंटवारा के पक्ष में कर लिया।

इस समझौते की सबसे बड़ी कीमत भारत के विभाजन और विभाजनजनित सांप्रदायिक दंगों के रूप में चुकानी पड़ी।

सांप्रदायिक दंगों की यह आग देश के कोने-कोने में पहुंच गयी। रावी, झेलम, सतलज, गंगा, यमुना सबका पानी लाल हो गया। भारत और पाकिस्तान दोनों ही इस सांप्रदायिकता की आग में धू-धूकर जलने लगे। इस दौरान सेना और अंग्रेज़ अधिकारियों की भूमिका भी संदिग्ध ही नही अपितु विभाजित रही।

साम्राज्यवादी साजिशों के तहत सत्ताशीन बुर्जुआ वर्ग ने प्रतिक्रियावादी शक्तियों की सांठ-गांठ से भारतीय समाज को ऐसे पेचीदगी भरे मुकाम पर खड़ा किया है, जहां सामाजिक परिवर्तन की लड़ाई तबतक कामयाब नहीं हो सकती जबतक सांप्रदायिकता व अलगाववाद के ख़िलाफ़ आम जनता को गोलबंद न किया जाय। सांप्रदायिकता वह बहुसंख्यक की हो या अल्पसंख्यक की हो, दोनों समान रूप से हमारे समाज तथा राष्ट्र के अस्तित्व के लिए ख़तरनाक है। सांप्रदायिक तत्व ऊपर से देखने में एक दूसरे के खून के प्यासे दिखते हैं, पर अगर सही रूप में इनके चरित्र का विश्लेषण किया जाय तो यह विचारधारा और अपनी सामाजिक भूमिका के धरातल पर एक दूसरे के पूरक होते हैं।

आज यह प्रश्न उठता है कि जब राष्ट्र ही नहीं रहेगा तो जिस नये भारत की हम कल्पना करते हैं

उसे कहां बनायेंगे? यह भी सही है कि जब तक वर्ग विभाजित समाज रहेगा, लोगों की आंखों में आंसू रहेंगे, समाज में परिवर्तन के लिए संघर्ष जारी रहेगा। पर सामाजिक परिवर्तन के चक्र को संप्रदायवाद, जातिवाद, क्षेत्रवाद और अलगाववाद के तहत पीछे ढकेलने की प्रतिक्रियावादी साजिशों का हमें अपनी पूरी ताकत से, संगठित हाकर विरोध करना होगा और नापाक साजिशों को परास्त करना होगा।

आप अंदाज लगा सकते हैं कि आज हमारा समाज किस मुकाम पर खड़ा है। वह अपने ऐतिहासिक तथ्यों तक को बर्दाश्त नहीं कर सकता, न अपनी ऐतिहासिक भूलों से ही सबक लेने के लिए तैयार है। देश के विभाजन की घोर त्रासदी से गुजरे समाज का एक तबका, उसकी त्रासदी की सही तस्वीर से सबक लेने के वजाय आज भी उसे अपनी प्रतिक्रियावादी साजिश का शिकार बनाना चाहता है।

अंग्रेज़ों ने धर्म को आधार बनाकर सांप्रदायिक उन्माद फैलाकर देश को बांटने में सफलता हासिल की थी। देश के विभाजन और सांप्रदायिकता की भेंट चढ़ी असंख्य कुर्बानियों के बावजूद हमने अपने सेकुलर स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने का संकल्प लिया था। वह संकल्प आज भी कायम है।

हमारे संविधान द्वारा देश के सेकुलर स्वरूप को अंगीकार करने के बाद आज़ादी के कुछ दिनों बाद तक सांप्रदायिकता की अपील कुछ कमज़ोर ज़रूर पड़ी थी, पर समाप्त नहीं हुई थी। अस्सी के दशक के बाद एक बार फिर सांप्रदायिकता संस्कृति का लबादा ओढ़कर अपने विभाजनकारी और फ़ासीवादी स्वरूप में सामने आयी। 6 दिसंबर 1992 को बाबरी मस्जिद विध्वंस की घटना ने हमारे सेकुलर स्वरूप पर बड़ा प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर दिया।

बहुसंख्यक सांप्रदायिकता के फ़ासीवादी उभार और अल्पसंख्यक सांप्रदायिकता के तत्ववादी उभार ने हमारे जनतांत्रिक स्वरूप और जनवाद के समक्ष कठिन चुनौतियां पेश की हैं। यदि धर्मनिरपेक्ष सोच वाली ताकतें अपने एकजुट प्रयास द्वारा इस चुनौती का सामना नहीं कर पायीं तो अलगाववादी शक्तियों के वर्चस्व और सांप्रदायिक फ़ासीवाद के उभार को रोक पाना बहुत कठिन होगा।

जनवाद और देश के जनतांत्रिक स्वरूप में विश्वास रखने वाले लेखकों, बुद्धिजीवियों, संस्कृतकर्मियों, रंगकर्मियों के साथ-साथ मेहनतकश जनता एवं किसानों के एकजुट प्रयास के द्वारा ही हम सांप्रदायिक फ़ासीवाद की चुनौतियों का सामना करते हुए धर्मनिरपेक्षता और जनतांत्रिक मूल्यों की हिफाजत कर सकते हैं।

हमारा देश अनेक धर्मों, संप्रदायों, भाषाओं, जातियों तथा संस्कृतियों वाला देश है। गंगा-जमुनी संस्कृति हमारी विरासत है। परस्पर सहयोग, सहधर्मिता, सहभागिता एवं सहिष्णुता के साथ हम सदियों से रहते आए हैं। विभिन्नता में एकता ही इस देश की प्राणवायु है। आज सांप्रदायिक फ़ासीवादी उभार ने भारत की जनता की एकता को ही तार-तार करने का मंच तैयार कर दिया है।

आज मुख्य चुनौती सांप्रदायिक फ़ासीवाद है जिसे बड़े औद्योगिक घरानों ने जोर-शोर से अपना समर्थन दिया है। इस राजनीति ने जनता के बुनियादी सवालों को हाशिये पर डाल दिया है। विष्णु नागर की कविता बरबस याद हो आती है :

> 'रोटी का सवाल उठाया जा रहा है / लोक सभा में लड़ा जा रहा है / रोटी का सवाल उलझ गया है / लोक सभा में सुलझाया जा रहा है / रोटी का सवाल सुलझ गया है / राष्ट्रीय गीत गाया जा रहा है / राष्ट्रीय गीत गाया जा चुका है / रोटी का सवाल भुलाया जा चुका है।'

मो. : 09835183438

अथ राक्षस चालीसा

स्वामी सदानंद सरस्वती

सपने महं शंकर दियो मो कहं यह उपदेश।
राक्षस चालीसा रचहु, यह मेरो आदेश।।
जो कछु शंकर कह्यो सो मैं लिखेहु प्रमान ।
जो नर एहि मिलि गाइहैं कृपा करहिं भगवान।।

धिक बी जे पी धिक रजनीचर।
शिव पर वार करहिं ये निशिचर।।
पहले रामभूमि संहारी।
अब शंकर पै चोट करारी ।।

ये अधर्म मय सब परिवारा ।
मोदी नव रावण अवतारा।।
जिनहिं राम त्रेता महं मारा।
जनमहिं भारत बारंबारा ।।
भारत कर विनास ये चाहहिं।
रक्तपात करि प्यास बुझावहिं।।

जब जब बहै प्रगति की धारा ।
तब तब लेइ रावण अवतारा।।
प्रथम गोडसे बनि सोइ आवा।
रामभगत गांधी पै धावा ।।
बापू की हत्या करि दीनी।
सूनी गोद मातु की कीनी।।
पुनि अडवानी बनि सोइ आवा।
राम भूमि का नाम मिटावा।।

भारत मां के सुत सब बांटे।
देश प्रगति महं बोवै कांटे।।
इनके करम न शिव को भाये।
सोमनाथ तजि काशी धाये।।
पीछे पीछे मोदी आवा।
अब शंकर पर बोला धावा।।
मुंह में शिव शिव बगल में ईंटें।
काशी में अब शिव को पीटें।।

येहि कारन सब चाहहिं काशी।
मायावी ये सत्यानाशी।।
दंगों की नित जुगत बनावहिं।
जगह जगह हिंसा करवावहिं।।

विश्वनाथ जानी सब माया ।
अरविंदहिं सब भेद बताया।।
अरविंदहिं सो बंदी कीन्हा।
रक्तकलश भू महं धरि दीन्हा।।

सोइ रावण फिरि शासन चाहै।
भारत पै फिरि विपदा आहै।।
भेद सदाशिव शंकर भाखहिं ।
ये निशिचर गण विपदा लावहिं।।

जो अशोक वाटिका रखावा ।
जाहि पवनसुत मारि गिरावा ।।

सोइ अशोक सिंहल बनि आवा ।
आवत हनूमान पै धावा ।।
ओहि हनुमान गढ़ी सब लूटी।
तबहिं पवनसुत मूरत टूटी।।

कुंभकरण जोशी बनि आवा।
मात्र अविद्या तम फैलावा।।
सोउ काशी मंह चाहै आवै!
मोदी ओहि कहं मुंह न लगावै।।
भेजि कानपुर ताहि सुलावा।
मोदी खोजि रहा शिव बावा।।
सोमनाथ तजि धाये काशी।
पीछे शिव के सत्यानाशी।।
काशी तजि धाये कैलासा।
मोदी कर न तनिक विश्वासा।।

जो मारीच रावण कर मामा।
राजनाथ का पहनेउ जामा।।
उहि रावण की करै गुलामी।
अडवानी को दी गुमनामी।।
जे मारे निज जन गुजराती।
बनि भारत का भीतरघाती।।
राजनाथ लक्ष्मणपुर धायो।
सोउ लक्ष्मण पर घात लगायो।।
लखन लला को खोजै पापी।
बी जे पी में आपाधापी।।

इनहिं न कछू धरम सै प्रीती।
रकत पिपासू करहिं कुरीती।।
बी जे पी हो या हो मोदी।
ये निसिचरगण रक्तप्रमोदी।।
त्रेता रामचंद्र जे मारे।
बनि बीजेपी उपजे सारे।।

कलियुग निसिचर 'निकर' लिबासा ।
इन कर कोइ न करौ विस्वासा।।

ये पापी भारत के द्रोही ।
मंदिर मस्जिद ढाहैं ओही।।
अगुनहिं सगुनहिं नहिं कछु भेदा ।
कहहिं संत बुध गावहिं वेदा।।

ये राक्षसगण भेद करावहिं ।
एक मातु के सुत लड़वावहिं।।
करि जननी की सूनी गोदी।
हंसहि ठठाइ नरेंदर मोदी।।
येहिं कारण गुजरात जलायो।
सोमनाथ पै रक्त गिरायो।।
अब काशी पै साधि निशाना।
शिव शंकर पै खंजर ताना।।

इनके करतब जानहु भाई।
इनसे होहि न देश भलाई।।
जो कोई इनके गुन गावहिं
तेहि पर शंकर विपदा लावहिं।।
कान परै जदि इनकी बानी।
रौरव नरक परहिं ते प्रानी।।

जो बांचैं राक्षस चालीसा।
तेहि पर कृपा करैं गौरीसा।।
जो छापैं जो घर घर बाँटैं।
तेहि कर दुख शिवशंकर काटैं।।

यह चालीसा बोलि कर शंभु गये कैलास।
यह बांचै तो होइ क्यों भारत सत्यानाश।।
अब भी जो चेते नहीं भारत की संतान।
तो क्या खाक बचाओगे! अपना देश महान?।।

शिवधाम, स्वर्ग आश्रम,
ऋषिकेश, उत्तराखंड

इन्तज़ाम

कुंवर नारायण

कल फिर एक हत्या हुई
अजीब परिस्थिति में।
मैं अस्पताल गया
लेकिन वह जगह अस्पताल नहीं थी।
वहां मैं डॉक्टर से मिला
लेकिन वह आदमी डॉक्टर नहीं था।
उसने नर्स से कुछ कहा
लेकिन वह स्त्री नर्स नहीं थी।
फिर मैं आपरेशन-रूम में गया
लेकिन वह जगह आपरेशन-रूम नहीं थी।
वहां बेहोश करने वाला डॉक्टर
पहले ही से मौजूद था—मगर वह भी
दरअसल कोई और था।
फिर वहां एक अधमरा बच्चा लाया गया
जो बीमार नहीं, भूखा था।

डॉक्टर ने मेज पर से
ऑपरेशन का चाकू उठाया
मगर वह चाकू नहीं
जंग लगा भयानक छुरा था।

छुरे को बच्चे के पेट में भोंकते हुए उसने कहा
अब यह बिलकुल ठीक हो जाएगा।

मो. : 09891589836

उपदेश नहीं

भगवत रावत

कलियुग में जब दिखाई देने लगें
जगह-जगह तिलकधारी सतयुगी से चेहरे
तो यह नहीं समझना चाहिए कि सतयुग आ रहा है
इसी तरह जब धर्म से ज़्यादा फहराने लगे
धर्म की ध्वजाएं तो समझना यह चाहिए कि अब
सचमुच धर्म रसातल में जा रहा है

जब कट्टर है कठोर
अचानक दिखने लगें सहृदय उदार
मनुष्यता और मानवता के पक्ष में करने लगें
कुछ ज़्यादा ही तत्सम भाषा का व्यवहार
तो समझ लेना चाहिए
कोई न कोई नया हथियार बनाया जा रहा है

बाज़ार में ख़रीदी हुई चीज़ों के साथ
जब दिये जाने लगें
ख़ूबसूरत आकर्षक उपहार
तो रुककर सोचना चाहिए कि अब आपको
किस नई विधि से ठगा जा रहा है

जब राजा दिखाई देने लगे
कुछ अधिक भावुक, गुणग्राहक, कलावंत
और घर-घर में
होने लगे उसकी उदारता का प्रचार,
तब तो समझ ही जाना चाहिए कि कोई
जघन्य अपराध छिपाया जा रहा है

दोस्तो! चेहरे पर मूंछें ही सब कुछ नहीं कहतीं
चेहरों पर पुती कुटिल शराफ़त
और हिंसक विनम्र मुद्रा से ही
पता लगा लेना चाहिए
कि हिटलर अभी मरा नहीं ज़िंदा है
और बाक़ायदा वापस आ रहा है

उपदेश देना मेरा उद्देश्य नहीं
मैं तो अपने कुछ सच्चे धर्म प्राण मित्रों से कहना चाहता हूं
कि मैं ही नहीं आप भी गहरे संकट में हैं
और वह दिन ब दिन गहराता जा रहा है।

गुजरात के मृतक का बयान

मंगलेश डबराल

पहले भी शायद मैं थोड़ा थोड़ा मरता था
बचपन से ही धीरे-धीरे जीता और मरता था
जीवित रहने की अंतहीन खोज ही था जीवन
जब मुझे जलाकर पूरा मार दिया गया
तब तक मुझे आग के ऐसे इस्तेमाल के बारे में पता भी नहीं था
मैं तो रंगता था कपड़े तानेबाने रेशेरेशे
चौराहों पर सजे आदमक़द से भी ऊंचे फ़िल्मी क़द
मरम्मत करता था टूटीफूटी चीज़ों की
गढ़ता था लकड़ी के हिंडोले और गरबा के रंगीन डॉडिये
अल्युमिनियम के तारों से छोटी-छोटी साइकिलें बनाता बच्चों के लिए
इसके बदले मुझे मिल जाती थी एक जोड़ी चप्पल एक तहमद
दिन भर उसे पहनता रात को ओढ़ लेता
आधा अपनी औरत को देता हुआ

मेरी औरत मुझसे पहले ही जला दी गई
वह मुझे बचाने के लिए खड़ी थी मेरे आगे
और मेरे बच्चों का मारा जाना तो पता ही नहीं चला
वे इतने छोटे थे उनकी कोई चीख़ भी सुनाई नहीं दी
मेरे हाथों के जो हुनर था पता नहीं उसका क्या हुआ
मेरे हाथों का ही पता नहीं क्या हुआ
उनमें जो जीवन था जो हरकत थी वही थी उनकी कला
और मुझे इस तरह मारा गया
जैसे मारे जा रहे हों एक साथ बहुत से दूसरे लोग
मेरे जीवित होने का कोई बड़ा मक़सद नहीं था
और मुझे मारा गया इस तरह जैसे मुझे मारना कोई बड़ा मक़सद हो

और जब मुझसे पूछा गया तुम कौन हो
क्या छिपाए हुए हो अपने भीतर एक दुश्मन का नाम
कोई मज़हब कोई तावीज़
मैं कुछ कह नहीं पाया मेरे भीतर कुछ नहीं था
सिर्फ़ एक रंगरेज़ एक मिस्त्री एक कारीगर एक कलाकार एक मजूर था
जब मैं अपने भीतर मरम्मत कर रहा था किसी टूटी हुई चीज़ की
जब मेरे भीतर दौड़ रहे थे अल्युमिनियम के तारों की साइकिल के
नन्हें पहिए
तभी मुझ पर गिरी एक आग बरसे पत्थर
और जब मैंने आख़िरी इबादत में अपने हाथ फैलाए
तब तक मुझे पता नहीं था बंदगी का कोई जवाब नहीं आता

अब जबकि मैं मारा जा चुका हूं मिल चुका हूं
मृतकों की मनुष्यता में मनुष्यों से भी ज़्यादा सच्ची ज़्यादा स्पंदित
तुम्हारी जीवित बर्बर दुनिया में न लौटने के लिए
मुझे और मत मारो और मत जलाओ न कहने के लिए,
अब जबकि मैं महज़ एक मनुष्याकार हूं एक मिटा हुआ चेहरा एक
मरा हुआ नाम
तुम जो कुछ हैरत और कुछ ख़ौफ़ से देखते हो मेरी ओर
क्या पहचाने की कोशिश करते हो
क्या तुम मुझमें अपने किसी स्वजन को खोजते हो
किसी मित्र परिचित को या ख़ुद अपने को
अपने चेहरे में लौटते देखते हो किसी चेहरे को।

मो. : 09910402459

हलफ़नामा

असद ज़ैदी

नहीं ऐसा कभी नहीं हुआ

मनुष्य और कबूतर ने एक दूसरे को नहीं देखा

औरतों ने शून्य को नहीं जाना

कोई द्रव यहां बहा नहीं

फ़र्श को रगड़ कर धोया नहीं गया

हल्के अंधेरे में उभरती है एक आकृति
चमकते हैं कुछ दांत
कोई शै उठती है कील पर टंगी कोई चीज़
उतारती है चली जाती है

नहीं कोई बच्चा यहां सरकंडे की
तलवार लेकर मुर्ग़ी के पीछे नहीं भागा

बंदरों के काफ़िलों ने
कमान मुख्यालय पर डेरा नहीं डाला

मैंने सारे लालच सारे शोर सारे
सामाजिक अकेलेपन के बावजूद केबल कनेक्शन
नहीं लगवाया

चचा के मिसरों को दोहराना नहीं भूला

नहीं बहुत सी प्रजातियों को मैंने
नहीं जाना जो सुनना न चाहा
सुना नहीं, गोया बहुत कुछ मेरे लिये
नापैद था

नहीं पहिया कभी टेढ़ा नहीं हुआ
नहीं बराबरी की बात कभी हुई ही नहीं
हो सकती भी न थी

उर्दू कोई ज़बान ही न थी
अमीरख़ानी कोई चाल ही न थी

मीर बाक़ी ने बनवाई जो
कोई वह मस्जिद ही न थी

नहीं तुम्हारी आंखों में
कभी कोई फ़रेब न था।

E-mail: threeessays@gmail.com

वली दकनी

राजेश जोशी

बात इक्कीसवीं सदी की पहली दहाई के शुरुआती दिनों की है
जब बर्बरता और पागलपन का एक नया अध्याय शुरू हो रहा था
कई रियासतों और कई क़िस्म की सियासतों वाले एक मुल्क में
गुजरात नाम का एक सूबा था
जहां अपने हिंदू होने के गर्व और मूर्खता में डूबे कुछ क्रूर लोगों ने—
जो सूबे की सरकार और नरेंद्र मोदी नामक उसके मुख्यमंत्री के
पूरे संरक्षण में हज़ारों लोगों की हत्याएं कर चुके थे
और बलात्कार की संख्याएं जिनकी याददाश्त की सीमा पर कर चुकी थीं

—एक शायर जिसका नाम वली दकनी था का मज़ार तोड़ डाला।

वह हिंदी उर्दू की साझी विरासत का कवि था
जो लगभग चार सदी पहले हुआ था और प्यार से जिसे
बाबा आदम भी कहा जाता था।

हालांकि इन कारनामों का एक दिलचस्प परिणाम सामने आया
और वह कवि जो बरसों से चुपचाप अपनी मज़ार में सो रहा था
मज़ार से बाहर आ गया और हवाओं में फैल गया।
इक्कीसवीं सदी के उस शुरुआती साल में एक दूसरे कवि ने
जो मज़ार को तोड़ने वालों के सख़्त ख़िलाफ़ था
किसी तीसरे कवि से कहा कि
मैं दंगाइयों का शुक्रिया अदा करना चाहता हूं।
फिर तीसरे कवि ने चौथे कवि से भी यही बात कही
कि मैं दंगाइयों का शुक्रिया अदा करना चाहता हूं
कि उन्होंने वली की मज़ार की मिट्टी को

सारे मुल्क की मिट्टी, हवा और पानी का
हिस्सा बना दिया।

अपने हिंदू होने के गर्व और मूर्खता में डूबे उन लोगों को
लेकिन अपने इस कारनामे से सुकून नहीं मिला
और उन्होंने रात दिन मेहनत मशक़्क़त करके
गेंदालाल पुरबिया या छज्जूलाल उढ़ाउ जैसे ही
किसी नाम का कोई एक कवि और उसकी कविताएं ढूंढ़ निकालीं
और उन्होंने दावा किया कि वह वली दकनी से अगले वक़्त का कवि है
और छद्म धर्मनिरपेक्ष लोगों के चलते उसकी उपेक्षा की गयी
वरना वह वली से पहले का और ज़्यादा बड़ा कवि था।
फिर उन लोगों ने जिनका ज़िक्र ऊपर कई बार किया जा चुका है
कोर्स की किताबों से वो सारे सबक़ जो वली दकनी के बारे में लिखे गये थे
चुन चुन कर निकाल दिये।

यह क़िस्सा क्योंकि इक्कीसवीं सदी की भी पहली दहाई के शुरुआती दिनों का है
इसलिए बहुत मुमकिन है कि कुछ बातें सिलसिलेवार न हों
फिर आदमी की याददाश्त की भी एक हद है
और कई बातें इतनी तकलीफ़देह होती हैं कि उन्हें याद रखना और
दोहराना भी तकलीफ़देह होता है
इसलिए यहां जानबूझकर भी कुछ नामालूम सी बातों को छोड़ दिया गया है
लेकिन एक बात जो बहुत अहम है और सौ टके सच है
उसका बयान कर देना मुनासिब होगा
कि वली की मज़ार को जिन लोगों ने नेस्तनाबूद किया
या यह कहना ज़्यादा सही होगा कि करवाया
वे हमारी आपकी नस्ल के कोई साधारण लोग नहीं थे
वे कमाल के लोग थे
उनके सिर्फ़ शरीर ही शरीर थे
आत्माएं उनके पास नहीं थीं
वे बिना आत्मा के शरीर का इस्तेमाल करना जानते थे
उस दौर के क़िस्सों में कहीं-कहीं इसका उल्लेख मिलता है
कि उनकी आत्माएं उन लोगों के पास गिरवी रखी थीं,
जो विचारों में बर्बरों को मात दे चुके थे
पर जो मसख़रों की तरह दिखते थे
और अगर उनका बस चलता तो प्लास्टिक सर्जरी से
वे अपनी शक्लें हिटलर और मुसोलिनी की तरह बनवा लेते।

मुझे माफ़ करें मैं बार-बार बहक जाता हूं
असल बात से भटक जाता हूं
मैं अच्छा क़िस्सागो नहीं हूं
पर अब आपस मुद्दे पर आता हूं

कोर्स की किताबों से वली दकनी वाला सबक़
निकाल दिये जाने के बाद भी उन्हें सुकून नहीं मिला
तब उन्होंने अपने पुरातत्वविदों और इतिहासकारों को तलब किया
और कहा कि कुछ करो, कुछ भी करो
पर ऐसा करो
कि इस वली नाम के शायर को
इतिहास से बाहर करो।

यक़ीन करें मुझे आपकी मसरूफ़ियतों का ख़याल है
इसलिए उस तवील वाक़िये को मैं नहीं दोहराऊंगा
मुख़्तसर यह कि
एक दिन...।
ओह! मेरा मतलब यह कि
इक्कीसवीं सदी की पहली दहाई के शुरुआती दिनों में एक दिन
उन्होंने वली दकनी का हर निशान पूरी तरह मिटा दिया
मुहावरे में कहें तो कह सकते हैं
नामोनिशान मिटा दिया।

उन्हीं दिनों की बात है कि एक दिन

जब वली दकनी की हर याद को मिटा दिये जाने का
उन्हें पूरा इत्मीनान हो चुका था
और वे पूरे सुकून से अपने-अपने बैठकख़ानों में बैठे थे

तभी उनकी छोटी-छोटी बेटियों उनके पास से गुज़रीं
गुनगुनाती हुई

वली तू कहे अगर ये बचन
रक़ीबां के दिल में कटारी लगे।

E-mail: rajesh.isliye@gmail.com

कार्तिक स्नान

मनमोहन

एक ही दिन
एक ही मुहूर्त में
हत्यारे स्नान करते हैं

हज़ारों हज़ार हत्यारे
सरयू में, यमुना में
गंगा में
क्षिप्रा, नर्मदा और साबरमती में

पवित्र सरोवरों में

संस्कृत बुदबुदाते हैं और
सूर्य को दिखा दिखा
यज्ञोपवीत बदलते हैं

मलमल कर
गूढ़ संस्कृत में
छपाछप छपाछप
खूब हुआ स्नान

छुरे धोये गए
एक ही मुहूर्त में
सभी तीर्थों पर

नौकरी नहीं मिली
लेकिन कई खत्री तरुण

क्षत्रिय बने और कई क्षत्रिय ब्राह्मण
नये द्विजों का उपनयन संस्कार हुआ
दलितों का उद्धार हुआ
लगे हाथ कितने ही अभागे कारीगरों,
शिल्पियों, बुनकरों, दर्ज़ियों
पतंगसाज़ों, कुंजड़ों और हम्मालों का श्राद्ध हो गया
इसी शुभघड़ी में
(इनमें पुरानी दिल्ली का एक भिश्ती भी था)
पवित्रजल में धुल गए इन कम्बख़्तों के
पिछले अगले जन्मों के समस्त पाप
इनके गंदे खून के साथ-साथ
और उन्हें मोक्ष मिला
धन्य है, धन्य है
हर तरह सफल था, संपन्न हत्या अनुष्ठान

मो. : 09896838229

मोदी

विष्णु नागर

मोदी के घर में उसके कई सेवक हैं
उसका वहां कोई भाई, कोई बहन नहीं
उसके आंगन में खेलता कोई बच्चा नहीं
उसके अनुयायी लाखों में हैं
उसका कहने को भी कोई मित्र नहीं
वह जब आधी रात को चीख़ पड़ता है भय से कांप कर

उसे हिलाकर, जगाकर
'क्या हुआ', यह पूछने वाला कोई नहीं
'कुछ नहीं हुआ' यह उत्तर सुनने वाला कोई नहीं
ऐसा भी कोई नहीं जिसकी चिंता में
वह रात-रात भर जागे
ऐसा कोई नहीं
जिसकी मौत उसे दहला सके

किसी दिन उसे उलटी आ जाए
तो उसकी पीठ सहलाने वाला कोई नहीं
आधी-आधी रात जागकर
उसके दुख सुन सके, उसके सुख साझा कर सके
ऐसा कोई नहीं
कोई नहीं जो कह सके आज तो तुम्हें
कोई फिल्मी गाना सुनाना ही पड़ेगा
उसकी एक मां ज़रूर हैं
जो उसे आशीर्वाद देते हुए फोटो खिंचवाने के काम
जब तब आती रहती हैं

यूं तो पूरा गुजरात उसका है
मगर उसके घर पर उसका इंतजार करने वाला कोई नहीं
उसे प्रधानमंत्री बनाने वाले तो बहुत हैं
उसको इनसान बना सके, ऐसा कोई नहीं।

E-mail:vishnu.nagar@yahoo.co.in

कौमी एकता का गीत

चंचल चौहान

आज लड़ाई छिड़ी हुई, शैतान और इंसान की
रीत प्रीत की टूट न पाये, क़सम तुम्हें ईमान की

हिंदू मुस्लिम-सिख ईसाई
सबकी मातृभूमि यह भाई

हमें काटने हमें बांटने की चालें शैतान की
रीत प्रीत की टूट न पाये, क़सम तुम्हें ईमान की

साथ साथ हम खाये खेले
साथ साथ हमने दुख झेले

आज़ादी की लिखी कहानी साथ साथ बलिदान की
रीत प्रीत की टूट न पाये, क़सम तुम्हें ईमान की

सेठों सामंतों ने लूटा
राम नाम है इनका झूठा

मुंह में राम बग़ल में ईंटें धरती लहू लुहान की
रीत प्रीत की टूट न पाये, क़सम तुम्हें ईमान की

तुलसी सूर कबीर हमारे
ख़ुसरो ग़ालिब मीर हमारे

यह धरती नानक दादू की मीरा की रसखान की
रीत प्रीत की टूट न पाये, क़सम तुम्हें ईमान की

खेल खेलते जो हैवानी
मोदी हों या हों अडवानी

भारत के जन पहचानो! फ़ितरत इनके अभिमान की
रीत प्रीत की टूट न पाये, क़सम तुम्हें ईमान की

मो. : 09811119391

ईश्वरीय संगठन

कुमार अंबुज

सुबह की प्रार्थना के बाद
जो लाठी चलाने के सत्र में प्रशिक्षित हो रहे हैं
वे एक ईश्वरीय संगठन के हिस्से हैं

वे जो प्राचीर पर खड़े हैं फहराते हुए ध्वजा
जो पथराव करते हुए
शर्मसार हैं अपने बहुरंगी इतिहास पर
और गर्व करना चाहते हैं उस जन्म पर,
जिस पर उनका कभी बस न था
वे जो एक मरी हुई भाषा की कोख में
अपनी जीवित भाषा के गलत हिज्जों के साथ
नए भ्रूण बनना चाहते हैं
वे सब अब एक ईश्वरीय संगठन हैं

वे जिनके पास अपनी अपनी भाषा के ईश्वर हैं
जिन्होंने बना रखे हैं अपने विशाल इबादतगाह
अपरिग्रह का संदेश फैलाते हुए
जिनके पास अपार पैसा है, अकूल संपत्ति
जिनके तमाम भक्तगण गुंबदों के सामने बैठे सुन रहे हैं प्रवचन
और खोज रहे हैं धार्मिक किताबों में से
मनुष्यों को मार दिए जाने की वैधता के आख्यान
वे सब ईश्वरीय संगठन इस समय बिलबिला रहे हैं
एक कवि की छाती में किसी व्रण के कीटाणुओं की तरह

यह कौन सा ईश्वर है
कैसा है यह त्यौहार और यह जुलूस

जिसकी आवाज़ों में से निकलती हुई
छाती में गड़ रही है हथियार की नोक
जिसको देखकर सहम जाता है एक बच्चा

और एक चिड़िया घबराकर पछीटती है अपने पंख?
कि अब हर जाति का एक ईश्वर है
और हर ईश्वर सिर्फ़ एक जातिगत अस्त्र
जिसे जनता के बीच चलाता हुआ रोज़ रोज़
कोई न कोई ईश्वरीय संगठन!
ऐसे में जो महज़ एक आदमी बना रहना चाहता है
सोचता है—आख़िर क्या चाहते हैं ये ईश्वरीय संगठन?

जानना चाहता है एक मनुष्य
क्या हो सकता है
हिंसा के अलावा किसी भी ईश्वरीय संगठन का एजेंडा?

यह कितनी बड़ी असहायता है
कि जिसके शब्दों की ओट में
घात लगाए बैठे हैं हिंसक पशु
और जिसके हाथ में सरेआम चमक रही है तलवार
वह नहीं रह गया है संदिग्ध

और अब उनके शिकंजे में निस्तेज़ होते वे तारे हैं
जो अपनी चमक के साथ सबके लिए दमक सकते थे
वे मस्तिष्क भी है जिनमें मुमकिन है अभी गुलाबों की ख़ुशबू
और वे नाजुक हृदय भी
जिन्हें वे बाग़ीचे से तब पकड़ लाए
जब वे खेल रहे थे तितलियों के पंखों में से
पराग चुराने का खेल
और वे राहगीर भी
जो इस दुनिया को नहीं देखना चाहते थे
सिर्फ़ धर्मगुरु की मोतियाबिंद आंख से

वे ईश्वरीय संगठन
अब फिरौती में मांग रहे हैं
बचे हुए मनुष्यों का पूरा जीवन।

मो. : 09424474678

रात

निर्मला गर्ग

जिस रात की कोई सुबह नहीं
वह रात है
गुजरात

यह रात फैलती ही जा रही है
घनी होती जा रहीं उसकी दुरभिसंधियां
सच होते जा रहे बारंबार दुहराए झूठ

यह छीन रही हमसे हमारी आवाज़
बदल रही हमारा सारा इतिहास
लोगों को बांटती बस्तियां उजाड़ती
नाच रही वहशी यह रात

कॉरपोरेट पूंजी से बहनापा रखती
जनता की जेबों में कर रही छेद
इस रात के बाजू सहस्र हैं
इसके हैं चेहरे अनेक

मो. : 09717163756

अपराध

एकान्त श्रीवास्तव

मुझे पंजाब में मारो
या कश्मीर में
बस से उतारकर दाग़ दो
मेरे सीने में गोली
मैं हूं इस ढलती शताब्दी का
एक विक्षिप्त नागरिक

मेरी नींद में घुस आई है बारूद की गंध
मेरे सपने जलते घरों की लपटों से
झुलस गए हैं
मेरी हर सांस पर रखा है
मृत्यु का भारी पत्थर

मुझे अयोध्या में मारो
या झारखंड में
भोंक दो कटार
या धर्म के ठीहे पर कर दो हलाल
मैं हूं एक दहशतजदा नागरिक

यही है मेरा अपराध
कि मैंने कुछ सपने देखे
और एक नागरिक की तरह जीने की इच्छा की
मुझे जिजीविषा
और स्वप्न देखने के अपराध में मारो

तुम जहां गिराना चाहते थे रक्त
वहां मैंने रखने की कोशिश की—शब्द
और कुछ फूल
तुम जहां सुनना चाहते थे चीख़
वहां मैंने सुनने की कोशिश की
एक चिड़िया की आवाज़

मुझे शब्द और फूल और चिड़िया से
प्यार करने के अपराध में मारो।

मो. : 09433135365

अथ श्री पूंजी प्रपंचम्

दिनेश कुमार शुक्ल

स्वामि-परिवर्तनम्

पहले का मालिक बूढ़ा फिरंगी
लगा हटने तब दूसरे आये
आये ये भेस बना कर ऐसा
कि लोग इन्हें पहचान न पाये

आप तो पर्दे के पीछे रहे पर
कुर्सी पे अपने दलाल बिठाये
ऐसा ये वक़्त का चक्कर तेज़
कि हैरत अंगेज तमाशा दिखाये

पुराने फिरंगी के खादिम सारे
बजार में नाक नकेल लगाये
सींग में तेल व पूंछ फुलेल
लगाये हुए बिकने हित आये

लेकिन ढोर को कौन खरीदता
इतना खली भुस कौन खिलाये
रूप धरा बुलडाग का, खादिम
टाई की पूंछ डुलाते से आये

तब खूब छंटे और खूब बिके
और मालिक गोद में जा दुबके
जब मांगी किसान मजूर ने रोटी
भंभोड़ के खाने को ये लपके।

बहुरूंपम्

यह श्वान बनें
यह सांप बनें
यह जनता के
माई व बाप बनें
यह एक नहीं
बहु भेख धरें
कोई इस दल में
कोई उस दल में
मच्छर जैसे
भनभना उड़ें
इस दलदल से
उस दलदल में

(इत्यलम्)

मो. : 09810004446

नई सदी

नीलेश रघुवंशी

आतंक और बर्बरता से शुरू हुई नई सदी।
धार्मिक और बर्बर हमले
बने पहचान इक्कीसवीं सदी की।
बदा था इक्कीसवीं सदी की क़िस्मत में
मरते जाना हर दिन बेगुनाह लोगों का।

हज़ार बरसों पीछे घकेलने का षड्यंत्र
आख़िर किया किसने...?
किसने? किसने ढकेला जीवन के बुनियादी प्रश्नों को हाशिए पर?

क्या सचमुच
इक्कीसवीं सदी उन्माद और युद्धोन्माद की सदी होगी?
या होगी
उजड़ते संसार में एक हरी पत्ती की तरह।

E-mail: nileeshraghuwanshi67@gmail.com

हमारे समय की प्रार्थना

अनिल गंगल

प्रभु!
आंखें मिंची रहें हमारी
और सिर झुका हुआ हरहमेश

दसों दिशाओं में छाई रहे घोर अंधकार की छाया
यहां तक कि
देख न सकें हम उजाले की एक नन्हीं किरण तक

युद्ध में लड़े बगैर
हथियार डाल देने वाले पराजितों की तरह
हरदम झुके रहें हमारे मस्तक

इतनी लचीली हो हमारी रीढ़
कि झुकाई जा सके किसी भी नीचाई तक
दोनों हाथ जुड़े रहें विनयपूर्वक एक दूसरे से इस तरह
कि खुल न पाएं
हमारे सिरों पर तनी वज्रमुट्ठियों के प्रतिकार के लिए

करते रहें अनंत काल तक उन्हीं उन्हीं बासी मंत्रों की कै
जो रचे गये उस वक़्त
जब पसरा पड़ा था चारों ओर स्वर्णयुग का अंधकार

इस तरह डूबें हम
तुम्हारी वंदना के पंक में आकंठ
कि मन्वन्तरों से पंचतारा सुविधाओं में सोए पड़े देवताओं की
और गाढ़ी हो नींद।

फोन : 0144-2360221

कविता मेरी नहीं

बोधिसत्व

वे मेरी गहरी आंखों को
त्रिशूल से
और मेरे मन को नेज़े से
नापना चाहते हैं।

वे कह रहे हैं
मैं प्यार न करूं और
अपने घर को दिये की तरह जलाकर
उनकी आरती उतारूं
और अपनी बीवी बच्चों को
उन पर कुर्बान कर
उनके गुन गाऊं।
वे कह रहे हैं
मैं उनकी जयकार करूं। या
ओर बेहतर है चुप रहूं और
ज़बान के एवज़ में
ज़िदगी का तमग़ा लूं
और मगन फिरूं। या
ज़्यादा अच्छा हो कि अपनी क़ब्र
खोद कर उसमें अपने
सपनों के साथ बस जाऊं।

वे ख़ुदा के लाड़ले हैं
वे भगवान के दुलारे हैं
वे पवित्र हैं
वे सूर्य को अर्ध्य देते हैं
वह उनका हो जाता है
वे गंगा में नहाते हैं
वह उनकी हो जाती है
वे देश की परिक्रमा करते हैं
वह उनका हो जाता है,

मैं पूछ रहा हूं बार-बार
कि वे मुझे सोते जागते
बाहरी कह रहे हैं
क्या मैं बाहरी हो जाऊंगा?

वे चाहते हैं
मैं अपनी ज़मीन जायदाद
अपने चौंदहवीं के चांद को
अपनी बोई हुई फसल को और
अपने ख़ून में घुले हुए देश को
छोड़ दूं
और कहूं
गंगा मेरी नहीं
यह देश मेरा नहीं
फिर तो
सूर्य की किरनें मेरी नहीं
चौदहवीं का चांद मेरा नहीं
और
कोई भी कविता मेरी नहीं।

मो. : 09820212573

यह आवाज़ मुझे सच्ची नहीं लगती

पवन करण

एक चिथड़ा तक नहीं बदन पर मेरे कपड़े का गुजरात की सड़कों पर
दंगाइयों से बचकर भागती एक औरत हूं मैं

छीनकर गोद से मेरी मेरे बच्चे को पछीट दिया गया है सड़क पर
पछीट दिये जाने का मतलब समझते हैं न आप,
एक साथ कई हाथों से बुरी तरह स्तन मसले गये हैं मेरे
उस वक़्त उनसे निकलते दूध की चिपचिपाहट को भी
नहीं किया गया है अपनी हथेलियों पर महसूस
जननांग में घुसेड़कर मेरे डंडा फहराया गया है उस पर एक ध्वज

भाइयों पिताओं और बुजर्गों के सामने मुझे अपने
करके एकदम नंगा दौड़ाया गया है सड़कों पर
जिन्होंने पाल पोसकर किया मुझे बड़ा संजोये मुझे लेकर सपने
सोचती हूं अपने सामने मुझे नंगा दौड़ते हुए उन्हें कैसा लगा होगा
दौड़ाते समय मेरी पीठ के नीचे बुरी तरह बरसाये गये हैं डंडे

पुरुषों की तरह मुझसे नहीं पूछा गया मेरा नाम
नहीं की गई है कोशिश जानने की मेरा धर्म
उतरवा कर कपड़े नहीं की गई मेरी पहचान
पहनावे के आधार पर दूर से ही चीन्ह लिया गया है मुझे
लेकिन मेरे भाइयों और पिताओं की गर्दनों की तरह तलवार से
एक झटके में नहीं उड़ाई गई है मेरी गर्दन
बल्कि मेरे मौत मांगने से पहले कुत्तों की तरह
बख़्श देने के लिए जुड़े मेरे हाथों को चाटा गया है
रौंदा गया है मेरे आंसुओं को वीर्य तले

दूर कहीं से चलकर आवाज़ आती है दंगा ख़त्म हो गया है
सच्ची नहीं लगती मुझे यह आवाज़
मुझे नहीं लगता दंगा ख़त्म हुआ है अभी
ये दंगा कभी ख़त्म होगा भी नहीं, मेरे और
मेरी देह के ख़िलाफ़ ये दंगा सदियों से जारी है
और जारी है इन दंगाइयों से बचकर मेरा भागना
जैसे मैं इन दिनों भाग रही हूं गुजरात की सड़कों पर

मो. : 09425109430

फ़ासिस्ट

मुकेश मानस

मैंने कहा
गंगा गंगोत्री से निकलती है
उसे अपने इतिहास पर ख़तरा लगा
उसने मुझे मार दिया

मैंने कहा
श्रीराम दिल्ली में रिक्शा चलाते हैं
उसे अपने धरम पर ख़तरा लगा
उसने मुझे मार दिया

मैंने कहा
ईश्वर आदमी का दुश्मन है
उसे अपनी शिक्षा पर ख़तरा लगा
उसने मुझे मार दिया

मैंने कहा
हिंदू मुस्लिम भाई-भाई हैं
उसे अपनी नीति पर ख़तरा लगा
उसने मुझे मार दिया

उसने मुझे बार-बार मारा है
मैंने बार-बार उसका चेहरा उघाड़ा है
दरअसल वो हत्यारा है।

मो. : 09873134564

सोख़्ता ग़ज़ल

मुज़फ़्फ़र हंफ़ी

फिर बसें टोलियों में जला दी गईं
दुल्हनें डोलियों में जला दी गईं
जितनी शाख़ें थीं मेहंदी के उस पेड़ पे
अब के सब होलियों में जला दी गईं
नौजवानों के सर दर पे काटे गए
लड़कियां खोलियों में जला दी गईं
शीरख़ारों को नेज़ों से छेदा गया
इस्मतें चोलियों में जला दी गईं
नेक दफ़आत थीं जितनी आईन की
छांटकर गोलियों में जला दी गईं
पहले गुड़ियों की शादी का अरमान था
अब वो हमजोलियों में जला दी गईं
ये भी मुंहबंद कलियों की मेराज है
प्यार की बोलियों में जला दी गईं

(दीवार-ए-शब, 2003 से साभार)

सितम

मंज़र शहाब

क्या ज़रूरी है फ़सादात लिखें
क्यों न इस लफ़्ज़ को गुजरात लिखें
शर्त क़ातिल की है, जीना हो तो हम
जौर को लुत्फ़-व-इनायात लिखें
आग को धूप कहें, गैस को अब्र
मौसम-ए-क़त्ल को बरसात लिखें
जलते शहरों को, हक़ीक़त से बईद
अगले वक्तों की हिकायात लिखें
हुक्म है उसके सितम को हम भी
बाअसे फ़ख़्र-व-मुबाहात लिखें
बुत-ए-काफ़िर का तक़ाजा है 'शहाब'
मस्जिदों को भी ख़राबात लिखें

(दीवार-ए-शब, 2003 से साभार)

शाह आलम कैम्प की रूहें

असग़र वजाहत

(1)

शाह आलम कैम्प में दिन तो किसी न किसी तरह गुज़र जाते हैं लेकिन रातें कयामत की होती हैं। ऐसी नफ़्सा नफ़्सी का आलम होता है कि अल्ला बचाये। इतनी आवाज़ें होती हैं कि कानपड़ी आवाज़ नहीं सुनाई देती, चीख़-पुकार, शोर-गुल, रोना, चिल्लाना, आहें, सिसकियां...

रात के वक़्त रूहें अपने बाल-बच्चों से मिलने आती हैं। रूहें अपने यतीम बच्चों के सिरों पर हाथ फेरती हैं, उनकी सूनी आंखों में अपनी सूनी आंखें डालकर कुछ कहती हैं। बच्चों को सीने से लगा लेती हैं। ज़िंदा जलाये जाने से पहले जो उनकी जिगरदोज़ चीख़ें निकली थीं वे पृष्ठभूमि में गूंजती रहती हैं। सारा कैम्प जब सो जाता है तो बच्चे जागते हैं, उन्हें इंतिजार रहता है अपनी मां को देखने का...अब्बा के साथ खाना खाने का।

'कैसे हो सिराज', अम्मां की रूह ने सिराज के सिर पर हाथ फेरते हुए कहा।

'तुम कैसी हो अम्मां?'

मां ख़ुश नज़र आ रही थी। बोली, 'सिराज...अब... मैं रूह हूं ...अब मुझे कोई जला नहीं सकता।'

'अम्मां...क्या मैं भी तुम्हारी तरह हो सकता हूं?'

(2)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद एक औरत की घबराई बौखलाई रूह पहुंची जो अपने बच्चे को तलाश कर रही थी। उसका बच्चा न उस दुनिया में था न वह कैम्प में था। बच्चे की मां का कलेजा फटा जाता था। दूसरी औरतों की रूहें भी इस औरत के साथ बच्चे को तलाश करने लगीं। उन सबने मिलकर कैम्प छान मारा...मोहल्ले गयीं...घर धूं-धूं करके जल रहे थे। चूंकि वे रूहें थीं इसलिए जलते हुए मकानों के अंदर घुस गयीं...कोना-कोना छान मारा लेकिन बच्चा न मिला।

आख़िर सभी औरतों की रूहें दंगाइयों के पास गयीं। वे कल के लिए पेट्रौल बम बना रहे थे। बंदूकें साफ़ कर रहे थे। हथियार चमका रहे थे।

बच्चे की मां ने उनसे अपने बच्चे के बारे में पूछा तो वे हंसने लगे और बोले, 'अरे पगली औरत, जब दस-दस बीस-बीस लोगों को एक साथ जलाया जाता है तो एक बच्चे का हिसाब कौन रखता है? पड़ा होगा किसी राख के ढेर में।'

मां ने कहा, 'नहीं, नहीं मैंने हर जगह देख लिया है...कहीं नहीं मिला।'

तब किसी दंगाई ने कहा, 'अरे ये उस बच्चे की मां तो नहीं है जिसे हम त्रिशूल पर टांग आये हैं।'

(3)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद रूहें आती हैं। रूहें अपने बच्चों के लिए स्वर्ग से खाना लाती हैं, पानी लाती हैं, दवाएं लाती हैं और बच्चों को देती हैं। यही वजह है कि शाह कैम्प में न तो कोई बच्चा नंगा भूखा रहता है और न बीमार। यही वजह है कि शाह आलम कैम्प बहुत मशहूर हो गया है। दूर-दूर मुल्कों में उसका नाम है।

दिल्ली से एक बड़े नेता जब शाह आलम कैम्प के दौरे पर गये तो बहुत ख़ुश हो गये और बोले, 'ये तो बहुत बढ़िया जगह है...यहां तो देश के सभी मुसलमान बच्चों को पहुंचा देना चाहिए।'

(4)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद रूहें आती हैं। रात भर बच्चों के साथ रहती हैं, उन्हें निहारती हैं...उनके भविष्य के बारे में सोचती हैं। उनसे बातचीत करती हैं।

'सिराज अब तुम घर चले जाओ।' मां की रूह ने सिराज से कहा।

'घर?' सिराज सहम गया। उसके चेहरे पर मौत की परछाइयां नाचने लगीं।

'हां, यहां कब तक रहोगे? मैं रोज रात में तुम्हारे पास आया करूंगी।'

'नहीं मैं घर नहीं जाउंगा...कभी नहीं...कभी... धुआं, आग, चीख़ें, शोर।'

'अम्मां मैं तुम्हारे और अब्बू के साथ रहूंगा।'

'तुम हमारे साथ कैसे रह सकते हो सिक्कू...'

'भाईजान और आपा भी तो रहते हैं न तुम्हारे साथ।'

'उन्हें भी तो हम लोगों के साथ जला दिया गया था न।'

'तब...तब तो मैं ...घर चला जाऊंगा अम्मां।'

(5)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद एक बच्चे की रूह आती है...बच्चा रात में चमकता हुआ जुगनू जैसा लगता है...इधर-उधर उड़ता फिरता है...पूरे कैम्प में दौड़ा-दौड़ा फिरता है...उछलता-कूदता है... शरारतें करता है...तुतलाता नहीं...साफ़-साफ़ बोलता है...मां के कपड़ों से लिपटा रहता है...बाप की उंगली पकड़े रहता है।

शाह आलम कैम्प के दूसरे बच्चे से अलग यह बच्चा बहुत ख़ुश रहता है।

'तुम इतने ख़ुश क्यों हो बच्चे?'

'तुम्हें नहीं मालूम...ये तो सब जानते हैं।'

'क्या?'

'यही कि मैं सुबूत हूं।'

'सुबूत? किसका सुबूत?'

'बहादुरी का सुबूत हूं।'

'किसकी बहादुरी का सुबूत हो?'

'उनकी जिन्होंने मेरी मां का पेट फाड़कर मुझे निकाला था और मेरे दो टुकड़े कर दिए थे।'

(6)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद रूहें आती हैं। एक लड़के के पास उसकी मां की रूह आयी। लड़का देखकर हैरान हो गया।

'मां तुम आज इतनी ख़ुश क्यों हो?'

'सिराज मैं आज जन्नत में तुम्हारे दादा से मिली थी, उन्होंने मुझे अपने अब्बा से मिलवाया...उन्होंने अपने दादा...से ...सकड़ दादा...तुम्हारे नगड़ दादा से मैं मिली।' मां की आवाज़ से ख़ुशी फूटी पड़ रही थी। 'सिराज तुम्हारे नगड़ दादा...हिंदू थे...हिंदू...समझे? सिराज ये बात सबको बता देना...समझे?'

(7)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद रूहें आती हैं। एक बहन की रूह आयी। रूह अपने भाई को तलाश रही थी। तलाश करते-करते रूह को उसका भाई सीढ़ियों पर बैठा दिखाई दे गया। बहन की रूह ख़ुश हो गयी। वह झपट कर भाई के पास पहुंची और बोली, 'भइया।' भाई ने सुनकर भी अनसुना कर दिया। वह पत्थर की मूर्ति की तरह बैठा रहा।

बहन ने फिर कहा, 'सुनो भइया!'

भाई ने फिर नहीं सुना, न बहन की तरफ देखा।

'तुम मेरी बात क्यों नहीं सुन रहे भइया!', बहन ने जोर से कहा और भाई का चेहरा आग की तरह सुर्ख़ हो गया। उसकी आंखें उबलने लगीं...वह झपटकर उठा और बहन को बुरी तरह पीटने लगा। लोग जमा हो गये। किसी ने लड़की से पूछा कि उसने ऐसा क्या कह दिया था कि भाई उसे पीटने लगा... बहन ने कहा, 'मैंने तो सिर्फ़ इन्हें भइया कह कर पुकारा था।' एक बुजुर्ग बोला, 'नहीं सलीमा नहीं, तुमने इतनी बड़ी ग़लती क्यों की।' बुजुर्ग फूट-फूटकर रोने लगा और भाई अपना सिर दीवार पर पटकने लगा।

(8)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद रूहें आती हैं। एक दिन दूसरी रूहों के साथ एक बूढ़े की रूह भी शाह आलम कैम्प में आ गयी। बूढ़ा नंगे बदन था। ऊंची धोती बांधे था, पैरों में चप्पल थी और हाथ में एक बांस का डण्डा था, धोती में उसने कहीं घड़ी खोंसी हुई थी।

रूहों ने बूढ़े से पूछा 'क्या तुम्हारा भी कोई रिश्तेदार कैम्प में है?'

बूढ़े ने कहा, 'नहीं और हां।'

रूहों ने बूढ़े को पागल रूह समझकर छोड़ दिया और वह कैम्प का चक्कर लगाने लगा।

किसी ने बूढ़े से पूछा, 'बाबा तुम किसे तलाश रहे हो?'

बूढ़े ने कहा, 'ऐसे लोगों को जो मेरी हत्या कर सके।'

'क्यों?'

'मुझे आज से पचास साल पहले गोली मार कर मार डाला गया था। अब मैं चाहता हूं कि दंगाई मुझे ज़िंदा जला कर मार डालें।'

'तुम ये क्यों करना चाहते हो बाबा?'

'सिर्फ़ ये बताने के लिए कि न उनके गोली मार कर मारने से मैं मरा था और न उनके ज़िंदा जला देने से मरूंगा।'

(9)

शाह आलम कैम्प में एक रूह से किसी नेता ने पूछा,

'तुम्हारे मां-बाप हैं?'

'मार दिया सबको।'

'भाई बहन?'

'नहीं हैं'

'कोई है'

'नहीं'

'यहां आराम से हो?'

'हां हैं।'

'खाना-वाना मिलता है?'

'हां मिलता है।'

'कपड़े-वपड़े हैं?'

'हां हैं।'

'कुछ चाहिए तो नहीं,'

'कुछ नहीं।'

'कुछ नहीं?'

'कुछ नहीं।'

नेता जी ख़ुश हो गये। सोचा लड़का समझदार है। मुसलमानों जैसा नहीं है।

(10)

शाह आलम कैम्प में आधी रात के बाद रूहें आती हैं। एक दिन रूहों के साथ शैतान की रूह भी चली आई। इधर-उधर देखकर शैतान बड़ा शरमाया और झेंपा। लोगों से आंखें नहीं मिला पा रहा था। कन्नी काटता था। रास्ता बदल लेता था। गर्दन झुकाए तेज़ी से उधर मुड़ जाता था जिधर लोग नहीं होते थे। आख़िरकार लोगों ने उसे पकड़ ही लिया। वह वास्तव में लज्जित होकर बोला, 'अब ये जो कुछ हुआ है...इसमें मेरा कोई हाथ नहीं है...अल्लाह कसम मेरा हाथ नहीं है।'

लोगों ने कहा, 'हां...हां हम जानते हैं। आप ऐसा कर ही नहीं सकते। आपका भी आख़िर एक स्टैण्डर्ड है।'

शैतान ठण्डी सांस लेकर बोला, 'चलो दिल से एक बोझ उतर गया...आप लोग सच्चाई जानते हैं।'

लोगों ने कहा, 'कुछ दिन पहले अल्लाह मियां भी आये थे और यही कह रहे थे।'

मो. : 09818148015

उर्दू कहानी

नींव की ईंट

हुसैन उल हक़

सलामतुल्लाह ने ऑफिस जाते हुए देखा था, फिर दफ़्तरी कामों की भीड़ में बात दिमाग़ से निकल गई।

मगर शाम को जब वह अपने घर के पास पहुंचा तो भीड़ वैसी की वैसी ही नज़र आई। सुबह में तो ऑफिस जाने की जल्दी भी थी और एक ख्याल यह भी आया था कि होगा कोई फंक्शन... बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उनके तिलक या छेका बगैरह का फंक्शन भी क्या कम भीड़ इकट्ठी करता है... मगर शाम को भी भीड़ वैसी ही नज़र आई तो उसको चिंता हुई... क्या कोई बीमार है? अब ऑफिस की जल्दी भी तो नहीं। उसने साइकिल अपने दरवाज़े पर लगाई और दो घर छोड़कर तीसरे घर की तरफ़ बढ़ गया।

'क्या बात है भाई? शिवपूजन भाई कहां हैं?' एक आदमी से इतना ही पूछा गया था कि शिवपूजन नज़र आ गए।

'आदाब शिवपूजन भाई, बड़ी भीड़ है? सुबह भी देखा, सब कुशल है ना?'

'अरे आप नहीं जानते? शिवपूजन जी तो...'

एक आदमी बहुत लहककर कुछ बताने के मूड में था कि अचानक शिवपूजन ने उसे हाथ से हटाते हुए सलामतुल्लाह के कंधे पर हाथ रखकर अपने क़दम घर के बाहर लगे मंडप से आगे बढ़ाने शुरू कर दिए। समालतुल्लाह भी शिवपूजन के साथ आगे बढ़ने पर मज़बूर था।

उस आदमी के बोलने, शिवपूजन के उस आदमी को एक तरफ़ करने, सलामतुल्लाह के कंधे पर हाथ रखने और मंडप से आगे की तरफ़ क़दम बढ़ाने में शायद दो सेकेंड का समय गुज़रा होगा। इस बीच शिवपूजन चुप रहे, फिर बोले, 'नहीं कोई महत्वपूर्ण बात नहीं... हम तनिक बाहर गए थे...'

शिवपूजन को इस वार्तालाप के बीच ही एक और आवाज़ सुनाई दी, जो आदमी सलामतुल्लाह को शिवपूजन के बारे में कुछ बताने जा रहा था उसको कोई और दूसरा आदमी शायद बता रहा था, 'सलामतुल्लाह है।'

यह वाक्य सलामतुल्लाह ने भी सुना और शिवपूजन ने भी...दोनों के बीच यह वाक्य पहुंचते ही शिवपूजन ज़ोर से हंसे...' और सुनाइए क्या समाचार है? सब कुछ सकुशल है ना?' सलामतुल्लाह को अचानक अनुभव हुआ कि वह तो नंगा है। बिलकुल ही वस्त्रहीन। वह और शिवपूजन दोनों ही गेट तक आ चुके थे। 'अच्छा शिवपूजनजी, आदाब।' वह समझ नहीं पाया कि उसके और शिवपूजन के बीच अब और कौन सा शब्द शेष बचा था।

'नमस्ते।' शिवपूजन ने दोनों हाथ जोड़ दिए। सलामतुल्लाह तेज़ी से अपने घर की ओर बढ़ गया।

संध्या वह भी दिसंबर की। चारों तरफ़ अंधेरा झुक आया था। बिजली फेल थी। अतः हर घर में लैम्प, लालटेन जल चुकी थी। अचानक उसे अपना गांव याद आ गया। सांझ होते ही वहां भी हर घर में मिट्टी के दिए और लालटेन जल उठती थी। पूस और माघ के जाड़े में घर की बैठक में सब जमा होते, रहीम चाचा, सिबते मामू, रामेश्वर चाचा, मंगरू काका। उसने अपने घर के दरवाज़े पर खड़े होकर एक नज़र शिवपूजन के घर पर डाली और घर में आ गया।

घर में दाखिल हो रहा था तो, बच्चों के खेलने की आवाज़ सुनाई दी, 'जय कन्हैया राम की...'

बच्चे मां के कमरे में लूडो खेल रहे थे। बड़ा लड़का टेबल पर पढ़ रहा था। पत्नी रसोई घर में थी। देखते ही अजब अंदाज़ में बोली, 'आप आ गए।'

'क्यों क्या बात है।' उसे कुछ हैरत-सी हुई। वह रोज़ ही आता है और पत्नी बिना कुछ कहे बस हल्की सी मुस्कान से स्वागत करती है... फिर यह?

'नहीं अंधेरा हो रहा था इसलिए जी लगा हुआ था।'

'क्या अटपटी सी बात कर रही है? अंधेरा क्या आज ही हुआ है?'

'अच्छा-अच्छा मुहं-हाथ धो लीजिए, चाय तैयार है।' उसे लगा वह बात की दिशा बदल रही है।

'अब्बू, अब्बू! शिवपूजन चाचा के यहां ईंट आई है।' उसकी बेटी उसकी आवाज़ सुनते ही दौड़ी आई।

वह शायद आदत के मुताबिक दिनभर के मुख्य समाचार सुनाने के मूड में थी।

'चलो जाकर पढ़ो, लाइट आ गई है।' पत्नी ने झपटकर उसका हाथ पकड़ा और कमरे की तरफ़ धकेल दिया।

'पागल हो गई हो? इस तरह क्यों डांटती हो? और यह शिवपूजन के यहां ईंट कैसी?'

'चुप रहिए।' उसने मुंह पर हाथ रख दिया और धीरे से बोली, 'आवाज़ दूसरे घरों में भी जाती है। पहले मुंह-हाथ धोकर कुछ खा लीजिए।' सलामतुल्लाह कुछ न बोला। वह थकावट अनुभव कर रहा था और भूख भी लगी थी। टिफिन के समय का खाया कितनी देर तक पेट में रहता? आज तो कोई आसामी भी नहीं फंसा था कि नाश्ता-पानी करा देता। मगर शिवपूजन... उसे फिर बाहर की भीड़ याद आई। फिर बेटी का वाक्य, 'ईंट आई है' और अचानक शिवपूजन का वाक्य गूंजा, 'तनिक बाहर चले गए थे।'

'सुनो।' अचानक उसकी छठी इंद्री जाग उठी और उसने धीरे से बीवी को पुकारा।

'क्या है?'

'यह शिवपूजन ...अयोध्या गया था क्या?'

'जी, बाहर इसी की भीड़ है।' पत्नी हल्के से बोली और थके क़दमों फिर रसोई में चली गई।

बिजली फिर गुम हो गई थी और पूरे घर में अज़ीब सा सन्नाटा रेंग रहा था। आस-पास के घरों से लालटेन की फीकी लौ इस प्रकार थरथराती और रेंगती उसकी खिड़कियों और रौशनदानों से घर के अंदर चली आ रही थी कि उसे लगा कि सांप की केंचुली चमक रही है। अंधेरा कुछ और गहरा हो गया था। गली में बच्चे खेल रहे थे... जय कन्हैया राम की।

'सुनो!' उसने पत्नी को फिर पुकारा।

'जी।'

'तुम्हारे अब्बा के दो-तीन ख़त आ चुके हैं न? अब तो बड़े दिन की छुट्टियां भी होनेवाली हैं। अपने

मायके हो आओ।'

'अच्छा चली जाऊंगी। लीजिए कुछ खा लीजिए।' वह धीरे से बोली। उसका ढंग मन रखनेवाला था।

उसने थोड़ा-सा खाया। वह लगभग पांच घंटों का भूखा था। मगर अब भूख ही नहीं लग रही थी। चाय पीकर उसने सिगरेट सुलगाई और सोफे पर ही लेटकर एक कश लिया। और एक अज़ीब असमंजस की स्थिति में विचार आया। मकान मिलता कहां है... मुस्लिम इलाक़ों में तो किराया आसमान छूता है। मकान मालिक समझता है वह भगवान है। मकान नहीं दे रहा है, किरायेदार की उम्र बढ़ा रहा है।... मगर किरायेदार भी तो पत्नी और बच्चों के लिए... लेकिन यहां तो आमदनी सीमित है। घूस के नाम पर चाय-पानी या कभी भाग्य ने साथ दिया तो दस बीस रुपए... आमदनीवाला टेबल उसे आज तक मिला ही नहीं है।

ऐसे में वह सरकारी क्वॉटर छोड़कर और कहां जाता? और क्वार्टर भी क्या! एल.आई.जी. नहीं मिलता तो और क्या मिलता!

'जय श्री राम।' अचानक एक ज़ोरदार नारा गूंजा और वह उछलकर खड़ा हो गया।

'बैठिए-बैठिए।' पत्नी शीध्र ही पास आई और धीरे से बोली, 'घबराने की बात नहीं, सुबह से ही चल रहा है। देखने वालों का फिर कोई नया जत्था आया होगा।'

वह बैठ गया मगर दिल की धड़कन तो बढ़ ही गई थी। उसने महसूस किया कि इस सर्दी में भी माथे पर पसीना आ गया था।

गई रात तक भीड़ महसूस होती रही। रह-रहकर नारे सुनाई देते रहे और तन्हाई का बैताल सलामत के कंधे पर चढ़ा चपड़-चपड़ उसकी खोपड़ी खाता रहा।

'मायके जाने की बात आपने क्यों की?' रात में जब बच्चे सो गए तो पत्नी ने पूछा।

'क्यों, नारे नहीं सुन रही हो?'

'नारे तो अक़ीदें (श्रद्धा) के तौर पर लगाए जा रहे हैं।'

'अक़ीदे को नफ़रत बनते कितनी देर लगती है?'

पत्नी चुप हो गई। रात धीरे-धीरे गहरी और अंधेरी होती जा रही थी। वह बहुत देर तक जागता रहा। अपनी आदत के विपरीत जागता रहा। वरना वह तो दिन भर का थका-हारा बिस्तर पर इस तरह गिरता था कि उसे इसका पता भी न चलता था कि पत्नी किस वक़्त आकर उसके पास लेटी। मगर आज वह जाग रहा था। आज क्यों जाग रहा है शिवपूजन? मगर उसके व्यवहार में तो कोई ख़ास बात नहीं थी। ईंट? नहीं जब 6 दिसंबर गुज़र ही गया तो... तो फिर? अचानक वाक्य गूंजा है? उसे लगा किसी ने उसके कानों में अंगारे डाल दिए हैं। यहा वह शब्द है जो सात घंटों से उसकी आंतें काट रहा था। पंद्रह वर्ष के जीवन में पहली बार ऐसा हुआ था। कल तक वह केवल सलातम भाई था। 'हरे रामा हरे कृष्णा' सुनकर उसके ख़्याल की रौ अचानक टूट गई। शिवपूजन के यहां भजन शुरू हो चुका था।

'ये?' उसका जवाब उसके पास नहीं था और फिर उसी वक़्त शहर की दीवार पर लिखा नारा उसे याद आया... ये तो एक झांकी है मथुरा काशी बाक़ी है। दूर से रेलगाड़ी की आवाज़ फ़ज़ाओं का सीना चीरती उस तक पहुंची... ठंड कुछ और बढ़ गई थी। बाहर यक़बस्ता हवाओं का ज़ोर अपने शबाब पर था। बीवी-बच्चे लिहाफ में गुड़मुड़ाए सो रहे थे। उसने लिहाफ़ से ज़रा सर निकालकर दीवार घड़ी देखी,

दो बज रहे थे। फिर निगाह ख़ुद ब ख़ुद कलण्डर की तरफ़ चली गई। 20 दिसंबर! अचानक एक अटपटी-सी बात उसके ज़हन में आई...क्या 6 दिसंबर गुज़र गया? फिर उसे लगे-लगे एक और मुबहम सवाल 6 दिसंबर क्यों आता है?... फिर एक और ख़ौफ... क्या 6 दिसंबर फिर आएगा? ऐसे ही अटपटे खयालात के दरमियान वह ऊब गया। सुबह सबेरे भजन की आवाज़ से नींद टूटी। बच्चे स्कूल-कालिज की तैयारी में मसरूफ थे। उसने खिड़की खोलकर देखा शिवपूजन के यहां बड़ी हमहमी थी। शायद बहुत सारे लोग रात यहीं रुक गए थे। नल के नीचे मुंह धोने-नहाने का सिलसिला जारी था। नौकर पूरे घर में झाड़ू लगा रहा था गालिबन नये मेहमानों की तैयारी थी। 'आज बच्चों को न जाने दो और तुम ही तैयार हो जाओ। मैं तुम्हें ऑफिस जाते हुए हयात भाई के यहां छोड़ जाऊंगा।' सलामत ने बीवी से कहा।

'क्यों?'

'तुम लोगों को अकेले छोड़कर ऑफिस में जी नहीं लगेगा।'

बीवी ने एक मिनट सोचा फिर बोली, 'कालोनी ही में इनाम भाई, अजीज भाई और फ़ज़ल साहब भी तो हैं। ज़रा उन लोगों से भी मशवरा कर लीजिए।' सलामत को ये बात पसंद आई और वह घर से निकला और सीधे नज़र झुकाए उन तीनों से मिलने चला गया। इस नई सूरते हाल से वे तीनों ही ऊबे हुए तो ज़रूर थे मगर चूंकि शिवपूजन का घर उनकी लाइन में नहीं था इसलिए मुतास्सिर नहीं हुए। मगर फ़ज़ल की ये बात उसके जी को लगी कि आज दिनभर देख लिया जाए। फिर इनाम बोले, 'मेरी कई छुट्टियां बाक़ी हैं। तुम लोग इतमिनान से ऑफिस जाओ, मैं आज छुट्टी ले लेता हूं।' मगर ऑफिस में भी इतमिनान कहां? शिवपूजन भी उसी ऑफिस में थे जिसमें सलामत था। और शिवपूजन के लौट आने की ख़बर सबको मिल चुकी थी। बल्कि ऐसा महसूस हुआ जैसे ऑफिस में से कई लोग वहां भी हो आए हों क्योंकि बातचीत घूम-फिरकर शिवपूजन तक पहुंच रही थी जबकि सलामत अपनी टेबल पर था मगर दूसरी मेज़ों की सरगोशियों से अपने कान कैसे बंद करता?

'मगर भाई, निकालने वाले भी गुणी थे। ऐसा निकाला कि कहीं टूटी भी नहीं है। अरे तो है भी तो पांच-छः सौ बरस पुरानी... तब मेटेरियल में भी तो मिलावट न होती थी, शिवपूजन की तो पांचों उंगलियां घी में और सर कढ़ाई में हैं। क्यों न हो? उसको 57 जैसा संघर्ष मान ही लिया गया है तो कल को शिवपूजन स्वतंत्रता सेनानी की पेंशन भी लेगा। जो दर्शन करता है वह दक्षिणा भी देता है। और फिर धर्म-संघर्ष का एक अंग बनकर शिवपूजन रातों-रात धार्मिक बन ही गया।

सलामत का घर शिवपूजन के घर के पास ही है। उसका क्या है? एक सरगोशी उभरी, वही होगा जो उन लोगों का सारे देश में हुआ है।' सलामत अचानक चौंक उठा तो इस रगड़े-झगड़े में वह बाज़ाब्ता एक पार्टी है? अचानक ही जैसे पूरा सीन बदल गया हो, अब तक वह अपने बच्चे, अपने घर, अपनी कालोनी के लिए सोच रहा था मगर उसे एहसास हुआ कि हारी हुई फ़ौज का एक सिपाही वह भी है।... वह एक ऐसी जंग में हारा है जिसमें उसने हिस्सा ही नहीं लिया... उसे अपने ऊपर हंसी भी आई और तरस भी... मगर उनका क्या करूं, उसे अपने हमपेशा याद आ गए... उनमें एक शिवपूजन ही है जो एक ऐसी जंग को जीतने वाला है जिसमें उसका मुक़ाबला करनेवाला कोई न था। और बाक़ी बचे ये मेरे दोस्त जो एक ऐसी जीत पर ख़ुश हैं जिसमें उनका कोई हिस्सा नहीं मगर तब उसी पल अ. जब्बार की एक तक़रीर याद आ गई... उन्हीं की तरह हमने भी मादरे वतन को ख़ूबसूरत बनाने में कोई कसर नहीं छोड़ी-जी.टी. रोड, ताजमहल, लाल किला हमने बनवाया। सलामत ने अचानक ही अपने आपको

एक गहरी किस्म की नफ़रत और ऊब में घिरा पाया। ऊब तो अपने हालात से मगर नफ़रत किनसे? हमपेशा दोस्तों से या जब्बार से? उसे इस सवाल का कोई सही जवाब न मिल सका... बेख़्याली में उसने मेज़ की दराज़ खोली और उस पर पड़ा नया हफ्तावार निकाला जो उसने चंद दिनों पहले ख़रीदा था.. . उसी बेख़्याली में वह उसके पेज उलटने लगा... उलटते-उलटते वह एक पेज पर रुक गया...पूरे पेज पर एक रंगीन तस्वीर थी। ढेर सारे लोग गुंबद पर चढ़कर उसे तोड़ते हुए...? दौरे की एक तेज़ लहर उठी और भंवरियां बगोटे की तरह उसके अंदर-अंदर सर से पैर तक दौड़ती रहीं। उसने महसूस किया कि उस दर्द में शर्मिंदगी भी शामिल है।... उसका जी चाहा वह चीख़-चीख़कर रोए, उसका जी चाहा कोई उसे पुर्सा दे, तसल्ली दे, झूठी ही सही... उसे बेटी का जुमला याद आ गया...शिवपूजन चाचा के यहां ईंट आई है। उस एक ईंट पर नक़ूश उभरने लगे... सूरत में मादरज़ाद नंगी भागती औरतों का अक्स. ..बंबई में लहुलुहान लाश... ये ज़िंदा बूंद है बेटी... जहेज़ मांगेगी... ख़ुसरो की जैसे चीख़ सी सुनाई दी— अरे लखी बाबुल मोरे.... जालिमो मेरे मोती न छीनो.... सलामत... उसे कहीं दूर से आती एक चीख़ सुनाई दी। वह चौंक पड़ा। उसका साथी फज़ल अहमद उसके कंधे पर हाथ रख उसे पुकार रहा था। उसने चौंककर अपने आपको देखा। हफ्तावार खुला पड़ा था। उसकी आंखें तर थीं और आफिस के सभी लोग उसे देख रहे थे। वह हड़बड़ाकर बाथरूम की तरफ़ दौड़ा, हाथ मुंह धोकर बाथरूम से निकला तो उसकी तबीयत उचाट हो चुकी थी। इसी आलम में वह पास के कमरे में चला गया।

'सर मैं घर जाना चाहता हूं।'

'घर?'

'जी सर, मैं बहुत थकावट महसूस कर रहा हूं।'

'अच्छा जाओ, बॉस ने न जाने क्या सोचकर इजाज़त दे दी,'

'सलामत,' जब वह चेंबर से निकला तो बॉस ने पुकारा।

'जी सर'

'कभी-कभी कुछ बातें ऐसी होती हैं जिनके होने या न होने पर अपना कोई बस नहीं होता, ऐसे में धीरज से काम लेना चाहिए।' बॉस जो कुछ कहना चाह रहे थे शायद सलामत ने वह सुन लिया और आहिस्ता-आहिस्ता ऑफ़िस से बाहर आ गया। मगर वह तस्वीर उसे बार-बार याद आती रही। उसके अंदर फिर एक हलचल सी मची, काश वह वहां होता कम से कम अपनी जान तो दे ही देता... दिल्ली में बैठे कई लोगों के लिए ये बड़ी भद्दी गालियां उसे याद आईं... उन सभों को तो गोली मार देनी चाहिए. ... हिफ़ाजत का नारा बुलंद कर रह थे धोखेबाज़ कहीं के... कम से कम वह वहां होता...फिर उसने अपने को मैदाने जंग में बड़े ज़ोरों की जंग लड़ते देखा। उसके चारों तरफ़ दुश्मनों का एक जमघट, तलवारों, नेजों, भालों से लैस और तंद बगैर ज़ीन कसे हुए घोड़े पर एक टूटी तलवार लिए हुए उसने देखा कि वह टूटी तलवार के सहारे लड़ रहा है। दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे, आगे-पीछे चारों तरफ़ से उस पर हमले हो रहे थे, वह सब का सामना करता हुआ मारता-काटता और उनसे एक धुआंधार जंग लड़ने लगता है जो गुंबद गिराने की कोशिश कर रहे हैं। इसी हालत में घर आया।

घर में दाखिल होते ही जैसे बीवी ने बम पटक दिए, 'कई बार शिवपूजनजी आप को तलाश करते हुए आए हैं। ' शिवपूजन मुझे खोज रहे हैं।' 'जी हां।' 'क्यों? मुझे क्यों?' 'पता नहीं, लेकिन कई मरतबा आ चुके हैं।' 'मैं क्या करूंगा जाकर? फिर कोई पागल कुछ न कुछ कह देगा।' 'क्यों, किसी ने कुछ

कहा है?' 'नहीं, मतलब नारा वारा।' अब वह बीवी को इतनी तफसील कहां बताता। 'नारा कोई ज़रूरी है आप ही को सुनाने के लिए हों? वैसे बहुत देर से नारे भी सुनाई नहीं दिए और फिर एक-दो दिन का मामला नहीं है हमें भी तो यहीं रहना है जाकर मिल लीजिए, दरया में रहकर..' वह एक तज़बजुब के आलम में निकला और शिवपूजन के घर की तरफ़ चल दिया। अरे, उसकी आंखें हैरत से फटी की फटी रह गईं। ऑफिस से वापसी पर वह अपने ख़्यालों में ऐसे गुम रहा कि शिवपूजन के घर की तरफ़ उसकी नज़र ही नहीं गई। वहां तो मंज़र ही दूसरा था। घर के बाहर लगा मंडप हट चुका था, भीड़ ख़त्म हो चुकी थी। भजन भी बंद हो चुका था।

उसके पुकारते ही शिवपूजन हड़बड़ाकर बाहर निकले, 'अरे सलामत भाई आप! मैं आपको कई बार खोज चुका।' 'क्यों? क्या बात है?' सलामत का लहजा उखड़ा-उखड़ा सा था। 'आइये, आइये ना, बुधा चाय ला' उन्होंने नौकर को आवाज़ दी। 'देखिए ऐसा है कि...' उन्होंने इधर-उधर देखा। असल बात पर आ ही गए। 'मैंने आपको बताया ही था कि मैं बाहर गया था। फिर ऑफिस में भी आपको पता चल ही गया होगा। ये तो आस्था का मामला था सलामत भाई, आप कुछ ख़्याल मत कीजिएगा। आप देख ही रहे थे कितनी भीड़ थी मगर आज सूचना मिली है...' शिवपूजन थोड़ा ठहरकर बोले, ' असल में दिल्ली और यहां दोनों जगह तो हमलोगों की विरोधी पार्टियां हैं। तो अब उसी को बहाना बनाकर धर-पकड़ हो रही है। थाने से दरोगा जी ख़बर भिजवाए हैं कि ऊपर का आदेश है पालन करना ही होगा। आज किसी समय भी छापा पड़ सकता है। अब उसको कहां ले जाऊं।' उसने बड़ी हैरत से शिवपूजन को देखा.... स्वतंत्रता सैनानी? धर्म संघर्ष का अंग धार्मिक? वह शिवपूजन को एकटक तकता रहा और वह बोलते रहे, 'रामेश्वर जी, हरिधर, अग्रवाल साहब सबने इनकार कर दिया... और बात ठीक ही है। मेरे बाद उन लोगों के घरों की भी तलाशी हो सकती है... ऐसे में अब ले-देके आप ही बच जाते हैं। जहां तलाशी का चांस नहीं...कृपा करके उसको अपने यहां रख लीजिए। मैंने सोचा, इधर-उधर फेंकने की हिम्मत नहीं हुई। श्री नारायण बता रहे थे कि सी.आई.डी. वाले घूम रहे हैं और फिर...' इतना कहकर वह रुके, सलामत को देखा और धीरे से बोले... 'ये तो आप के लिए भी इतनी ही ज़रूरी है।' सलामत को हंसी आ गई—इस नानसेन्स में अब क्या सेन्स तलाश किया जाए? मगर फिर अचानक गुलज़ार याद आ गए 'ये ज़िंदा बूंद है बेटी, जहेज़ मांगेगी।' उसे लगा जहेज़ देने का वक़्त आ गया। एक मरतबा फिर रिसाले से निकलकर वह तस्वीर उनके सामने आन खड़ी हुई... पूरा सरापा आग में झुलस रहा था और शोले सांप की जीभ की तरह लपलपा रहे थे। लाखों में एक बेकसो दिलगीर, हाय, हाय, उसे लगा वह पुकार रही है, मतुल्लाह मतुल्लाह।

'अच्छा ये तो बताएं... ये किस हिस्से की है?' अचानक ही सलामत ने एक बहुत ही ग़ैर ज़रूरी सा सवाल कर डाला। 'ये? ये नीवं की है? ऊपर का तो ज़्यादा हिस्सा बर्बाद हो चुका है मगर जब वह उसे लिए हुए अपने घर पहुंचा तो बीवी बिलकुल अलफ़ हो गई और बिफरी शेरनी की तरह जैसे उस पर झपट पड़ी, 'आपकी अक़्ल मारी गई क्या? कल से इसी के सबब इतने परेशान थे आज उसी को घर ले आए।' 'ये अपनी चीज़ है।' सलामत ने समझाना चाहा। 'अपनी चीज़ है', वह गुस्से में नाच-नाच गई, 'किसी का नासूर फोड़ा हो जाए वह भी तो अपनी चीज़ होती है। तो क्या उसे सेंत-सेंतकर अपने पास रखता रहे?' 'लाहोल वला कुव्वत,' सलामत बिगड़ा, 'क्या बेहूदा बातें करती हो? कहां नासूर कहां ये, इसकी हिफाज़त करना हमारा फर्ज़ है।'

'अच्छा एक बात बताएं,' कालिज में पढ़नेवाला लड़का बोला, 'आपने बताया था कि वाजिद अली शाह के वक़्त से ये हमारे लिए मसला बनी हुई है। तो फिर एक ऐसी चीज़ जो हर दौर में आदमी के लिए मसला बनी हुई है, हद ये कि अब पूजन चाचा के लिए भी मसला बन गई, उसने अपने सिर मूंड लेना कहां की अक़्लमंदी है।' सलामत ने आंखें फाड़कर देखा, हां उसका बेटा ही था मगर धुंध इतनी गहरी हो गई कि शिनाख़्त मुश्किल हो गई थी। बीवी फिर बिफरी, 'कोर्ट कचहरी, थाना उनका कोई ठिकाना? कहीं वह शिवपूजन के घर जाते-जाते हमारे घर मुड़ गए तो? ना बाबा हम न रखेंगे।' 'देखो, तुमलोग समझने की कोशिश करो।' सलामत को लगा कि वह अब अपने घर में ही एक हारी हुई जंग लड़ रहा है। 'अरे जाएं,' बीवी हाथ नचाते हुए बोली, 'किसी और को जाके समझाएं और इससे पहले ख़ुद समझने की कोशिश कीजिए। दिल्ली में बैठे सूरमा तो इस आग से घबरा के भाग खड़े हुए। हम कमऔक़ात बंदे किस क़तारो शुमार में।' ये बात सलामत के जी को लग गई। जब वह बाहर आया तो देखा शिवपूजन के घरवाले कहीं रवाना हो रहे हैं। 'कहां जा रहे हैं?' उसने शिवपूजन के लड़के से पूछा जो ताला लगा रहा था। 'जी हमलोग मौसी के यहां काशी जा रहे हैं।' 'और शिवपूजन?' 'वह पहले ही स्टेशन जा चुके हैं।' इतना कहते हुए लड़का भी रिक्शे में बैठ गया, शायद बाप की हिदायत के बावजूद वह भी ज़्यादा बात नहीं करना चाह रहा था। शिवपूजन की स्ट्रेटजी सलामत को समझ में आ गई, बाल-बच्चोंवाला आदमी भागे नहीं तो क्या करे? मगर असल मसला ये नहीं। शिवपूजन तो गया से निकलता है काशी चला जाता है और चाहे तो मथुरा मामा के यहां चला जाए। मगर सलामत क्या करे जिसे शिवपूजन ने नींव की ईंट जबर्दस्ती सौंप दी है।

बालकोनी

सुरेंद्र प्रकाश

बड़े कमरे के एक कोने में दीवार की तरफ़ मुंह करके और लंबा सा घूंघट काढ़े बेबे देर तक बैठी रोती रही। मां ने उसे एक-दो दफ़ा चुप कराना चाहा लेकिन बाउजी ने मना कर दिया, 'रहने दे शीलावन्ती उसे दिल का गुबार निकाल लेने दे।' और फिर अपनी दाढ़ी मूंडने में मशगूल हो गए।

पिछली शाम हमने इस मकान में प्रवेश किया था, बंबई आकर हम दो दिन कोलाबा में दूर के रिश्ते के एक मामू हरजीत सिंह के यहां ठहरे थे। हरजीत सिंह इंडियन नेवी में मुलाज़िम था। एक बार वो अपने बीवी बच्चों के साथ लायलपुर हमारे घर रहा था। अंग्रेज़ सरकार की तरह से हरजीत सिंह के वालिद तेजा सिंह के एक गांव चुक उनासी में काश्त के लिए ज़मीन एलाट हुई थी। जब तेजा सिंह की अचानक मौत हो गई तो हरजीत को वहां जाना पड़ा था। ज़मीन अच्छे ईमानदार मज़ोर[1] मुहम्मद हुसैन को बटाई के लिए देकर वो मुतमइन हो गया था। मुहम्मद हुसैन की चुक उनासी में अपनी भी ज़मीन थी। उसने अपनी ज़मीन के साथ-साथ तेजा सिंह की ज़मीन भी बटाई के लिए ले ली थी। ये सारा इन्तज़ाम मेरे वालिद कृपाराम ने ही किया था (जिसे हम सब वाउजी कहते थे)। उसी वजह से हरजीत सिंह के साथ हमारी कुरवत हो गई थी।

दो दिन तक हरजीत सिंह की बीवी अनूप कौर ने हमारी खूब ख़ातिर की थी। फिर हरजीत सिंह के वसीले से ही मुहम्मद अली रोड पर हमें ये मकान किराए पर मिल गया।

इमारत का नाम एहमदी मंज़िल था। इसके दूसरे मंज़िले पर एक बड़े कमरे, एक छोटे कमरे और वाथरूम वग़ैरा पर मुश्तमिल ये जगह थी। छोटे कमरे को मां ने रसोई घर बना लिया था और बड़ा कमरा रहन-सहन के लिए था। बड़ी बे-सरोसामानी[2] का आलम था। लायलपुर से हवाई जहाज में बैठकर निकले थे, लिहाज़ा सिर्फ़ पहनने के कपड़े ही ला पाए थे। ख़ानदान में दादी जिसे हम बेबे कहते थे बाउजी, मां जी, मैं और मेरी छोटी बहन गुड्डी ही थे। पांच ही फ़र्द और पांच ही छोटे-छोटे लोहे के ट्रंक हमारे कपड़ों से भरे हुए थे। खाना बनाने का कुछ सामान अनूप कौर ने दे दिया था और कुछ हरजीत और बाउजी बाजार से ख़रीद लाए। बड़ा कमरा बिलकुल ख़ाली था। बेबे फर्श पर ही बैठी रो रही थी और वाउजी भी फ़र्श पर बैठे दाढ़ी मूंड रहे थे। मां और गुड्डी रसोई घर में थीं।

'असलामवालेकुम' दरवाज़े पर से भारी-भरकम आवाज़ आई। मैंने और फिर बाउजी ने पलटकर

1. काश्तकार; 2. कुछ पास न होना

दरवाज़े की तरफ़ देखा। वहां दीनमुहम्मद अत्तार खड़ा था। बाउजी ने उसे देखा तो झट से बोले—'अरे आइए, आइए दीन मुहम्मद भाई! वआलेकुमस्सलाम, बाहर क्यों खड़े हैं, ये आप ही का तो घर है।'

'नवाजिश है जी मैंने कहा ज़रा आपकी ख़ैरियत मालूम कर लूं।' दीन महुम्मद ने बड़ी अपनाइयत से कहा और जूता उतारकर कमरे में आ गया, दीन मुहम्मद क़दरे फ़रबा[3] शख़्स था, चेहरे पर शरई दाढ़ी थी और सर पर सफ़ेद रंग की गोल टोपी। रंग क़दरे सांवला था। हाथ और उनकी उंगलियां ज़रा मोटी-मोटी थीं।

ये मकान उसी ने हमें पचास रुपए महीने और पांच हज़ार रुपए पगड़ी पर दिया था। मकान दरअसल उसका न था, उसके एक अज़ीज़ का था, जो अपनी बूढ़ी मां को दीन मुहम्मद के भरोसे छोड़कर ख़ुद पाकिस्तान चला गया था। दीन मुहम्मद ने बताया था कि वो ज़िला मिन्टगुमरी के शहर ओकाड़ा बख़ैरियत तमाम पहुंच गया है और अब अपना इतर का कारोबार शुरू करने की जद्दोजहद में था।

दीन मुहम्मद को कमरे में दाख़िल होते देखकर बाउजी चेहरे पर लगा साबुन तौलिए से पोंछते हुए उठ खड़े हुए और फिर दोनों बैठ गए। बाउजी ने मां को आवाज़ दी, 'शीलावन्ती भई दीन मुहम्मद साहिब आए हैं। ज़रा थोड़ी-थोड़ी चाय तो बना ला।' 'नहीं-नहीं तकल्लुफ़ की कोई जरूरत नहीं। अच्छा ये तो बताइए कोई तकलीफ़ तो नहीं?'

'नहीं जी, आप जैसे नेक आदमी के होते भला हमें क्या तकलीफ़ होगी।' बाउजी सहज स्वभाव से बोले। इस दौरान बेबे बदस्तूर रोती तो रही लेकिन उसने अपनी आवाज़ धीमी कर दी थी। इतने में गुड्डी छोटे-छोटे गिलासों में चाय ले आई। हम सब चाय पीने लगे। चाय की चुसकी लेकर दीन मुहम्मद ने बेबे के रोने की तरफ़ ध्यान दिया और आहिस्ता से पूछा, 'मां जी क्यों रो रही हैं? ख़ैरियत...' बाउजी ने एक गहरी सांस लेकर जवाब दिया, 'सब ऊपरवाले का काम है। बेबे रोने की रस्म पूरी कर रही है। लायलपुर में सब सामान रह गया, जिस मकान में हम रहते थे, उसी में मेरे वालिद की मौत हुई थी। उनकी बहुत सी यादें उस घर, उस शहर और उस मुल्क से जुड़ी हुई थीं। निशानी के तौर पर ये मेरे वालिद के पांव की खड़ाऊं, सर का कुला और एक तस्वीर ही अपने साथ ला सकी हैं। अगर उनको याद करके रोएंगी नहीं तो उनकी आत्मा समझेगी मुझे भूल गए सब, इसलिए रो रही हैं।'

दीन मुहम्मद ग़मज़दा सा हो गया था। कहने लगा, 'आपको वहां से निकलते वक़्त काफ़ी मुसीबतें उठानी पड़ी होंगी?' 'अब क्या कहें जी, जो बीत गया सो बीत गया। हमारे शहर में आख़री होली रंग से नहीं ख़ून से खेली गई थी। क़तलो-ग़ारत और लूट-मार करने वाले कौन लोग थे मालूम ही नहीं, पहले उन्हें कभी देखा न था। हम तो वैसे महफ़ूज ही रहे, धोबी घाट मोहल्ले में मेरे एक दोस्त शेख़ मुहम्मद शफ़ी सोडा वाटर फ़ैक्ट्री के मालिक थे। वो आए और हम सबको अपने घर ले गए। शहर में तो नादिरशाही मची हुई थी, फिर उन पर दबाव पड़ने लगा कि काफ़िरों को अपने घर से निकालो। वो कई दिन तक डटे रहे। आख़िर वहां से हमारे निकलने का इन्तज़ाम हो गया। रेडियो पर ऐलान हुआ कि एक हवाई जहाज 15 सितंबर को हवाई अड्डे पर पहुंचेगा, इसमें कृपाराम और उसका ख़ानदान सवार हो सकता है। हमने कहा, भाई मुहम्मद शफ़ी लो आपकी इज्ज़त रह गई, और हमारी भी। उसकी आंखों से आंसू बह निकले। कहने लगा, 'मैं पाक परवरदिगार का शुक्रगुजार हूं कि एक सच्चे मुसलमान का फ़र्ज निभा

3. मोटा

सका। हम सबकी आंखें भीगी हुई थीं, तमाशा देखने भी अड़ोस-पड़ोस के लोग इकट्ठा हो गए थे। शेख़ साहेब हवाई अड्डे तक छोड़ गए और फिर उसी तांगे में वापस शहर लौट गए।' बाउजी लगातार बोलते रहे।

चाय ख़त्म हो गई थी, दीन मुहम्मद ने ख़ाली गिलास तश्तरी में रखा, इजाज़त ली और जाने लगा, जाते-जाते रुक गया फिर भर्राई हुई आवाज़ में बोला, 'एक बात पूछूं?' फ़रमाइए, बाउजी ने संजीदा होकर कहा।

'आप लोगों को मुसलमानों से कोई शिकायत है?' दीन मुहम्मद ने पूछा, 'मुसलमानों से नहीं सियासतदानों[4] से है।' बाउजी ने जवाब दिया। 'शुक्रिया!' कहता हुआ वो चला गया।

मैंने खिड़की में से बाहर देखा, सड़क के पार रहमत मंज़िल की दूसरी मंज़िल पर दीन मुहम्मद का मकान था, हमारे घर के एकदम सामने। इस घर के आगे एक बालकोनी थी जिस पर दीन मुहम्मद के घर के लोग नज़र आते, नीचे उसकी इत्रीयात की दुकान थी, जिस पर रंग-बिरंगी शीशियां और बोतलें सजी हुई दिखाई देती थीं। उस वक़्त जब दीन मुहम्मद हमारे घर में थे तो दुकान पर उनका ग्यारह बरस का बेटा अमज़द बैठा था। सड़क पर हर वक़्त ट्राम चलती रहती थी। लोगों की गहमा-गहमी, एक अजीब से शोर के बावूजद अगर वो अपनी बालकोनी पर खड़े होकर आवाज़ देते तो दीन मुहम्मद तक पहुंच जाती थी।

14 मार्च, 1951। हमें इस मकान में आए चार बरस हो गए हैं। मेरी उम्र अब सत्तरह बरस हो गई है और अमजद अब पंद्रह बरस का हो गया है! हम दोनों अपने-अपने स्कूल जाते हैं। वो अंजुमने इसलाम हाई स्कूल में दसवीं जमात में पढ़ता है और मैं भवर इंटर कॉलेज में हायर सेंकेंडरी में पढ़ने लगा हूं। दीन मुहम्मद और हमारे घर की औरतों के आपस में बड़े अच्छे ताल्लुक़ात हो गए हैं। हमलोग एक-दूसरे के त्योहारों में शरीक होने लगे हैं। एक-दूसरे के सुख-दुख में साझीदार हो गए हैं।

बेबे की तबीयत कई दिन से ख़राब चल रही है। उसकी दवादारू में बाउजी ने कोई कसर नहीं छोड़ी। दीन मुहम्मद भी एक हकीम साहेब को ले आए थे। उन्होंने देखकर कहा था—'देखें, बीमारी पूछें तो इनको कोई ख़ास नहीं लेकिन बुढ़ापा अपने में ख़ुद एक बीमारी है। बस अब अल्ला से दुआ कीजिए। दवा पर ज़्यादा भरोसा करने की ज़रूरत नहीं।' बाउजी ने ये बात सुनी तो बेएख़्तेयार रोने लगे। दरअसल बाउजी को दादाजी और दादीजी से बेइन्तेहा मुहब्बत थी। दादीजी कहती थीं, जब मेरे दादा की मौत हुई तो कृपाराम बच्चों की तरह बिलख-बिलख कर रोया था। फिर दादीजी की ज़ात बहुत बड़ा सहारा बन गई। मगर उस दिन शाम चार बजे वो सहारा भी टूट गया। बाउजी तो मुंह ढांपकर रोते ही रहे।

बेबे के क्रियाकर्म का सारा इन्तज़ाम हरजीत सिंह और दीन मुहम्मद ने ही किया। दोनों के ख़ानदान बेबे के मुर्दा जिस्म के गिर्द जमा थे। जब सब तैयारियां हो गईं तो मालूम हुआ कि बाउजी को इस शहर की श्मशान भूमि का इल्म नहीं। तब दीन मुहम्मद ने कहा कि चंदन वाड़ी ले चलेंगे। सरकारी स्याह रंग की गाड़ी भी उन्होंने मंगाई। इसी में लाश के साथ कुछ लोग बैठ गए, जिनमें दीन मुहम्मद, हरजीत सिंह और एक-दो पड़ोसी भी बाउजी के साथ बैठ गए। मैं भी साथ ही था। मैंने अपनी ज़िंदगी में पहली दफ़ा दाहकरम संस्कार देखा था। बाउजी के साथ मैं भी खूब रोया था।

4. नीतिज्ञ

इस दौरान हमारा कारोबार काफ़ी अच्छा हो गया था। दीन मुहम्मद के मशवरे से ही बाउजी ने छोटे बच्चों के फ्रॉक, बुश्शर्ट और नेकर बनाने का एक छोटा सा कारख़ाना खोल लिया था जहां से माकूल आमदनी होने लगी थी। घर में हर तरह का सामान और फ़र्नीचर आ गया था, फिर एक दिन दीन मुहम्मद कहने लगे, 'भाई कृपाराम तेरा लड़का तो पहले ही बी ए पास कर चुका है और मेरे लड़के अमजद ने इस साल बी ए पास किया है। अगर तुम्हें कोई एतराज़ न हो तो मैं भी कुछ रुपए लगा देता हूं। अमजद भी तुम्हारे बेटे के साथ रेडीमेड का काम शिरकत में करने लगे।'

बाउजी हंसने लगे। बोले, 'भाई साहेब क्या बात करते हो, ये पौधा तो आप ही का लगाया हुआ है। रुपए लगाने की क्या ज़रूरत है। अमजद के बाजू मेरे बच्चे के साथ हों तो कारोबार को और चार चांद लग जाएंगे। बस आज ही से शुभारंभ हो जाए।'

फिर एक-दूसरे के गले मिले। अमजद का शामिल होना बहुत नेक फ़ाल साबित हुआ। कारोबार दिन दुगनी रात चौगुनी तरक्क़ी करने लगा। मदनपुरा ही में चार जगह मशीनें लग गईं। कपड़े दिल्ली और अमृतसर तक जाने लगे। यूपी के ब्योपारी हफ़्ता-हफ़्ता भर माल के लिए बैठे राह देखते रहते।

अब हमें मालूम हुआ कि दीन मुहम्मद की अमजद के अलावा तीन बेटियां भी हैं। बारी-बारी उनकी शादियां होने लगीं और फिर गुड्डी की बारी आ गई। बड़ी धूमधाम से उसकी शादी हुई। हमारा दामाद पूना में ट्रान्सपोर्ट का कारोबार करता था। मंगनी हुई तो दूल्हा के वालिद निहाल चंद के गले में दीन मुहम्मद ने हार डाला और उनके गले में निहाल चंद ने। फिर समधी के हाथ में दीन मुहम्मद ने शगुन रखा और दोनों बग़लगीर हो गए। लोगों ने ख़ुशी से नारे लगाए और उन पर फूल वर्षा भी की। निहाल चंद भी बहुत ख़ुश हुआ, 'जब आप लोगों के कार्ड में एक मुसलमान का नाम देखा तो कुछ हैरानी हुई। अब ये मुअम्मा हल हुआ कि असल समधी तो आप ही हैं।'

शादी के बाद जब गुड्डी और उसका ख़ाविंद नरेंद्र फेरा डालने आए तो उनकी दावत दीन मुहम्मद के घर पर ही की गई। इसी दौरान मेरी और अमजद की शादी हो गई। अमजद की शादी पर एक अज़ीब वाक़ेआ हुआ। बाउजी घोड़ी के आगे-आगे बारात के साथ नाच रहे थे कि अचानक उन पर दिल का दौरा पड़ा। उसी वक़्त उनको जे जे अस्पताल पहुंचाया गया, मां उनकी देखभाल के लिए वहां रह गई। इधर हम निक़ाह की मसरूफ़ियात में लगे रहे। फिर अमजद की दुल्हन फ़िरोजा की डोली घर पर आई। तब मैं और दीन मुहम्मद बाउजी को देखने अस्पताल गए। मां वहां बरामदे में एक बेंच पर निढाल बैठी थी। उसका चेहरा बिलकुल वीरान था। आंखें क़दरे फैल गई थीं। वो एकटक एक बंद कमरे की तरफ़ देखे जा रही थी।

'कैसे हैं बाउजी?' दीन मुहम्मद ने बेएख़्तियार पूछा। मां ने ज़रा सी नज़रें उठाईं, दीन मुहम्मद के चेहरे पर देखा। अपना दायां हाथ मेरे कन्धे पर रखा और फिर भरी हुई आवाज़ में पूछा, 'मेरी बहू की डोली घर पर आ गई?'

'जी हां सब काम अल्ला के फ़ज़लो करम से बख़ूबी सर-अंजाम[5] पा गया है। भाभी जान आपकी दुआ है। कहां हैं बाउजी?' मां ने आंखें उठाकर बंद कमरे की तरफ़ देखा। मैंने और दीन मुहम्मद ने अपनी नज़रें कमरे पर गाड़ दीं। उसके ऊपर एक जगह तख़्ती लगी थी 'मुरदा घर', और इसके साथ ही मां

5. पूरा हुआ

की दहाड़ सुनाई दी। दीन मुहम्मद ने मां को सहारा दिया और उसका सर अपने सीने से लगाकर हाथ फिराते हुए सिसकने लगा। मैं भी अपने आंसू रोक न सका।

13 अगस्त, 1957। बंबई की सड़कें भींगी हुई हैं। जून के महीने में यहां बरसात शुरू हो जाती है, जो सितंबर के वस्त[6] तक रहती है। कभी तेज़ कभी धीमी। फिर भी ज़िंदगी अपने मामूल से चलती रहती है। कारोबार क़दरे कम हो जाता है। हमारी फैक्ट्री के बेशतर कारीगर जो अमूमन अमरोहा, बाराबंकी, सुल्तानपुर, गोरखपुर और फर्रूख़ाबाद अज़ला के देहातों के रहनेवाले होते हैं, अपने-अपने गांव छुट्टियां मनाने चले जाते हैं। ऐसे में अमजद भी कभी कभार अपनी बीवी और दोनों बच्चों इम्तियाज़ और राहेबा को लेकर कहीं घूमने चला जाता है। इस दौरान में दीन मुहम्मद और अमजद की वालिदा हज भी कर आए हैं। वो बहुत ख़ुश हैं और अकसर कहते हैं कि ये सआदत[7] उनको मेरी वज़ह से नसीब हुई है। बात सिर्फ़ इतनी है कि मैंने ही उन पर ज़ोर दिया था कि वो ये फ़रीज़ा अदा कर आएं। मैंने और अमजद ने फैक्ट्री में से उनको चालीस हज़ार रुपया निकाल कर दिया था। दीन मुहम्मद कहने लगे, 'भई बड़ी बात है। जवान बेटियों ने सारी ज़िम्मेदारी अपने सर ले ली है। वरना इस अतारी से इतनी रक़म निकलना मुश्किल था।'

13 अगस्त 1957 को मेरी शादी हो गई। शारदा हमारे दिल्ली के एक ब्योपारी की बेटी है। इसके पिता इक़बाल चंद अक्सर हमसे माल लेने आते थे। हुसने सुलूक हमारी कंपनी का शेवा था। जाने उनके मन में क्या समाई कि उन्होंने अमजद से मेरे रिश्ते की बात छेड़ दी। अमजद ने जवाब दिया, 'लालाजी ये बात तो आपको अब्बाजान से करनी होगी।' लिहाज़ा इक़बाल चंद शाम को दीन मुहम्मद के पास पहुंचे। बात की तो दीन मुहम्मद ने कहा, 'लालाजी, अमजद मुझे बता चुका है कि आप तशरीफ़ लाने वाले हैं। हां-ना तो मैंने ही करना है लेकिन शीलावन्ती भाभी को अपनी लड़की दिखा दीजिए।'

मामला तै हो गया और पंद्रह दिन के बाद इक़बाल चंद, शारदा, शारदा की मां, शारदा का बड़ा भाई महेंद्रनाथ आ धमके। पहले वो एक दरमियाना दरजे के होटल में उतरे, फिर दीन मुहम्मद ने उन्हें कहा कि वो उनके घर के एक कमरे में आकर रहें।

दीन मुहम्मद उन्हें लेकर मेरी मां के पास आया। लड़की सबको पसंद आ गई। घर-बार भी अच्छा था। इक़बाल चंद बड़े ही शरीफ़ और ईमानदार व्योपारी थे। हमारे यहां से कपड़े ले जाकर थोक व्यापार करते थे। सब मामला तै हो गया, और मेरी मां ने शगुन अमजद की वालदा की झोली में डलवा दिया। अमजद की वालदा ने मेरा और शारदा का माथा चूमा। उनकी आंखें भीग गईं, कहने लगीं, 'काश! आज भाई साहिब मौजूद होते।'

एक महीने के बाद हम बारात लेकर दिल्ली गए। शारदा के मां-बाप ने बारात की ख़ूब आवभगत की। सब ख़ुश थे। डोली जब वीटी स्टेशन पहुंची तो तै पाया कि दूल्हा दुल्हन पहले दीन मुहम्मद के घर जाएंगे और रसमें वहीं अंजाम पाएंगी। हमारे घरों के ईद-गिर्द रहनेवाले सभी लोग बहुत ख़ुश थे सब बढ़-चढ़कर शगुन डालने आए। क़रीबन चौबीस हज़ार रुपया शगुन का बना। अजमद की वालदा ने वो सारा रुपया मेरी मां की झोली में डालते हुए कहा, 'बहन शीलावन्ती याद है अमजद की बीवी की झोली में सिर्फ़ सोलह हज़ार रुपया पड़ा था और अब शारदा की झोली में चौबीस हज़ार।'

---

6. आधे; 7. सौभाग्य

मेरी मां ने कहा, 'जी नहीं इसमें वो रुपया भी तो शामिल है। जो अपने, भाई साहिब ने, अमजद ने और अमजद की बीवी ने डाला है। आपने हमसे चार गुना डाला इसलिए इतना हुआ। अब मेरी तरफ़ से अमजद के दोनों बच्चों को पांच-पांच हज़ार रुपए दीजिए। ये उनके ताऊ की तरफ़ से शादी पर तोहफ़ा है।' सब हंसने लगे।

31 मार्च, 1964 : मैं नाश्ता करके मदनपुरा फैक्ट्री को जाने की तैयारी कर रहा था। अमजद थोड़ी देर पहले निकल गया था। और जाते हुए कह गया था कि अब्बाजान की तबीयत ठीक नहीं है। आते हुए ज़रा देख आऊं।

ठीक है तुम फिकर न करो, मैंने जवाब दिया था। मैं तैयार होते हुए बार-बार सामने वाले घर की बालकोनी की तरफ़ देखता था। अचानक मैंने देखा कि दीन मुहम्मद बालकोनी में आए हैं। उन्होंने हसवे मामूल मुझे पुकारा था और कुछ कहा था। मैं बहुत हैरान हुआ कि उनकी आवाज़ मुझ तक नहीं पहुंच पा रही है। हमारे घर की कोई बालकोनी न थी। एक खिड़की थी जिसमें से दीन मुहम्मद का घर आसानी से नज़र आ जाता था। उनकी आवाज़ हम तक पहुंच जाती थी और हमारी बात वो सुन लेते थे। मगर आज उनकी आवाज़ हम तक न पहुंच रही थी। बाज़ार में शोर बहुत था और हमारी आवाज़ उस शोर में गुम हो जाती थी।

मैंने खिड़की की सलाख़ों में से नीचे झांककर देखा। सड़क पर ट्राम दनदनाती फिर रही थी। उसके पहियों और रेल की पटरियों पर चलने से बड़ा शोर उठ रहा था। बाज़ार में भीड़भाड़ भी बढ़ गई थी। फुटपाथ पर कई जगह भाकड़े बन गए थे। सड़क पर मोटर कारें, बसें, और लोगों के लेन-देन का हंगामा बहुत बढ़ गया था। इसी वजह से आवाज़ें एक-दूसरे तक नहीं पहुंच रही थीं। मैंने दीन मुहम्मद को इशारा किया कि मैं आता हूं।

मैं फैक्ट्री जाने से पहले उनके घर गया। उनको बताया कि अज़ीब इत्तेफ़ाक है कि आज मैं उनकी आवाज़ ही नहीं सुन सका। वो बोले, 'हां कुछ ऐसा ही है, मेरी आवाज, भी कमज़ोर हो गई है और सड़क पर भी शोर बढ़ गया है।' 'हूं' मैंने जवाबन आवाज़ निकाली। फिर उन्होंने कहा कि अचानक दिल की धड़कन बढ़ गई है और जिस्म में नक़ाहत[8] महसूस हो रही है। जाते हुए हकीम अवदुर्रशीद से कोई दवा मक़वी-ए-दिल[9] और मुफ़र्रा लेकर देता जाऊं। एक दिन आराम करने से वो ठीक हो जाएंगे। अमजद को वो कह नहीं सके।

उसी रात को वो दस बजे ट्राम सर्विस बंद कर दी गई थी। गोया हुकूमत को एहसास हो गया था कि शोर-शराबा बहुत बढ़ गया है। और ट्राम सर्विस ट्रैफ़िक के लिए रुकावट बन रही है। रात दस बजे से सड़क पर ट्राम की टनटनाहट ख़त्म हो गई। आख़री ट्राम ख़ुदादाद सरकिल के डीपू में दाख़िल हुई ओर फिर कभी बाहर न आई।

अगली सुबह लगा शोर कुछ कम हो गया है। मैंने खिड़की में खड़े होकर सामने बालकोनी की तरफ़ देखा। दीन मुहम्मद आराम कुर्सी पर बैठे इंक़लाब अख़वार पढ़ रहे थे। फिर मैंने आवाज़ लगाई, 'अब तबीयत कैसी है अब्बू?'

'अल्ला का फ़ज़्ल है बेटा, उसने बड़ा करम किया है बड़ा इफ़ाक़ा[10] है।' दीन मुहम्मद ने हाथ उठाकर

8. कमज़ोरी; 9. दिल को शक्ति तथा ताज़गी देनेवाली; 10. मर्ज में कभी होना

क़दरे ऊंची आवाज़ में जवाब दिया। फिर अमजद क़मीज़ पहनता हुआ दिखाई दिया। मैंने फिर आवाज़ लगाई, 'अमजद निकल रहे हो ना?'

'हां भाईजान, चलिए आज सूरत से व्योपारी कपड़ों के सेम्पल लेकर आ रहा है ना।' 'बस तुम उतरो, मैं भी आ रहा हूं' मैंने कहा, और मां के चरन छूने के लिए लपका। शारदा देहलीज़ पर खड़ी मुंतज़र थी। मैंने सीढ़ी की तरफ़ जाते हुए उसका हाथ ज़रा सा दबा दिया। वो खिल उठी।

सड़क पर हम दोनों एक साथ उतरे। सड़क के बीचोबीच एक हदवंदी बना दी गई थी जो तीन फिट ऊंची दीवार की सूरत में थी। उसे फलांगना मुश्किल हो गया था। लिहाज़ा अमजद अपने घर के नीचे वाले फुटपाथ पर और मैं अपने घर के नीचेवाले फुटपाथ पर चलता हुआ जे जे अस्पतालवाले चौराहे की तरफ़ बढ़ने गले। बीच-बीच में हम एक-दूसरे की तरफ़ देख भी लेते और हल्का सा मुस्करा भी देते। फिर अचानक महसूस हुआ कि सड़क पर बेइन्तेहा भीड़ हो गई। बला का शोर है, बसें, मोटरें, ठेले, आदमी, मुसलमान, हिंदू...।

जे जे अस्पताल के चौराहे पर हम दोनों मिल गए और फिर मिलकर मदनपुरा की तरफ़ रवाना हुए। कारख़ाने में टेलीफ़ोन लग गया था, सूरतवाले व्योपारी के सेम्पल मेंने, अमजद ने और हमारे मास्टर ने जो कपड़ा काटता था पसंद किए, उसी वक़्त तै कर लिया था कि कौन सा डिज़ाइन बनेगा और कौन-कौन से रंग का कंबीनेशन होगा। काम से फारिग़ हुए तो चाय पीने लगे। मशीनें अपनी मख़सूस आवाज़ें पैदा कर रही थीं। मैंने महसूस किया कि हम चूंकि इन आवाज़ों के आदी हो चुके हैं इसलिए मामूल के मुताबिक़ बोल रहे थे। लेकिन सूरत से आया हुआ व्योपारी क़दरे ऊंची आवाज़ में बोलता था।

इसी सूरतेहाल में अचानक टेलीफ़ोन की घंटी बजी। मैंने और अमजद ने इंस्ट्रूमेंट की तरफ़ देखा। फिर अमज़द ने रिसीवर उठाकर आहिस्ता से कहा, 'हैलो!' कुछ सुना, फिर कहा, 'बोल रहा हूं आएशा, बोल!' और फिर वो कुछ घबरा सा गया लेकिन सुबह तो...वो बोला 'अच्छा आता हूं...' फिर उस तरफ़ से कुछ कहा गया, जिसका जवाब उसने दिया, 'अच्छा साथ लेकर आता हूं।' और फिर रिसीवर किरेडिल पर रख दिया। फोन उसकी बहन ने किया था।

मैंने क़दरे घबराकर पूछा 'क्या है?' 'अब्बू की तबीयत एकाएक बिगड़ गई है।' उसने जवाब दिया, 'आएशा का नीचे पड़ोस वाली दुकान से फ़ोन था। 'मैं चलूं तुम्हारे साथ?' मैंने पूछा।

'नहीं आप काम देखें, मैं होकर आता हूं। हकीम साहिब को साथ ले जाना है।' वो बोला और उठकर जूता पहनता हुआ नज़रों से ओझल हो गया।

शाम को जब मैं कारख़ाना बंद कर रहा था, तब अमजद का फ़ोन आया। उसने बताया कि अब्बू को जे जे अस्पताल ले आए हैं। मैं भी सीधा अस्पताल ही पहुंचा। वहां दीन मुहम्मद को आई. सी. यू. में रखा गया था। उनकी सांसें रुक-रुककर चल रही थीं और बाएं बाजू में शदीद दर्द था। हकीम साहिब ने ही अस्पताल ले जाने का मशविरा दिया था। वहां अमजद की वालदा और मेरी मां पहले ही मौजूद थीं। मैं भी जाकर बरामदे में उनके साथ खड़ा हो गया और नतीजे का इन्तेज़ार करने लगा।

रात नौ बजे के क़रीब डॉक्टर ने बताया कि उन्हें एक रूम में लाया गया है। तबीयत कुछ बेहतर है। वो आप लोगों को देखना चाहते हैं। हम सब अंदर गए। मुझे और अमजद को देखकर उनकी आंखों में जैसे चमक आ गई। फिर उन्होंने अमजद की वालदा के हाथ पर आहिस्ता से अपना हाथ रख दिया और मेरी वालदा की तरफ़ देखकर आहिस्ता से बोले—'भाभी जान, भाई कृपाराम के नाम कोई पैगाम...?'

हम सब सन्नाटे में आ गए, इतनी भी हिम्मत न थी कि नज़रें उठाकर एक-दूसरे की तरफ़ देख सकें या अपने हलक़ में फंसी हुई सांस को छोड़ सकें। फिर आहिस्ता से किसी के बड़बड़ाने की आवाज़ सुनाई दी।

'लाइलाहा इलल्लाह...'

हमें दीन मुहम्मद की रूह क़फ़से उनसरी से परवाज़ करती हुई साफ़ महसूस हुई थी। इसके बाद हम एक-दूसरे की बांहों में डूब गए और दिल खोलकर रोने लगे।

3 नवंबर 1972 : हिंदुस्तान और पाकिस्तान के दरमियान शिमला समझौते के बाद आमदोरफ़्त बढ़ गई थी। अमजद के कई अज़ीज, पाकिस्तान से आने लगे थे। मैं और मां इस टोह में रहते कि कोई लायलपुर से आए तो उससे पूछें कि अब हमारा शहर कैसा है? उनके कई अज़ीज़ों का खाना हमारे घर किया जाता। हम दोनों के घरों में भी अब टेलीफ़ोन लग गए थे। जब कोई बात बालकनी पर से न की जा सकती तो फ़ौरन टेलीफ़ोन कर लिया जाता।

हर बरस नौरात्रों का व्रत रखना, बेबे ही के वक़्त से चला आ रहा था। दसमी वाले दिन व्रत खोला जाता और कनजिकें बिठाई जातीं। उस दिन छोटी बच्चियों को देवी माता का रूप मानकर उनका पूजन होता। उनके पांव धोए जाते। दाएं, बाजू पर मूली का गट्टा बांधा जाता, माथे पर सिंदूर का तिलक लगाया जाता और फिर उनको पैसे, पूरियां, काले चने का सालन और हलवा प्रसाद के तौर पर दिया जाता।

मुहम्मद अली रोड पर ज़्यादातर आबादी मुसलमानों की थी। छोटी बच्चियों का मिलना महाल था जिनकी पूजा की जा सकती। मालूम हुआ कि दूर का मेकर स्ट्रीट है। इसमें एक हंसराज बिल्डिंग है जिसमें एक-दो घर हिंदुओं के हैं। मांजी ने वहां रस्मोराह पैदा कर ली थी। लिहाजा दसमी को बुलावा भेजा जाता। वहां से दो छोटी बच्चियां आ जातीं। बाउजी ने दीन मुहम्मद से दरख्वास्त की थी। 'वो बुरा न मानें तो अपनी बच्चियों को कंजलों पर भेज दिया करें।' दीन मुहम्मद ने सारी बात सुनी फिर सोचा और समझकर कहा, 'कोई मज़ाएक़ा[11] नहीं।'

और फिर नयी ओढ़नियां ओढ़कर वो तीनों बहनें हमारे घर हर दसमी को आने लगीं। यहां क़रीब ही अम्बा देवी का मंदिर है। ये भी आएशा ही ने बताया था और मेरी मां के साथ मंदिर के दरवाज़े तक भी गई थी जहां मेरी मां ने अम्बा देवी को कंजक प्रसाद चढ़ाया था।

अब दीन मुहम्मद नहीं रहे। बेबे और बाउजी भी नहीं रहे। अमजद की तीनों बहनों और मेरी बहन गुड्डी की भी शादी हो चुकी है। और वो सब ख़ुशो-ख़ुर्रम अपने-अपने घर रह रही हैं। दोनों के बाल सफ़ेद हो चुके हैं। चेहरों पर झुर्रियां दिखाई देने लगी हैं। उस घर में फ़िरोज़ा और इस घर में शारदा अब औरतें हैं। हमारे बच्चे मिल-जुलकर खेलते हैं। आपस में बैठकर गप-शप करते हैं। कभी-कभी गेट वे आफ़ इंडिया नेशनल पार्क घूमने चले जाते है। अमजद के अभी तक दो ही बच्चे हैं। और मेरे भी दो ही बच्चे हैं। अमजद के पास एम्बेसडर गाड़ी है और मेरे पास फीएट है। ज़िंदगी बड़े मज़े से गुज़र रही है।

एक दिन अमजद ने मुझे कहा, 'भाईजान क्या ख़्याल है, अब्बू की दुकान रिनोवेट (renovate) करवा दी जाए?' 'हां, हां क्यों नहीं, वैसे भी काफी ख़सता हो गई है।' मैंने जवाब दिया। अगले दिन मैंने खिड़की के सामने देखा। सुबह के वक़्त कई कारीगर और मज़दूर दुकान में तोड़-फोड़ कर रहे थे। कारख़ाने जाने

11. हानि

से पहले अमजद उनको सारी बात समझा रहा था कि वो क्या चाहता है।

क़रीबन एक महीना लगा। दीन मुहम्मद की दुकान बिलकुल नई तर्ज़ की हो गई थी। बड़ी उम्दा पालिश की गई अलमारियों के शीशों के पीछे इतरियात से भरी रंग-बिरंगी शीशियां चमकने लगी थीं। एक तरफ़ छोटा सा काउंटर बना दिया गया था जिसके पीछे अमजद का बेटा इमतियाज़ बैठता था। फिर एक मुलाज़िम था जो इन लोगों का क़रीबी रिश्तेदार भी था, मगर उससे इनका सुलूक ऐसा था कि उसे कोई मुलाज़िम नहीं कह सकता था।

दुकान के माथे पर एक नया साइन बोर्ड लग गया था जिस पर लिखा था 'दीन मुहम्मद एंड सन ताजिरान-ए-इत्रीयात'।

12 जून 1984 : ये अज़ीब इत्तेफ़ाक हुआ है कि अमजद की वालदा 12 जून 1984 को वफ़ात पर गईं और मेरी मां 15 जुलाई 1984 को। एक महीने में हम दोनों के घर से बुर्जुगों का साया उठ गया था। मैं और अमजद एक दिन बैठकर खूब रोए। फ़िरोज़ा और शारदा की आंखें भी अरसे तक भीगी रहीं।

दरअसल मेरी बेबे, बाउजी, दीन मुहम्मद, उनकी ऐहलिया[12] और मेरी मां कुछ अलग ही क़िस्म के लोग थे। वो सिर्फ़ ऊंचा सुनते थे, ऊंचा बोलते नहीं थे। घर-बार के सब लोग उनका एहतराम[13] करते थे।

मैंने अमजद से कहा, 'ब्रादर एक दौर ख़त्म हो गया, दूसरा दौर शुरू हुआ है।' 'आप ठीक कहते हैं भाईजान, हमारे बुजुर्ग अपना वक़्त बुरदुबारी से गुज़ार कर गए हैं।' 'क्या तुम महसूस नहीं करते कि हमारी जिम्मेदारियां बढ़ गई हैं।' 'बिलकुल जी अल्लाह करे अपने बुजुर्गों की तरह हम भी सुर्ख़-रू रहें।' 'आमीन...' मैंने जवाब दिया।

6 दिसंबर 1992 : उस दिन काम की बहुत गरदी थी। कानपुर, पटना और बनारस से बहुत बड़े आर्डर थे जो बमुशकिल कल ही सिरे चढ़े थे। इस असना में नई नई मशीनें और कई नये कारीगर रखने पड़े थे। जगह की कमी की वजह से दो कारख़ानों में जिनकी छतें ज़रा ऊंची थीं उनमें नीम छतियां डालकर छः छः मजीद मशीनें लगा दी थीं। हर तरफ़ सिले और अधसिले कपड़ों के ढेर लगे रहते थे। मैं और अमजद अब खाना खाने घर न जाते थे। दोनों घरों से खाना यहां ही आ जाता। वो इतना काफ़ी होता कि मिल मिलाकर दो तीन व्यापारी भी साथ ही खा लेते। हमारी औरतों के हाथों में भी बड़ी बरकत थी। इतनी बिक्री होती कि रुपए शाम को घर ले जाना दुश्वार हो गया था। एक कारख़ाने में लोहे का सेफ़ रखवा दिया था। नोटों से भरकर बमुशकिल सेफ बंद किया जाता। बैंक का आदमी ख़ुद हमारे यहां से कैश लेने आता और पे इन स्लिप भरकर मोहरें लगाकर और दस्तख़त करके दे जाता।

अंदर मशीनें चलती रहतीं। बाहर एक चाय बनानेवाला बिठा दिया था जो दूसरे गाहकों के साथ-साथ हमारे कारीगरों और व्यापारियों के लिए भी चाय बनाता था। उसका काम हमारे कारख़ाने की वजह से काफ़ी चलता था। मशीनें चलने की आवाज़ और स्टोव की आवाज़ मिलकर एक तीसरी ही क़िस्म की आवाज़ बनकर हमारे सिस्टम का हिस्सा बन गई थी।

क़रीबन डेढ़ बजे पड़ोस का नानबाई आया। अपनी कमर पर हाथ रखकर वो एक-दो बार हमारे कारख़ाने के दरवाज़े पर इधर-उधर टहला। वो बड़े 'पुर-असरार[14] अंदाज़ से कभी हमारे कारख़ाने के अंदर

12. पत्नी; 13. सम्मान; 14. भेद भरा

झांकता और कभी इधर-उधर चारों तरफ देखता। फिर अचानक उसकी नज़रें अमजद पर टिक गईं। उसने अपने आपको तैयार किया और एकदम पुकारा, 'अमजद भाई!'

अमजद ने यकदम उसकी तरफ़ देखा। उसने हाथ से बाहर आने का इशारा किया।

'अरे क्या है भाई नूरे?' अमजद ने पूछा। 'जरा बाहर तो अइयो।' उसने सर के इशारे से बुलाते हुए कहा। अमजद पहले तो ज़रा झल्लाया फिर कहने लगा, 'अभी आया भाईजान। जाने क्या कहना चाहता है?' और बाहर की तरफ़ लपका। मैंने दिल ही में सोचा, पैसे मांगता होगा। है तो ऐसा ही आदमी, जुए में कुछ हार गया होगा। फिर मैंने बाहर की तरफ़ देखा तो वहां नूरा, अमजद को कुछ बड़े ही राज़ की बात बता रहा था। उसके चेहरे के तास्सुरात[15] बड़े ही अज़ीब थे। अमजद इन्तेहाई गौर से उसकी बात सुन रहा था। और उसका चेहरा भी फ़क़ हो गया था।

फिर अमजद तेज़ी से अंदर आया। नूरा दरवाज़े के फ्रेम में से गायब हो गया था। अमजद ने आहिस्ता से कहा, 'भाई जान कारख़ाना बंद करके घर चलते हैं। मामला बिगड़ गया है।' 'क्यों हुआ क्या? बताओ तो सही!' मैंने पूछा। 'रास्ते में बताऊंगा' उसने जवाब दिया। और मुंशीजी से कहा कि सेफ़ में से सारा रुपया निकालकर थैले में डाल दें। मुंशी जी घबराए हुए उठे और उसकी हिदायत पर अमल करने लगे। अमजद अंदर गया औा कारीगरों से काम बंद कर देने को कहा। सारी मशीनें यकदम ख़ामोश हो गईं और फिर कुछ कहे सुने बगैर बाहर जलता हुआ चाय बनानेवाले का स्टोव भी सर्द पड़ गया। मेरे देखते ही देखते सब कारीगर अपनी-अपनी क़मीज पहनते हुए बाहर आ गए। मुंशी जी ने रुपयों से भरा थैला लाकर अमजद को दिया। अमजद ने वो थैला मेरी तरफ़ बढ़ाया और कहा भाईजान ये संभाल लो। मैंने थैला पकड़ा और हैरानी से ये सारा अमल देखता रहा। आनन-फानन सारे कारख़ानों के दरवाजे बंद करके ताले लगा दिए गए। अमजद ने सबको ख़ुदा हाफ़िज कहा और साथ ही हिदायत की, 'हमारे और भाई जान के घर फोन करके हालात के बारे में पूछ लें।' फिर एकाएक कई आवाज़े उभरीं, 'ख़ुदा हाफ़िज-ख़ुदा हाफ़िज़।'

मैं और अमज़द तेज़ी से घर की तरफ़ लपके। मुहम्मद अली रोड पर आकर मैंने पूछा आख़िर बताओ तो क्या हुआ है? अमजद ने इधर-उधर देखा। सारे माहौल पर एक सरासीमी[16] सी छा गई थी। लोग मामूल की रफ़्तार से कहीं ज़्यादा तेज़ी से आ-जा रहे थे। बसें आहिस्ता-आहिस्ता रेंगने लगी थीं। सड़क पर भीड़ एकदम बहुत ज़्यादा हो गई थी। फिर धीरे-धीरे छंटने लगी थी। फिर मेरे चेहरे पर उसकी नज़रें जम गई थीं। उसने मेरा हाथ पकड़ा। जे जे अस्पताल के चौराहे की तरफ़ मुझे क़रीबन घसीट लिया। और मेरे कान के क़रीब मुंह लाकर गहरी सांस ली और फिर बोला, 'भाईजान।' वो रुक गया। मैंने अपनी नज़रें जिनमें हज़ारों सवाल थे उसके चेहरे पर जमा दीं। वो बोला, 'वो बात ये है कि अयोध्या में बाबरी मस्ज़िद मुनहदिम[17] कर दी गई है। लोगों में बड़ा ग़मो-गुस्सा है। मालूम नहीं क्या होनेवाला है।'

मैं तो जैसे धक से रह गया। ऐसे लगा जैसे मेरे अंदर कई बम एक साथ फ़ट पड़े हैं। हम आज फुटपाथों पर चलने के बजाय सड़क को बांटनेवाली दीवार के साथ-साथ चल रहे थे। उसने मेरा हाथ पकड़ रखा था और मैंने उसका। हम दोनों ख़ामोश थे। साथ-साथ चल रहे थे और हमारे बीच में डिवाइडर था। जब हम अपने-अपने घर के सामने पहुंचे तो मैंने रुपयों से भरा थैला उसकी तरफ़ बढ़ाया, मगर उसने

15. भाव; 16. विकलता, भौंचक्कापन; 17. गिरा दी गई

कहा—'नहीं इसे अपने पास रखिए। हमको जल्दी यहां से घर जाना चाहिए। अच्छा, ख़ुदा हाफ़िज़।'

मैंने बग़ैर कुछ कहे उसका हाथ ज़ोर से दबा दिया। हमारे चेहरे किसी क़िस्म के तासुरात से बिलकुल आरी थे। हम घर पहुंचे। बाज़ार की दुकानें एक-एक करके बंद होने लगीं। लोग भागने लगे। दूर कहीं से धमाकों की आवाज़ें आने लगीं। गोलियां चलने की आवाज़ें बराबर आ रही थीं। कर्फ़्यू का ऐलान हो गया था। कोई बाहर नज़र नहीं आ रहा था। मैंने खिड़की में से देखा सामनेवाली बालकोनी पर अमजद आरामकुर्सी पर बैठा अख़बार पढ़ रहा था। उस बालकोनी के नीचे बाज़ार में दुकान थी जिस पर साइन बोर्ड लगा था-दीन मुहम्मद एंड़ सन ताजिरात-ए-इत्रीयात। सड़क वीरान हो चुकी थी और उनकी दुकान बंद थी।

फिर रात हो गई। सड़क पर जगह-जगह पुलिस के सिपाही तैनात थे। वो रात हम सबने आंखों-आंखों में गुज़ारी थी। रात कई बार हमारे टेलीफ़ोन की घंटी बजी। उधर अमजद या उसके घर का कोई फ़र्द बात कर रहा होता। हमने भी कई बार उनके घर फ़ोन किया और ख़ैर ख़ैरियत मालूम करते रहे और फिर रात का आख़री पहर। सारे में मुकम्मल ख़ामोशी। सड़कों की बत्तियां रोशन थीं लेकिन उनकी रोशनी बहुत मद्धम थी। कर्फ़्यू बदस्तूर लगा था। कोई आवाज़ न थी। ऐसे में बालकनी से अजमद मुझे पुकार सकता था और मैं अपनी खिड़की से उसे। लेकिन ऐसा करने की कूब्बत शायद हम दोनों के जिस्म में न थी। सुबह हुई तो मालूम हुआ कि कर्फ़्यू अब तक लगा हुआ है। दूर जे जे अस्पताल के चौराहे पर एक लाश सड़क पर पड़ी थी जिसे उठाने के लिए कोई इन्तेज़ाम न था, कुदरती था। हमारे अंदर सवाल पैदा हुआ कि ये पता किया जाए कि ये लाश किसकी है? किसी हिंदू या मुसलमान की?

मैंने खिड़की में से पुकारना चाहा मगर अज़ीब इत्तेफ़ाक़ था कि सन्नाटा होने के बावजूद मेरी आवाज़ सड़क पार अमजद के घर की बालकोनी तक नहीं पहुंच पा रही थी। मेरे घरवाले सब मेरे इर्द-गिर्द खड़े होकर आवाज़ की नारसाई[18] पर दम-बख़ुद[19] थे और उधर मैंने देखा कि अमज़द भी हमें पुकारने की कोशिश कर रहा था। उसके घरवाले भी हैरान-परेशान उसके क़रीब खड़े थे। सोचते होंगे कि कभी इसी बालकोनी से दीन मुहम्मद मेरे वालिद को पुकारा करते थे और मेरे वालिद कृपाराम उनकी बात का जवाब बखूबी देते थे। मगर आज हमारी इस नस्ल की आवाज़ एक-दूसरे तक नहीं पहुंच पा रही है। लाश अभी तक जे जे अस्पताल के चौराहे पर पड़ी थी। आख़िर मज़बूर होकर मैंने टेलीफ़ोन का रिसीवर उठाया। अमज़द के घर के नंबर डायल किए। थोड़ा सा इतरेआश हुआ, फिर एक औरत की बड़ी ही मीठी आवाज़ सुनाई दी—

'इस रूट की सभी लाइनें व्यस्त हैं, कृपया थोड़ी देर के बाद फ़ोन करें, धन्यवाद।'

18. न पहुंचाना; 19. चकित

अली मंज़िल

अवधेश प्रीत

'अली मंज़िल' के आखिरी वारिस जनाब मंज़ूर अली की उम्र सत्तर पार पहुंच चुकी थी। सिर-दाढ़ी के बाल सन जैसे सफेद हो चुके थे। आंखों पर पावर के चश्मे के बावजूद रोशनी धुंधली पड़ चुकी थी। दूर की चीज़ों को पहचानना निहायत मुश्किल काम था उनके लिए। अलबत्ता नजदीक की चीज़ें वह फौरन पहचान लेते थे। हाथ भी कांपने लगे थे। चलते तो छड़ी तक थरथराती थी। ज़्यादातर बाहर बरामदे में बैठे-बैठे लोगों को आते-जाते देखते रहते : लोग राम-सलाम करते तो वह आवाज़ पहचान कर राम-सलाम करनेवाले का नाम लेकर हाल-चाल पूछते। ढेरों दुआएं देते और तस्बीह के दाने फेरते हुए अल्लाह की रहमत लेने की नसीहत देते। लोग उनके अकेलेपन पर मन-ही-मन अफसोस करते हुए खैरियत पूछते, 'कैसे हैं बड़े मियां?'

जनाब मंज़ूर अली आंखें मिचमिचाते सामने वाले को भरपूर निगाहों से देखने की कोशिश करते, फिर दोनों हाथ हवा में उठाकर कहते, 'हमारी क्या पूछते हो मियां... हम तो पके हुए आम हैं... किसी दिन भी ख़ुदा का बुलावा आ सकता है...।'

बात पूरी होते न होते जनाब मंज़ूर अली की सांसें फूलने लगतीं। सीने में जमा कफ़ घर्र-घर्र बज उठता... रमजान मियां दौड़कर आते और उनकी पीठ मलने लगते। धीरे-धीरे सांसें सामान्य होतीं और वह गीली हो आई आंखों को पोंछते हुए रमजान मियां को टोकते, 'मियां, अभी तक चाय नहीं मिली।'

रमजान मियां सिर झुकाए चुपचाप अंदर चले जाते और लौटते तो चाय से भरा गिलास उनके हाथ में होता। जनाब मंज़ूर अली रमजान मियां की ख़ामोशी का मतलब समझ जाते। चाय की एकाध घूंट सुड़कने के बाद रमजान मियां को झिड़की देते, 'मियां, अब बहन-बहनोई ने इतने प्यार से बुलाया है तो न कैसे कर दूं...? उसका भरा-पूरा कुनबा है, सभी चाहते हैं मुझे, फिर रजिया मुझसे छोटी है...मुझे बाप की तरह मानती है।'

यकायक जनाब मंज़ूर अली छोटी बहन रजिया की याद में गोते लगाने लग जाते हैं। उनकी आंखों के सामने गुड़िया-सी प्यारी रजिया की शक्ल उभर आती है...अब्बा की मौत के बाद उन्होंने रजिया को बाप-सा प्यार दिया...उसकी शादी के लिए एक से एक लड़के देखे, कोई पसंद नहीं आया.... अम्मा झुंझलाते हुए कहतीं...मंज़ूर, लड़का नहीं शाहजादा ढूंढ़ रहा है, शाहजादा...। सचमुच, शाहजादा ही ढूंढ़ा था उन्होंने। गोरे-चिट्टे, लंबे-तगड़े खुरशीद मियां कराची के नबाव अमजद अली के लख़्ते-जिगर थे..

.रिश्ता तय पाया गया था। और जनाब मंज़ूर अली ने इस धूम-धाम से बहन की शादी की थी, कि लोग वर्षों तक याद करते रहे थे।

यादों के रेले में डूबते-उतराते हुए जैसे मंज़ूर अली को कुछ याद आया, 'रमजान मियां, आज कितनी तारीख़ है?'

'तेरह!' रमजान मियां ने जैसे एक-दिन दिन जोड़ रखा हो।

'मतलब यह कि अगले जुम्मे तक खुरशीद मियां तशरीफ ले आवेंगे।' जनाब मंज़ूर अली अनुमान लगाकर हुलस पड़े।

'हां...!' भरी हुई आवाज़ में रमजान मियां ने हामी भरी।

और जिस दिन खुरशीद मियां पाकिस्तान से यहां आए रमजान मियां ने उनकी खातिर-तवज्जो में जी-जान लगा दी। जनाब मंज़ूर अली भी बहनोई के आने से बेहद खुश थे। लेकिन यह ख़ुशी तब टीस में बदल गई, जब खुरशीद मियां ने उन्हें समझाते हुए कहा, 'भाई जान, आपकी उम्र काफी हो गई है... तबीयत भी ठीक नहीं रहती... ऐसे में आपका यहां अकेले रहना ठीक नहीं है...वहां उतनी दूर से यहां हिंदुस्तान बार-बार आना मुमकिन नहीं है... बेहतर यही होगा कि यह मकान-जायदाद बेचकर आप मुस्तकिल तौर पर वहीं हमारे पास रहें...रजिया की मंशा भी यही है...।'

भीतर तक हिल गए थे जनाब मंज़ूर अली। काफी देर तक सन्नाटे में डूबे रहे। बाद में एक-दो हमउम्र दोस्तों ने उन्हें सलाह दी कि अपने पीछे जायदाद छोड़कर कहीं जाने का जमाना नहीं है...जाना हो तो बेचकर ही जाइए...हाथ में पैसे रहेंगे तो बहन-बहनोई पर बोझ नहीं रहिएगा। बात जंची थी। भीगे मन से उन्होंने अपने दोस्तों से ही कोई खरीददार तलाशने की ताकीद की।

खरीददार तलाशने में ज़्यादा दिक्कत नहीं हुई। जनाब मंज़ूर अली के मरहूम दोस्त राम प्रसाद के बेटे दयाल बाबू ख़बर पाते ही आ धमके। दयाल बाबू जनाब मंज़ूर अली की बाप की तरह ही इज्जत करते थे। एक नेक बंदे को मकान बेचने की जनाब मंज़ूर अली की मंशा पूरी हुई थी। बगैर हील-हुज्जत के सौदा पक्का हो गया था। उन्होंने सारे कागजात पर दस्तख़त करते हुए दयाल बाबू से गुजारिश की, 'मियां, दो-चार दिन और रहूंगा इस मकान में...।'

दयाल बाबू ने भाव-विह्वल हो उनकी बात काट दी, 'चाचा, ऐसा क्यों बोलते हैं...? जब तक इच्छा हो रहिए... मुझे कोई जल्दी नहीं है।'

रुख़सती के दिन, जिस वक़्त जनाब मंज़ूर अली ने दयाल बाबू को 'अली मंज़िल' की चाभी सौंपी, उनका कांपता हुआ हाथ बुरी तरह थरथरा रहा था। आंखें पनीली हो आई थीं। दयाल बाबू ने अपनी दोनों हथेलियों में जनाब मंज़ूर अली के झुर्रीदार हाथ को लेकर भींचा, और उनका हाथ अपनी पीठ पर खींचकर आशीर्वाद लिया। फिर उन्हें सड़क तक विदा करने आए। खुरशीद मियां के साथ उन्हें जाते हुए बड़ी दूर तक देखते रहे। मकान की चाभी उनकी हथेली में भिंची रह गई थी। गोया जनाब मंज़ूर अली का कांपता वजूद हथेली में शेष रह गया हो।

अगले दिन सुबह-सुबह ही दयाल बाबू पत्नी बच्चों को मकान दिखाने के लिए आए। मुख्य सड़क से बाईं ओर घूमी गली में घुसते ही दयाल बबाू उत्तेजना से भर गए। वर्षों की साध पूरी हुई थी। इतने बड़े

शहर की घनी बस्ती में अपना मकान होने की ख़ुशी छलकी पड़ रही थी, 'सब भाग्य की बात है?' दयाल बाबू ने पत्नी को समझाया, 'मकान गली में ज़रूर है, लेकिन सस्ता कितना पड़ा है?'

पत्नी ने आशंका जताई, 'सुना है, बहुत कंजस्टेड इलाका है।'

ठठाकर हंस पड़े दयाल बाबू। उनकी हंसी में एक पूरा मकान भी शामिल था। उन्होंने पत्नी को मीठी-सी झिड़की दी, 'भई, पुराना मुहल्ला है, कंजस्टेड तो होगा ही।'

बड़े बेटे शिवेश ने नाक सिकोड़ी, 'लेकिन पापा, बड़ी गंदगी रहती है इस इलाके में!'

छोटे बेटे ब्रजेश ने तो जैसे ख़ाका ही खींच दिया, 'मुर्गा-मुर्गी...बकरा-बकरी... बजबजाती नालियां. ... किनारों पर बिखरा पाखाना...टाट के पर्दे...।'

'लेकिन तुम्हारी उस कॉलोनी से बेहतर...वहां किसी को किसी से कोई मतलब नहीं। मुहल्लों में लोगों में मुहब्बत होती है।' अनुभवजन्य दलील दी दयाल बाबू ने।

लेकिन गली का नज़ारा देखते ही दोनों बेटों की आंखें मिलीं और वे मुस्कुरा पड़े। बेटी रानी ने भाइयों की मुस्कुराहट को लक्ष्य करते हुए कहा, 'पापा, भइया लोग ठीक ही कहते थे... इधर तो सच में बड़ी गंदगी है।' रानी के स्वर में कॉलोनी के छूटने की पीड़ा थी।

दयाल बाबू ने जैसे कुछ सुना ही न हो, वह तो मुदित मन...सधी चाल... गली के आखिरी सिरे पर खड़े अली मंज़िल पर ही आंखें टिकाए हुए थे।

मकान के बाहरी बरामदे पर रमजान मियां उकड़ू बैठे हुए मिले। दयाल बाबू पर नज़र पड़ते ही उन्होंने अदब से 'आदाब अर्ज' किया। उनकी आवाज़ इस कदर थकी हुई थी मानो मीलों लंबा सफर तय करके वहीं बैठे सुस्ता रहे हों। बड़ी मुश्किल से पूछ पाए, 'बच्चों को मकान दिखाने लाए है, हुज़ूर?'

'हां बड़े मियां!' दयाल बाबू ने अपने पीछे आ रहे पत्नी, बच्चों की ओर इशारा किया, 'सब कुछ इतना आनन-फानन हो गया कि इन लोगों को मकान दिखाने तक का मौका नहीं मिला।'

अधेड़ उम्र रमजान मियां इस वक़्त कुछ ज़्यादा ही बूढ़े लग रहे थे। खिचड़ी दाढ़ी और उनके शरीर में कोई तालमेल नहीं था। दयाल बाबू के परिवार पर नज़र पड़ते ही उनकी आंखों में चमक-सी आ गई। थकान जैसे काफूर हो गई, 'आइए हुज़ूर, आइए! अब यह मकान तो आप ही का है। अर्से से वीरान पड़ा यह मकान अब गुलजार हो जाएगा।'

दयाल बाबू ने जेब से चाभी निकाल ली थी। उन्होंने गौर किया कि बच्चे मकान के बड़े से बरामदे पर खड़े होकर मकान को देखने के बजाय सामने गली के दूसरे मकानों को तजबीज रहे हैं। रमजान मियां ने उन्हें टोका, 'लाइए हुज़ूर, चाभी दीजिए। मैं ताला खोल देता हूं।'

एक अजीब पुलक से भर गए थे रमजान मियां। लगभग जबरन उन्होंने दयाल बाबू के हाथ से चाभी ले ली और मुख्य दरवाजे का ताला खोलते हुए दोनों पल्लों को इस तरह अंदर की ओर ढकेला जैसे उनके बगैर वह दरवाजा खुलता ही नहीं।

मकान के अंदर दाख़िल होते ही दयाल बाबू के बच्चों की आंखें हैरत से फैल गईं—इत्ता बड़ा मकान! रमजान मियां गर्व से फूल गए, गोया मकान नहीं, उनकी तारीफ़ की गई हो। वह जजबाती लहजे में लगभग फूट से पड़े, 'हुज़ूर, मंज़ूर अली साहब के अब्बा जान ने यह मकान बड़े शौक से बनवाया था। मर्दानखाना, जनानखाना, बावर्चीखाना, आंगन, सहन, गुसलखाना सब इतने करीने से बनवाया था कि

आज भी अच्छे-अच्छे मकान इसके मुकाबले में नहीं ठहरते।'

रमजान मियां की बात बिलकुल सही थी। बड़े-बड़े कमरे....बड़ा सा सहन, खुला-खुला आंगन... एकबारगी सबका मन खिल उठा था। बच्चों ने तो उसी वक़्त आंगन में धमा-चौकड़ी शुरू कर दी। दयाल बाबू ने पत्नी की ओर देखा—वहां, चेहरे पर संतोष का भाव पाकर, वह विजयी मुस्कान के साथ बोले, 'अपना घर अपना ही होता है।'

पत्नी के बजाय रमजान मियां ने तस्दीक की, 'बजा फरमाया, हुजूर! अब जितनी जल्दी हो यहां आकर रहना शुरू कर दीजिए। यहां कोई तकलीफ़ नहीं होगी....फिर मैं तो हूं ही यहां।'

यह अप्रत्याशित अधिकार बोध था। दयाल बाबू चौंके। फिर यह सोचकर कि यहां वे पुराने वाकिफ़कार हैं, इसीलिए ऐसा कहा होगा, वह चुप ही रहे। उन्होंने रमजान मियां को कुछ और बोलने का मौका दिए बगैर एक-एक कमरे का चक्कर लगाना शुरू कर दिया। हर कमरा चाक-चौबंद... साफ़-सुथरी दीवारें.... चमकता फर्श.... मजबूत दरवाजे-खिड़कियां...मन प्रसन्न हो गया। दयाल बाबू की प्रसन्नता को भांप लिया रमजान मियां ने। गदगद भाव से बोले 'हुजूर, बड़े मियां को इस मकान से बेहद मुहब्बत थी। हर साल साफ़-सफ़ाई कराते थे। मैं ख़ुद हर रोज झाड़-पोंछ करता था।'

दयाल बाबू ने रमजान मियां को इस कदर-स्नेहिल भाव से निहारा कि रमजान मियां दोहरे हो गए। पत्नी की तरफ देखा, वह मंत्रमुग्ध-सी दिखीं—शायद मन ही मन घर को सजाने-संवारने की कल्पना करने लगी थीं। उन्होंने पत्नी से बड़े प्यार से पूछा, 'कहिए, कैसा लगा?'

'अच्छा है!' पत्नी ने बेसाख़्ता जवाब दिया। मानो कल्पनालोक से जबरन खींच लाई गई हों।

'तो संडे तक शिफ्ट कर लेते हैं।' पत्नी की सहमति पाकर दयाल बाबू तरंग में बोल गए, 'ज़्यादा देर करने से कोई फायदा तो है नहीं?'

बच्चे खेल में मशगूल थे। दयाल बाबू को लगा-बच्चों को भी मकान पसंद आया है। वह अपनी अक्लमंदी पर मन-ही-मन स्वयं को दाद देने लगे।

मकान में शिफ्ट करते हुए दिन निकल गया। शाम होते-होते सभी लोग बुरी तरह थक गए।

सुबह जब सामान सहित दयाल बाबू पहुंचे तो रमजान मियां मिल गए जैसे बाहरी बरामदे में बैठे हुए उन लोगों के आने की ही प्रतीक्षा कर रहे हों। ट्रक गली के मोड़ पर खड़ा था। वहां से सामान ठेलों पर ही आ सकता था। रमजान मियां ने दौड़कर दो-तीन ठेलेवालों को बुला लिया। था। आसपास के कई लोग इकट्ठे हो गए थे। धोती-कुर्ता पहने, माथे पर रोली का बड़ा सा टीका लगाए घनश्याम मिश्राजी ने आगे बढ़कर पहल की थी, 'तो आप ही ने खरीदा है 'अली मंज़िल को?'

दयाल बाबू ने घनश्याम मिश्राजी के प्रति आदर जताते हुए कहा था, 'जी!'

'मेरा नाम घनश्याम मिश्रा है.... आपका पड़ोसी हूं।' घनश्याम मिश्रा ने अपना परिचय दिया था।

'मेरा नाम दयाल कृष्ण है। मैं यहां सेक्रेटेरियट में सेक्शन अफसर हूं।' दयाल बाबू ने भी अपने बारे में जानकारी दी थी।

फिर तो लगे हाथ घनश्याम मिश्रा ने आसपास खड़े कई लोगों का दयाल बाबू से परिचय करा डाला था, 'ये अनसारी साहब हैं... ये श्रीवास्तवजी... ये सिंह साहब और वो खान साहब!'

दयाल बाबू ने सबको हाथ जोड़कर अभिवादन किया था। मुस्कुराहटों के आदान-प्रदान के साथ ही

देखते-ही-देखते चमत्कार हो गया था। वहां मौजूद कई लड़के-बच्चे सामान उतारने-ढोने-पहुंचाने में जुट गए थे। दयाल बाबू 'नहीं-नहीं' करते रहे गए थे, लेकिन किसी ने एक न सुनी थी। उल्टे खान साहब बोल पड़े थे, 'दयाल बाबू, सभी घर के बच्चे हैं...हाथ बंटा देंगे तो काम जल्दी निबट जाएगा।'

वाकई काम तो जल्दी ही निबट गया था, लेकिन कमरों में सामान जमाते-जमाते शाम हो गई थी। चाय पीने की तलब हो आई थी। दयाल बाबू दूध लाने के लिए निकले ही थे कि रमजान मियां ने टोक दिया, 'लाइए हुजूर, दूध मैं ले आता हूं। यहीं पास में ही एक ग्वाला रहता है।'

'चलिए, फिर मैं भी चलता हूं। कल से उससे दूध देने की बात तय कर लूंगा।' दयाल बाबू शुद्ध-ताजा दूध मिल जाने की कल्पना से उमगे।

ग्वाला ज़्यादा दूर नहीं था। रमजान मियां को देखकर उसने सलाम किया। रमजान मियां सलाम का जबाव देते हुए बोले, 'साघ भाई, यह दयाल बाबू हैं। नए-नए आए हैं मुहल्ले में। इन्हें कल से दूध चाहिए।'

'कहां...? वहीं अली मंज़िल में?' अपने ही प्रश्न का उत्तर देते साधो ने दयाल बाबू को गहरी उत्सुकता से देखा।

'हां...हां...वहीं! रमजान मियां के बजाए हड़बड़ा कर बोल पड़े दयाल बाबू। पता नहीं क्या तो उनके मन चुभ गया!

यह चुभन दूध लेकर लौटते हुए भी दयाल बाबू के मन में बनी रही। तेज़-तेज़ डग भरते वह जैसे ही अपने मकान के सामने पहुंचे तो अनायास ही आंखें छज्जे पर जा टिकीं—वहां उर्दू के बड़े-बड़े अक्षरों में कुछ लिखा हुआ था। मानो दीवार को खोद-खोद कर उन अक्षरों को उभारा गया हो। वह उर्दू पढ़ नहीं सकते थे, लेकिन उन्होंने अंदाजा लगाया कि ज़रूर वहां 'अली मंज़िल' लिखा होगा। रमजान मियां अब तक क़रीब आ गए थे। यह सोचकर कि रमजान मियां उनकी मनःस्थिति भांप न लें, दयाल बाबू तेज़ी से बरामदा पार कर अंदर घुस गए।

उस शाम अपने मकान में पत्नी-बच्चों के साथ इकट्ठे बैठकर चाय पीते हुए दयाल बाबू ने महसूस किया कि चाय का स्वाद कुछ ज़्यादा ही अच्छा लग रहा है—शायद दूध का असर हो। दूध का ख़्याल आते ही साधो का चेहरा आंखों में उभर आया-कहां? वहीं...'अली मंज़िल' में? एकदम से गड़बड़ा गए दयाल बाबू। दिमाग में उर्दू के बड़े-बड़े अक्षर उभर आए। उन्हें लगा, ये अक्षर उनके माथे पर नक़्श हो गए हैं। उन्होंने कसकर सिर को झटका दिया मानो उन अक्षरों को झटक रहे हैं। अनायास ही दाहिना हाथ ललाट पर चला गया, वहां कुछ रेंगता हुआ-महसूस हुआ। उन्होंने हथेली से माथे को रगड़ा। फिर अपनी ही बेवकूफी पर मुस्कुरा पड़े।

पत्नी-बच्चों का ध्यान दयाल बाबू की इस हरकत पर नहीं गया था। वह चाय 'सुड़क-सुड़क' कर पीने लगे थे। सुड़कने की आवाज़ कमरे में भर गई। पत्नी ने उन्हें घूर कर देखा और फिर मुस्कुराते हुए बोली, 'एक दिन कथा करा लिया जाए।'

'ठीक कहती हो। इसी बहाने एक 'गेट टू गेदर' हो जाएगा। वहां से कॉलोनी के लोगों को भी बुला लेंगे।' नई जगह, नए मकान से अपनी पहचान जोड़ने का यह अच्छा तरीका मानकर दयाल बाबू ने सहमति दे दी।

कथा सुबह में ही रखी गई थी। नए पड़ोसियों को भी बुलाया गया था। घर में अच्छी-ख़ासी चहल-पहल हो गई थी। रमजान मियां भी ऊपर-झापर के काम में हाथ बंटा रहा थे। ख़ासकर, पड़ोसियों का स्वागत करने और उन्हें उचित जगह बैठाने की जिम्मेदारी उन्होंने ही संभाल ली थी।

दयाल बाबू अपनी पुरानी कॉलोनी से अपने आनेवालों का इन्तजार कर रहे थे। सिन्हा साहब पर नज़र पड़ते ही उनका चेहरा खिल गया। दोनों हाथ जोड़कर दूर से ही सिन्हा दंपति का स्वागत करते दयाल बाबू उनकी ओर लपके, फिर क़रीब पहुंचकर जिज्ञासा की, 'पहुंचने में कोई परेशानी तो नहीं हुई, सिन्हा साहब?'

'कोई ख़ास नहीं।' सिन्हा साहब ने उनके जुड़े हाथ थाम लिए, 'बस नुक्कड़ पर जरा पूछना पड़ा। लोगों ने बताया कि एक नए साहब, अली मंज़िल में आए हैं। मैंने सोचा, वहीं पहुंचकर देखते हैं। यह 'अली मंज़िल' ही है न?'

'हां...हां'। अचकचा गए दयाल बाबू। बड़ी कठिनाई से थूक निगलते हुए पूछा, 'और पांडेयजी, जायसवाल साहब वगैरह नहीं आए?'

'सभी आ रहे हैं, भाई!' सिन्हा साहब ने दयाल बाबू को आश्वस्त किया, 'हम थोड़ा पहले ही निकल आए। श्रीमतीजी बोलीं, देरी होने पर भाभीजी नाराज होंगी।'

'हों-हों' कर हंस पड़े दयाल बाबू। लेकिन उन्हें अपनी ही हंसी अजनबी सी लगी। उनके मन के किसी कोने में 'अली मंज़िल' फांस की तरह अटक गई थी। इस ख़्याल से छुटकारा पाने के लिए वह सिन्हा साहब को घर दिखाने को उद्देश्य से अंदर दाख़िल हो गए। बेडरूम में पहुंचकर सिन्हा साहब ठिठक-से गए। उन्हें ठिठका देख दयाल बाबू ने पूछा, 'क्यों, क्या हुआ?'

'बड़ी ख़ूबसूरत नक्काशी है!' सिन्हा साहब दीवार में बनी लकड़ी की अलमारी की ओर इशारा करके चहके।

दयाल बाबू ने पहली बार गौर किया कि अलमारी के दोनों बाजू गोलाकार में उठकर गुम्बद की शक्ल बना रहे हैं। अलमारी के बंद पल्लों और बाजुओं को एक साथ देखने पर किसी मस्जिद का चित्र उभरता था। दयाल बाबू को आश्चर्य हुआ कि उनका ध्यान इन नक्काशी पर पहले क्यों नहीं गया? वह अपने-आप में झेंप-से गए। सिन्हा साहब की निगाहें बारीक हैं। वह कॉलोनी में भी अनुभवी आदमी माने जाते हैं। पूरे घर का चक्कर लगाने के बाद सिन्हा साहब ने दयाल बाबू को दाद दी, 'अच्छा है दयाल बाबू, आपने बाजी मार ली।'

सिन्हा साहब के स्वर में अफसोस का पुट भी था गोया यह बाजी वह स्वयं हार गए हों। दयाल बाबू ने विनम्रता से जवाब दिया, 'सब आप लोगों का आशीर्वाद है, सिन्हा साहब!'

कथा-पूजन की गहमा-गहमी के बावजूद दयाल बाबू का मन उचाट हो गया था। आंखों के सामने कभी अलमारी पर बना मस्जिदनुमा चित्र उभर आता, तो कभी मकान के बाहर लिखा 'अली मंज़िल'। इस मकान से पराएपन की बू आने लगी थी। यक-ब-यक पूरा मकान उन्हें अजनबी लगने लगा मानो जनाब मंज़ूर अली की शख़्सियत हर जगह चस्पां है और वह जबरन इस मकान के मालिक बन बैठे हों।

मेहमानों के विदा हो जाने के बाद घर एकदम सन्नाटे में डूब गया था। दोनों लड़के अपने नए दोस्तों के साथ घूमने निकल पड़े थे। बेटी रानी पड़ोस के मिश्राजी के यहां गई हुई थी। पत्नी निढाल होकर

बिस्तर पर जा पड़ी थीं, ऐसे में दयाल बाबू के मन की बैचेनी और बढ़ गई। वह चुपचाप ड्राइंगरूम में बैठे-बैठे अपने आपसे उलझते रहे। इसी दौरान उन्होंने तय कर लिया कि सबसे पहले इस मकान का नाम बदलना होगा—अब यह 'अली मंज़िल' नहीं, 'दयाल भवन' है। और अलमारी के पल्ले भी बदलने होंगे-मस्जिद का चित्र तो कतई नहीं चलेगा। सहसा उन्हें ख़्याल आया कि अंदर के बरामदे में बना चबूतरा भी तुड़वाना होगा। रमजान मियां ने बताया था—'वह चबूतरा नहीं, जा निमाज है, हुजूर। उसी पर बड़ी बी नमाज अदा करती थीं।' मन कैसा-कैसा तो हो आया। लगा, दयाल बाबू का इस मकान में अपना कुछ नहीं है। इसी व्यग्रता में उन्होंने पहलू बदला कि उनकी आंखें कमरे में बने मेहराब पर जा टिकीं। एक झटका सा लगा। शुरू-शुरू में मेहराब देखने में बेहद ख़ूबसूरत लगा था, लेकिन इस वक़्त उसकी ख़ूबसूरती पता नहीं कहां गुम हो गई थी। वह मेहराब बुरी तरह खटकने लगा। उन्होंने पाया कि मेहराब ड्राइंग रूम की ख़ूबसूरती बिगाड़ रहा है। वहां बैठे रहना उन्हें मुश्किल लगने लगा। वह तेज़ी से उठे और बाहरी बरामदे में चले आए।

बरामदे की दीवार से पीठ टिकाकर ऊंघ रहे रमजान मियां पर नज़र पड़ते ही दयाल बाबू ठिठक गए—आगे नाथ न पीछे पगहा...जब से वह आए हैं, रमजान मियां ख़ुदाई ख़िदमतगार की तरह हर वक़्त मौजूद मिले हैं...इस मकान से साए की तरह चिपके हुए...पत्नी ने कहा भी था—'यह बुढ़ऊ यहीं रहेंगे क्या?' तब दयाल बाबू ने सहज ही समझा दिया था—'क्या हर्ज है.. काम के आदमी हैं...।' अनजाने ही रमजान मियां घर का हिस्सा हो गए थे...

दयाल बाबू की मौजूदगी का भान होते ही रमजान मियां हड़बड़ाकर उठ खड़े हुए। दयाल बाबू भी रमजान मियां से आंखें मिलते ही सकपकाए मानो मन का चोर पकड़ा गया हो। पर्देदारी की कोशिश में तपाक से कह बैठे, 'रमजान मियां, कोई राजमिस्त्री हो तो कल बुला लाइएगा।'

'क्या हुजूर, कुछ जुड़वाना-तुड़वाना है क्या?' आंखें ही नहीं रमजान मियां की आवाज़ में भी हैरानी थी।

रमजान मियां का लहजा दयाल बाबू को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने थोड़ी सख़्ती से कहा, 'अपने मुताबिक मकान में रद्दो-बदल ज़रूरी है, बड़े मियां। कोई अच्छा कारीगर हो तो कल ले आइए।'

आदेश देकर एक पल के लिए भी वहां नहीं रुके दयाल बाबू। उन्हें रमजान मियां की टोका-टोकी नागवार गुजरी थी। उन्हें लगा, यह आदमी खामख्वाह दखल दे रहा है—जबर्दस्त काबिज होता जा रहा है.... यह जनाब मंज़ूर अली का मुंह लगा था... इसका मतलब यह तो नहीं कि वह भी इसे बर्दाश्त करें. .. नहीं, उसे हटाना होगा...जल्दी ही उसे नहीं हटाया गया तो गले की हड्डी बन जाएगा।

सुबह-सुबह ही राजमिस्त्री को हाजिर देख दयाल बाबू की बांछें खिल गईं। पूछा, 'रमजान मियां लाए हैं आपको?'

'हां हुजूर! बोले, कि मकान में आपको कुछ ज़रूरी काम करवाना है।' राजमिस्त्री बरामदे में ही फर्श पर बैठ गया था।

'लेकिन रमजान मियां हैं कहां?' दयाल बाबू ने रमजान मिया को राजमिस्त्री के साथ न देखकर पूछा।

'पता नहीं, हुजूर!' राममिस्त्री ने निर्विकार भाव से उत्तर दिया, 'वह तो हमें 'अली मंज़िल' पहुंचने

को कहकर उल्टे पांव लौट आए थे।'

दयाल बाबू के दिमाग में धमाका-सा हुआ—अली मंज़िल। अब तक पत्नी भी वहां आ पहुंची थीं। दयाल बाबू ने पत्नी को उत्सुकता से अपनी ओर देखता पाकर मन की बात बताई, 'इस मकान का नाम बदलवाना है—'दयाल भवन' कैसा रहेगा?'

'अच्छा है!' पत्नी मन ही मन पति का नाम दुहराते हुए मुस्कुराईं।

दयाल बाबू पत्नी के मनोभाव भांप पर आह्लाद से भर गए। एक मीठी नज़र पत्नी पर डाली, फिर पुलकित स्वर में राजमिस्त्री को समझाने लगे—'सबसे पहले तो वहां छज्जे पर लिखा 'अली मंज़िल' तोड़कर 'दयाल भवन' लिखना है...फिर यहां, इस कमरे में बना मेहराब तोड़कर हटा देना है...और बरामदे में एक चबूतरा है उसे तोड़ना है और मेरे बेडरूम में एक अलमारी है...।'

पता नहीं क्यों, अपनी बात अधूरी छोड़ दी थी दयाल बाबू ने। भीतर-ही-भीतर जारी जोड़-तोड़ से शब्द गड्ड-मड्ड हो गए थे। शायद। वह पत्नी से चाय बनाने को बोल, राजमिस्त्री को साथ लेकर, 'कहां-कहां और क्या-क्या' काम करना है समझाने लगे। राजमिस्त्री 'हां में हां' मिलाता कभी-कभी अपना सुझाव भी देता जा रहा था। इस सलाह-मशविरे में बच्चे भी शामिल हो गए थे। शिवेश ने राय जाहिर की थी, 'पापा, दीवारों में बने ताखे बंद करा दीजिए।'

ब्रजेश के पास भी अपनी सलाह थी, 'पापा, यह मकान पुराने डिजाइन का है। मेरी समझ से इसे 'रिनोवेट' करना ठीक रहेगा।'

'होगा...धीरे-धीरे सब होगा!' दयाल बाबू बच्चों से सहमत होते हुए राजमिस्त्री से मुख़ातिब हुए, 'समझ गए न आप?'

'हां हुजूर!' दांत निपोर दिया राजमिस्त्री ने, 'फिर आज ही से हाथ लगा देते हैं?'

दयाल बाबू स्वयं भी जल्दी में थे। तुरंत बोल पड़े 'हां...हां, जितनी जल्दी हो, काम शुरू कर दीजिए।'

राजमिस्त्री चाय पीकर चला गया था। दयाल बाबू भी ऑफिस जाने की तैयारी में जुट गए थे। बच्चों को राजमिस्त्री से काम कराने की जिम्मेदारी सौंप, कर उन्हें स्कूल जाने से रोक दिया था। बच्चे जिम्मेदारी लेते हुए अनायास ही संजीदा हो गए थे।

शाम होते-होते 'अली मंज़िल' का नामोनिशान मिट गया। ऐन उसी जगह पर ताजे सिमेंट से 'दयाल भवन' उभर आया। दयाल बाबू ने ऑफिस से लौटते हुए, गली में ठहरकर, भर निगाह, 'दयाल भवन' को निहारा और फिर भीतर तक पसर गई प्रसन्नता को लिए अन्दर इस तरह प्रवेश किया जैसे पहली बार अपने घर में घुस रहे हों।

पत्नी किचन में थीं, बेटी पानी का गिलास लेकर आई और आते ही उसने सूचना दी, 'पापा, भइया लोग अभी सिमेंट का ऑर्डर देने गए है। मिस्त्री ने कहा है, कल जल्दी ही काम शुरू हो जाएगा।'

दयाल बाबू ने एक गहरी सांस ली जैसे सीने पर पड़ा कोई बोझ उतर गया हो। दिन-भर की थकान पता नहीं कहां गायब हो गई थी। उन्होंने वहीं से चहकते हुए पत्नी को आवाज़ दी, 'अरे भाई, किचन में क्या कर रही हो?'

दयाल बाबू की प्रसन्नता से पत्नी भी पुलक से भर उठी थीं। पास आकर चुहल से बोलीं, 'किचन नहीं हुजूर, बावर्चीखाना।'

कसकर झटका लगा दयाल बाबू को। एकदम से बेचैन हो उठे। अनायास ही आंखें बाहरी बरामदे की ओर घूम गईं, 'यहां रमजान मियां नहीं दिख रहे हैं?

पत्नी के बजाय रानी ने तपाक से उत्तर दिया, 'पापा, वह तो आज आए ही नहीं...सुबह से ही गायब हैं...।'

पता नहीं क्यों, असहज हो उठे दयाल बाबू! मन भारी हो आया। चाय पीते हुए रमजान मियां की अनुपस्थिति कहीं और ज़्यादा खलने लगी। पत्नी उनके मन की बात समझ गई थीं शायद! उन्हें ऊहापोह से उबारने की गरज से बोलीं, 'अच्छा हुआ, बुढ़ऊ हमारे कहे बगैर टल गए...अरे... कोई उनका ज़िंदगी भर का ठेका थोड़े लिए हुए हैं हम!'

'ठीक कहती हो तुम!' बुझे मन से दयाल बाबू ने जैसे अपने आपको समझाया।

मकान में मन मुताबिक रद्दो-बदल कराते-कराते पूरा एक सप्ताह लग गया। अब ड्राइंगरूम से मेहराब गायब हो चुकी थी...अंदर बरामदे में बना चबूतरा फर्श के लेबल पर आ गया था... ताखे भरे जा चुके थे... अलमारी के पल्ले तोड़कर वहां खूबसूरत शीशों के शटर लग गए थे...। इस बीच और भी बहुत कुछ हुआ था... मेहराब के एक कोने में पड़ी रेहल (पवित्र पुस्तक पढ़ने के लिए बना लकड़ी का स्टैंड) मिली थी, जिसे दयाल बाबू ने स्टोर में रखवा दिया था। गुसलखाने के एक झरोखे में रखी तैमूम मिट्टी पड़ी दिखी थी, उसे उठाकर फेंक दिया गया था.... छत पर जाने के लिए आंगन में बनी सीढ़ियों के नीचे वाले दड़बेनुमा कमरे में टूटी हुई तस्बीह के दाने...चीकट हो गई काले रंग की मखमली टोपी.... तामचीन के प्लेट-कटोरे और अल्युमिनियम का बन्धना बगैरह बेतरतीब बिखरे पड़े थे। थोड़ी देर के लिए तो दयाल बाबू कुछ समझ ही नहीं पाए थे, कि वह इन चीज़ों का क्या करें? पत्नी ने नाक-भौंह सिकोड़ते हुए कहा था, 'होगा सब उसी रमजान मियां का। इसी खजाने के लिए बुढ़ऊ रात-दिन पहरेदारी कर रहे थे। उठाकर फिंकवा दीजिए।'

व्यंग्यबुझी पत्नी की हंसी दयाल बाबू को बेध गई थी। उन्होंने प्रतिवाद करते हुए कहा था, 'जो भी हो... यह रमजान मियां की अमानत है। आखिर हम पर विश्वास करके ही तो यह सब यहां छोड़ रखा है उन्होंने...ऐसा करते हैं... इन्हें स्टोर में रखवा देते हैं...रमजान मियां को लौटा देंगे।'

'अब क्या लौटेंगे, बुढऊ!' थोड़ा तमक कर पत्नी ने पति का विरोध किया था। हफ्ते भर से तो पता नहीं है उनका।'

दयाल बाबू ने पत्नी की बात अनसुनी कर दी थी। सारा सामान उठाकर स्वयं स्टोर में रख आए थे। साफ़-सफ़ाई कर दड़बेनुमा उस कमरे को पूजाघर बना दिया गया था। लक्ष्मी-गणेश की मूर्तियां रख दी गई थीं... शंकर-पार्वती के कैलेंडर टांग दिए गए थे। आरती का दीया... पीतल की घंटी...हनुमान चालीसा सब करीने से सजा दिया गया था। अपने हाथ से धूप जलाकर उस कमरे को सुवासित किया था दयाल बाबू ने।

अब वही मकान दयाल बाबू को अपना-अपना सा लगने लगा था। इस अपनापे के सुख-संतोष में उनके मन का संताप तिरोहित हो गया था। वह आते-जाते कभी ठहर कर, तो कभी चोर नज़र से मकान के माथे पर अंकित 'दयाल भवन' का देख लेते हैं। नए रंग-रोगन से चमक उठे मकान पर 'दयाल भवन' की लिखावट बहुत ख़ूबसूरत लगती। वह मन-ही-मन 'दयाल भवन' दुहराते और सोचते कि धीरे-धीरे

लोग इस मकान को 'दयाल-भवन' के नाम से जानने लगेंगे।

ऑफिस से लौटते हुए दयाल बाबू को उस दिन मिश्राजी अपने घर के बाहर बरामदे में बैठे लिए गए। दुआ-सलाम के बाद दयाल बाबू ने उत्सुकता जाहिर की, 'काफी दिनों बाद दिखे मिश्राजी, कहीं बाहर गए थे क्या?'

मिश्रा जी मुस्कुराए, फिर रहस्य खोलने के-से अंदाज में बोले, 'अरे दयाल बाबू, अपना जॉब ही ऐसा है। 'टूर' पर गया था...हफ्ता बाद आज ही लौटा हूं...

'ओहो, तभी कहूं कि मुहल्ले में सन्नाटा क्यों है?' दयाल बाबू ने टहोका लिया।

आदतन तेज़-तर्रार मिश्रा जी ने गर्मशोजी से निमंत्रण दे डाला, 'आइए दयाल बाबू, एक-एक कप चाय हो जाए।'

दयाल बाबू को भी कोई जल्दी नहीं थी। वह भी मुस्कुराए और मिश्राजी के निमंत्रण मे अपना प्रस्ताव जोड़ दिया, 'एक शर्त है...आज चाय मेरे यहां पी जाएगी।'

घनश्याम मिश्राजी खुलकर हंस पड़े, 'दयाल बाबू, सस्ते में छूटना चाहते हैं...खैर चलिए...आप ही के यहां चाय पीते हैं।'

दयाल बाबू आतिथ्य बोघ से झुक-से गए। पहली बार किसी पड़ोसी को अपने घर चाय पर बुलाना उन्हें अच्छा लग रहा था—मन में कहीं अपने घर में आए बदलाव को दिखाने की ललक भी बलवती थी। मिश्राजी प्रवेश द्वार पर पहुंचकर ठिठके। मकान को इस तरह गौर से देखने लगे जैसे उन्हें अपनी आंखों पर विश्वास ही न हो रहा हो—उधड़े प्लास्टरों और चितकबरी दीवारों का अता-पता नहीं था। नए रंग-रोगन से लकदक। 'अद्‌भुत'! उनके मुंह से बेसाख़्ता निकल पड़ा 'अरे,! दयाल बाबू...आपने तो 'अली मंज़िल' का काया-कल्प ही कर दिया!'

मिश्राजी के मुंह से 'अली मंज़िल' सुनकर दयाल बाबू के भीतर कुछ दरक सा गया। जबरन मुस्कराते हुए प्रतिवाद किया, 'मिश्राजी, अब यह 'अली मंज़िल' नहीं, दयाल भवन है, दयाल भवन।'

'हां...हां... वो तो है।' मिश्राजी दयाल बाबू के मनोभाव की परवाह किए बैगर जारी रहे, 'आपने सचमुच इसके पुराने दिन लौटा दिए...किसी जमाने में इस मकान की ऐसी ही रौनक थी...।'

दयाल बाबू के भीतर एक गहरी उदासी पसर गई—इस मकान का अतीत उनके लाख चाहने के बावजूद, उनका पीछा नहीं छोड़ रहा था। वह अजीब कसमसाहट से भर गए—अपने आप पर कोफ्त हो गई। जी मैं आया मिश्राजी से कहें—भगवान के लिए गड़े मुर्दे मत उखाड़िए! लेकिन ख़ुद को जज्ब कर गए।

मिश्राजी के साथ चाय पीने का मजा किरकिरा हो गया था। हालांकि मिश्राजी नमकीन, बिस्कुट खाते हुए, बड़ी आत्मीयता से बातें करते हुए, चाय का आनन्द लेते रहे, लेकिन दयाल बाबू कतई सामान्य नहीं हो पाए—अपनी ही हंसी उन्हें फीकी महसूस होती रही।

नया मुहल्ला, नया मकान, नए लोग अब धीरे-धीरे दयाल बाबू के परिवार और पुराने हो चले थे। पत्नी, बच्चों का भी मन लग गया था। दयाल बाबू तो ज़्यादातर ऑफिस में और ऑफिस के काम में ही व्यस्त रहते, इसलिए अड़ोसियों-पड़ोसियों से मुलाकात गाहे-बगाहे ही होती। जिस दिन फुर्सत के मूड में होते,

ख़ुद ही किसी पड़ोसी के घर चले जाते या फिर कोई-न-कोई अपने आप ही उनके घर आ धमकता। बैठक जमती तो घंटों गप्प-शप्प चलती। हंसी-ठहाके गूंजते।

इधर काफी दिनों बाद, दयाल बाबू को सेकेंड सेटरडे को फ़ुर्सत मिली थी। दोपहर में खाना-वाना खाने के बाद ड्राइंगरूम में आकर बैठे ही थे कि श्रीवास्तवजी और खान साहब चले आए। दोनों को देखकर दयाल बाबू भी चहक उठे। पुरजोर स्वागत करते हुए दोनों से हाल-समाचार पूछा और फिर पत्नी को चाय बनाने के लिए कहने अंदर के कमरे में चले गए।

लौटे तो दयाल बाबू के हाथ में पानी से भरे दो गिलास भी थे। उन्हें पानी लाते देख, श्रीवास्तवजी और खान एक साथ बोल पड़े—अरे ख़ामख़्वाह तकलीफ़ कर रहे हैं आप?'

'नहीं भाई, इसमें तकलीफ़ की क्या बात है?' आत्मीयता से मुस्कुराते हुए दयाल बाबू ने दोनों गिलास टेबल पर रखे ही थे कि कॉल बेल बजा और फिर एक जानी-पहचानी-सी आवाज़ आ टकराई, 'दयाल बाबू....दयाल बाबू हैं क्या?'

'यह तो रमजान मियां हैं।' श्रीवास्तवजी ने बाहर से आ रही आवाज़ पहचान ली थी।

'लगता तो है!' खान साहब ने भी हामी भरी।

दयाल बाबू भी रमजान मियां की आवाज़ पहचान गए थे। उनके आश्चर्य का ठिकाना नहीं रहा। इतने दिनों बाद, रमजान मियां आज अचानक कहां से प्रकट हो गए? दयाल बाबू अनजाने आवेग के वशीभूत तेज़ी से बाहर आए। रमजान मियां को देखकर वह एक बारगी उत्तेजना से भर गए।

रमजान मियां ने उन्हें देखते ही झट आदाब अर्ज किया और अपने साथ आए डाकिए की ओर इशारा करके बोल पड़े, 'हुजूर, आपकी चिट्ठी आई है...डाक बाबू आपका नाम पूछ-पूछकर भटक रहे थे...मैंने इन्हें बताया कि आप 'अली मंज़िल' में रहते हैं। तब कहीं जाकर यह समझे।' रमजान मियां अपनी ही रौ में बोले चले जा रहे थे, 'हुजूर, डाक बाबू ने बताया कि पाकिस्तान से चिट्ठी आई है, तो मुझे लगा, ज़रूर मंज़ूर अली साहब का ख़त होगा...इसीलिए साथ-साथ चला आया, हुजूर।' दयाल बाबू कहीं खोए से हो गए। मानो मंज़ूर अली साहब की यादों ने जकड़ लिया हो। इस बीच डाकिया नमस्ते करके जा चुका था। खोए-खोए से दयाल बाबू ने लिफाफे पर अंग्रेजी में लिखा पता पढ़ा-नाम, मुहल्ला, शहर सब सही था... लेकिन लिफाफे पर कहीं भी 'अली मंज़िल' नहीं लिखा था। पता नहीं क्या तो चटक गया दयाल बाबू के भीतर!

लिफाफा फाड़कर खोला... पत्र उर्दू में लिखा था। दयालबाबू ने बेबसी से रमजान मियां को देखा... रमजान मियां की आंखों में जबर्दस्त उत्सुकता तैरती नज़र आई...दयाल बाबू के मन आया—कैसा बंदा है यह! किसी को प्यार करने की इन्तहा है यह। प्रत्यक्षतः उन्होंने रमजान मियां को उलाहना दिया, 'बड़े मियां, अचानक कहां गुम हो गए थे आप?'

दयाल बाबू के प्रश्न का उत्तर अंदर से आया। ड्राइंगरूम में बैठे खान साहब वहीं से बोल रहे थे, 'अरे दयाल बाबू, रमजान मियां की क्या पूछते हैं...पूरा मुहल्ला ही इनका घर है... जहां रुक गए... समझिए वहां डेरा हो गया।'

'ही...ही...ही।' रमजान मियां की तरह हंसी तैर गई।

दयाल बाबू रमजान मियां को अंदर ड्राइंग रूम में बुलाते हुए बोले...'ख़त उर्दू में लिखा है...आइए खान साहब से पढ़वाते हैं...अच्छे मौके पर यह भी हाजिर हैं।'

खान साहब ने दयाल बाबू को हैरानी से देखा, गोया उनके नाम उर्दू में ख़त आना कोई अजूबा हो। दयाल बाबू ने ख़त खान साहब की ओर बढ़ाया तो उन्होंने ख़त लपक कर ले लिया और सरसरी तौर से पूरे कागज पर नज़र दौड़ा डाली। फिर उनकी आंखें ख़त के ऊपरी हिस्से पर जाकर अटक गईं।

'जनाब मोहतरम दयाल बाबू! आदाब अर्ज!!' खान साहब ने ख़त पढ़ना शुरू कर दिया था, 'ख़ुदा के फजल से मैं यहां ठीक-ठीक हूं और आप सबकी खैरियत की दुआ करता हूं।'

दयाल बाबू का मन भीग आया। उन्होंने देखा, रमजान मियां ख़त पर एकटक आंखें गड़ाए हुए हैं। खान साहब पढ़ रहे थे, 'यहां पराए वतन, पराए लोगों के बीच वहां की बहुत याद आती है। अपना घर, मुहल्ला, शहर और लोग हर वक़्त आंखों में रक्स करते रहते हैं। आखिरी वक़्त में खाना-खराबी मेरी किस्मत में बदी थी, वरना अपना मुल्क, अपनी देहरी क्यों छूटती! शायद ख़ुदा को यही मंज़ूर था।'

सहसा एक सिसकी-सी फूट पड़ी। खान साहब भी रुक गए। दयाल बाबू ने देखा, रमजान मियां की आंखों से आंसू बह रहे हैं। किसी से कुछ कहते नहीं बना। एक सन्नाटा-सा खिंच आया। रमजान मियां ने अंगोछे से आंखें सुखाते हुए ख़ुद को संभाला। खान साहब भी संजीदा हो गए थे। श्रीवास्तवजी तो लगातार चुप्पी साधे हुए थे। दयाल बाबू ने अगल-बगल झांका, पत्नी को दरवाजे की ओट में खड़ा देख बोल पड़े, 'मंज़ूर अली साहब का पत्र है।'

खान साहब ने ख़त के मजमून पर आंखें टिका दी थीं। दयाल बाबू ने उन्हें ख़त पढ़ने का इशारा किया। खान साहब उसी संजीदगी के साथ फिर ख़त पढ़ने लगे,। 'उम्मीद है, अब तक आप लोगों ने 'अली मंज़िल' को आबाद कर दिया होगा। खूब गुलजार हो गया होगा। मुझे भी उसकी बहुत याद आती है। जानते हैं जनाब, वह मेरा पुश्तैनी मकान था। मेरी अम्मा को भी उससे बहुत मुहब्बत थी। उन्होंने उसकी सलामती के लिए बाहरी दरवाजे के अंदरूनी कोने में आयतल कुर्सी, टांग रखी थी, ताकि उस पर कोई बला नाजिल न हो। आज अर्से बाद, पता नहीं क्यों, मुझे अपनी अम्माजान की याद आ गई? शायद बुढ़ापे का तकाजा हो। आपको ख़त लिखकर बहुत सुकून मिल रहा है। आप मेरी किसी बात का बुरा मत मानिएगा। बस! मैं तो यही दुआ करूंगा कि आप लोग आबाद रहें, ख़ुदा तमाम बलाओं से महफूज़ रखें। आपका खैरखवाह-मंज़ूर अली।'

ख़त ख़त्म हो गया था। ख़ामोशी तिर आई थी। लेकिन दयाल बाबू के भीतर-ही भीतर संवाद जारी था। उन्होंने महसूस किया कि कमरे का वातावरण निहायत गंभीर हो गया है। कोई कुछ नहीं बोल रहा था जैसे सबके भीतर मंज़ूर अली साहब की स्मृति घुमड़ रही हो।

बेटी रानी चाय के प्याले रख गई थी। दयाल बाबू ने चुप्पी तोड़े बगैर एक प्याली रमजान मियां की ओर बढ़ाई। रमजान मियां की आंखें डबडबाई हुई थीं। वह चाय की प्याली लेकर चुपचाप उठे और बाहर बरामदे में जाकर दीवार के सहारे बैठ गए।

ड्राइंग रूम में दयाल बाबू अकेले रह गए थे। मंज़ूर अली साहब का ख़त टेबल पर पड़ा हुआ था—ख़त का एक-एक लफ़्ज दयाल बाबू के दिमाग में उभरता जा रहा था—मंज़ूर अली साहब का चेहरा आंखों के सामने नाचने लगा था जैसे वह कह रहे हों—'मेरी अम्मा ने बाहरी दरवाजे के अंदरूनी कोने में आयतल कुर्सी टांग रखी थी, ताकि बलाएं नाजिल न हों।' दयाल बाबू सोफे पर से उठे और दबे पांव बाहरी दरवाजे तक आए। दरवाजे के खुले दोनों पल्लों को आहिस्ते से बंद करने के अंदाज में एक-दूसरे के क़रीब किया कि चौखट में गड़ी कील के सहारे जुजदान में टंगी कोई चीज़ देखकर ठिठक गए। उन्हें ताज्जुब हुआ

कि उनका ध्यान कभी इस ओर क्यों नहीं गया? उन्हें लगा, ज़रूर यह आयतल-कुर्सी' है, जिसे मंज़ूर अली साहब की अम्मा ने यहां टांगा होगा।

जुजदान (कपड़े की खोल) धूल गर्द से चीकट हो गया था। दरवाजे के दाहिने पल्ले पर जुजदान के बराबर रगड़ के चिन्ह उभर आए थे। दयाल बाबू को कोफ़्त हुई कि साफ़-सफ़ाई के दौरान किसी का ध्यान इस ओर क्यों नहीं गया? उन्होंने जुजदान को नोचने के लिए हाथ बढ़ाया ही था कि लगा, बाहर बरामदे में बैठे रमजान मियां घूर रहे हैं। उन्होंने झट से पल्ले खोल डाले। सामने बरामदा खाली था। रमजान मियां वहां नहीं थे। चाय की खाली प्याली पड़ी हुई थी। एक गहरा सन्नाटा भांय-भांय कर रहा था। दयाल बाबू दरवाजे के बीचोबीच जड़ हो गए थे।

मो. : 09431094596

दंगा भेजियो मौला!

अनिल यादव

धूप इतनी तेज़ थी कि पानी से उठती भाप झुलसा रही थी। कीचड़ के बीच कूड़े के ऊंचे ढेर पर एक क़तार में छह एकदम नए, छोटे-छोटे ताबूत रखे हुए थे। सामने जहां तक मोमिनपुरा की हद थी, सीवर के पानी की बजबजाती झील हिलोरें मार रही थी, कई बिल्लियों और एक गधे की फूली लाशें उतरा रही थीं।

हवा के साथ फिरते जलकुंभी और कचरे के रेलों के आगे काफ़ी दूरी पर एक नाव पानी में हिल रही थी जिसकी एक तरफ़ अनाड़ी लिखावट में सफ़ेद पेन्ट से लिखा था 'दंगे में आएंगे।' नाव की नोंक पर जरी के चमकदार कपड़े का एक छोटा सा झंडा फड़फड़ा रहा था।

बदबू के मारे नाक फटी जा रही थी, बच्चों के सिवा सबने अपने मुंह गमछों और काफियों से लपेट रखे थे। पीछे बुरके और सलूके घुटनों तब खोंसे औरतों का झुंड था जिसमें रह-रह हिचकियां फूट रहीं। कभी-कभार रूलाई की महीन, कंपकंपाती कोई भटकी हुई तरंग उभरती और हवा उसे उड़ा ले जाती।

वे सभी बस्ती के उस पार क़ब्रिस्तान जाने के लिए नाव का इंतज़ार कर रहे थे। हवा में इठलाते झंडे वाली नाव थी कि जैसे चिढ़ा रही थी कि दंगा होगा तब इस पार आएगी वरना उसे यक़ीन नहीं है कि ताबूतों में लाशें हैं या लाशों के नाम पर कुछ और।

तैर कर थक जाने के बाद, एक नंग-धड़ंग किशोर नाव में अकेला बैठा, मुंह बाए इस भीड़ को ताक रहा था। छह ताबूत, मुंह बांधे कोई पचास लोगों की भीड़, चौंधियाता सूरज और पानी पर सांय-सांय करती बरसात की दोपहर। बस्ती के आधे डूबे मकानों में से किसी छत पर रेडियो से गाना आ रहा था।

अचानक लोग झल्लाकर नाव और लड़के को गालियां देने लगे।

लड़का झील के ऊपर अदृश्य भाप से छन कर आती भुनभुनाहट को कान लगाए-लगाए सुनने की कोशिश करता रहा लेकिन भीड़ थप्पड़, मुक्के लहराने लगी तो वह हड़बड़ा कर नाव से कूद पड़ा और फिर तैरने लगा। भीड़ फिर ख़ामोश होकर धूप में लड़के की कौंधती पीठ ताकते हुए इंतज़ार करने लगी।

बड़ी देर बाद तीन लड़के यासीन, जुएब और लड्डन नाव लेकर इस पार आए और कई फेरे कर ताबूतों को उस पार के क़ब्रिस्तान में ले गए। नाव दिन भर बस्ती के दुख ढोती रही।

शाम होते ही किनारों पर बसी कालोनियों की बत्तियां जलीं और सीवर की विशाल झील झिलमिल रोशनियों से सज गई। लगता था कि यह कोई खूबसूरत सा शांत द्वीप है। रात गए लोग उन छह बच्चों को मिट्टी देकर मुंह बांधे प्रेतों के काफिले की तरह इस पार वापस लौटे।

ये चार लड़के और दो लड़कियां आज सुबह तक पानी में डूबे एक घर की छत पर खेल रहे थे। डेढ़ महीने से पानी में आधा डूबा मिट्टी के गारे का मकान अचानक भरभरा कर बैठ गया और वे डूब कर मर गए। थोड़ी ही देर में उनकी कोमल लाशें बिल्लियों की तरह फूलकर बहने लगीं। मकान की साबुत खड़ी रह गई एक मुंडेर पर उनका खाना जस का तस धरा रह गया और जो राम जी के सुग्गे (ड्रैगनफ्लाई) उन्होंने पकड़ कर करघे के रेशमी धागों से बांधे थे वे अब भी वहीं उड़ रहे थे।

इन रंग-बिरंगी रेशमी पूंछ वाले पतंगों के पंखों की सरसराहट जितना जीवन वे छोड़ गए थे, वही इस सड़ती काली झील के ऊपर नाच रहा था। बाक़ी बस्ती सुन्न थी। पानी में डूबे घरों में उन बच्चों की मांओं की सिसकियों की तरह कुप्पियां भभक रही थीं।

नदी के किनारे बसे शहर के बाहरी निचले हिस्से में आबाद मोमिनपुरा का हर साल यही हाल होता था। बरसात आते ही पानी के साथ शहर भर का कूड़ा-कचरा मोमिनपुरा की तरफ़ बहने लगता और जुलाहे ताना-बाना, करघे समेट कर भागने लगते। इसी समय मस्जिद के आगे जुमे के रोज लालटेनें, नीम का तेल, प्लास्टिक के जूते और बांस की सीढ़ियां बेचने वाले अपना बाजार लगा लेते थे।

सबसे पहले मकानों के तहख़ानों में करघों की खड्डियों में पानी भरता और गलियों में अनवरत गूंजने वाला खड़क-खट-खड़क-खट-खड़क का रोटी की मिठास जैसा संगीत घुटने भर पानी में डूब कर दम तोड़ जाता। लोग बरतन-बकरियां, मुर्गियां, बुने-अधबुने कपड़ों के थान और बच्चों को समेट कर शहर में ऊपर के ठिकानों की तरफ़ जाने लगते फिर भी एक बड़ी आबादी का कहीं ठौर नहीं था। वे मकानों की ऊपर की मंज़िलों में चले जाते। एक मंज़िला घरों की छतों पर सिरकियां, छोलदारियां लग जातीं।

इसी समय मोमिनपुरा की बिजली काट दी जाती क्योंकि पानी में करंट उतरने से पूरी बस्ती के क़ब्रिस्तान बन जाने का ख़तरा था। पावरलूम की मशीनें ख़ामोश होकर डूबने लगतीं क्योंकि उन्हें इतनी जल्दी खोदकर कहीं और ले जाना संभव नहीं था। तभी दूसरे छोर पर बढ़ियाई नदी के दबाव से पूरे शहर की सीवर लाइनें उफन कर उल्टी दिशा में बहने लगतीं। मैनहोलों पर लगे ढक्कन उछलने लगते और बीस लाख आबादी का मल-मूत्र बरसाती रेलों के साथ हहराता हुआ मोमिनपुरा में जमा होने लगता।

चतुर्मास में जब साधु-संतों के प्रवचन शुरू होते, मंदिरों में देवताओं के शृंगार उत्सव होते, कंजरी के दंगल आयोजित होते और हरितालिका तीज पर मारवाड़िनों के भव्य जुलूस निकलते तभी यह बस्ती इस पवित्र शहर का कमोड बन जाती थी। मोमिनपुरा को पानी सप्लाई करने वाले पम्पिंग स्टेशन पर कर्मचारी ताला डालकर छुट्टी पर चले जाते क्योंकि कटी-फटी पाइप लाइनों के कारण मोमिनपुरा पूरे शहर में महामारी फैला सकता था।

मोमिनपुरा वाले चंदा लगाकर मल्लाहों से दस-बारह नावें किराए पर ले आते और वहां का जीवन अचानक शहर की बुनकर बस्ती की खड़कताल से बिदक कर बाढ़ में डूबे, अंधियारे कछारी गांव की चाल चलने लगता। मल्लाह नावें तो दे देते थे लेकिन यहां आकर चलाने के लिए राजी नहीं होते थे। थोड़ी ज़्यादा आमदनी पर गू-मूत में नाव खेने से उन्हें एतराज नहीं था, डर था कि कई एकड़ की झील में अगर मुसलमान काट कर फेंक देंगे तो किसी को पता भी नहीं चलेगा।

हर घर की छत तक, कीचड़ में धंसा कर बांस की एक सीढ़ी लगा दी जाती। राशन सौदा-सुल्फा लोग पास के बाज़ारों से ले आते। एक नाव दिन रात पास के मोहल्लों से पीने के पानी की फेरी करती रहती थी। लोग कपड़ों की फेरी करने नाव से पास के गांवों, शहरों में जाते। बच्चे दिन भी पानी में छपाका

मारते या मछली पकड़ने की बन्सियां डालकर खामखा बैठे रहते। छतों पर टंगे लोग हर शाम सड़ते पैरों और जानलेवा खुजली वाले हिस्सों पर नीम का तेल पोतते। लुंगी, टोपी, बधना हर चीज़ में मौजूद झुंड की झुंड चीटियों से जूझते और पानी जल्दी उतरने की मन्नतें करते।

महीना-पचीस दिन में काली झील सिकुड़ने लगती और बस्ती पर बीमारियां टूट पड़तीं। हैजा, गैस्ट्रो, डायरिया से सैकड़ों लोग मरते जिनमें ज्यादातर बच्चे होते। उन्हें दफनाने के कई महीने बाद कहीं जाकर रोटी के मिठास वाला संगीत फिर सुनाई देने लगता और ज़िंदगी धीरे-धीरे पटरी पर लौट आती।

इस साल डेढ़ महीना गया पानी नहीं उतरा। दानवाकार काली झील का दायरा फैलता ही जा रहा था। छतों पर टंगे लोग हैरत और भय से पानी को घूरते रहते।...एक दिन अचानक बढ़ता पानी बोलने लगा।

बस्ती की ज़िंदगी और इस पानी का रंग, रूप, नियति एक ही जैसे थे। आचमन करने और हाथ में जल लेकर गंगा-जमुनी तहजीब का हवाला देने के दिन कब के लद चुके थे। यह शहर अब इस पानी और बस्ती दोनों से छुटकारा पाना चाहता था। इस बार पानी कुछ कह रहा था... डभ्भक-डभ्भाक.... डभ्भक-डभ्भाक...। बस्ती के लोग सुनते थे लेकिन समझ नहीं पा रहे थे।

भोर के नीम अंधेरे में जब मोमिनपुरा के लोग एक-दूसरे से नज़रें चुराते हुए, कौओं की तरह पंजों से मुंडेरों को पकड़े शौच कर रहे होते ठीक उसी वक़्त आगे मोटर साइकिलों, पीछे कारों पर सवार एक प्रभात फेरी शहर से निकलती। शंख-घंटे-तुरहियां बजाते कई झुंड बस्ती से सटकर गुजरते हाई-वे की पुलिया पर रुकते। गगनभेदी नारों के बीच वे टार्चों की रोशनियां छतों पर टंगे जुलाहों पर मारते और कहकहे लगाते। फिर बूढ़े, जवान और किशोर एक साथ उल्लास से गले बैठ जाने तक चिल्लाते रहते—

'पाकिस्तान में ईद मनाई जा रही है।'

'डल झील में आतिशबाजी हो रही है।' सुबह सूरज निकलने तक घंटे-घड़ियाल बजते रहते।

झील का पानी बोलता रहा। इस साल कई और नए अपशकुन हुए। मल्लाहों ने नावें देने से मना कर दिया। उनका कहना था कि जिस नाव से भगवान राम को पार उतारा था उसे भला गू-मूत में कैसे चला सकते हैं।

म्यूनिसिपैलिटी ने इस साल पानी निकासी के लिए एक भी पंप नहीं लगाया। अफ़सरों ने लिख कर दे दिया, सारे पम्प ख़राब हैं, मरम्मत के लिए पैसा नहीं है, सरकार पैसा भेजेगी तो पानी निकाला जाएगा। लोक निर्माण विभाग ने घोषित कर दिया कि हाईवे की पुलिया से हर साल की तरह अगर पानी की निकासी की गई तो जर्जर सड़क टूट सकती है और शहर का संपर्क बाक़ी जगहों से कट सकता है। आपदा राहत विभाग ने ऐलान कर दिया कि यह बाढ़ नहीं मामूली जलभराव है, इसलिए कुछ करने का प्रश्न ही नहीं पैदा होता।

अस्पतालों ने मोमिनपुरा के मरीजों को भर्ती करने से मना कर दिया कि जगह नहीं है और संक्रमण से पूरे शहर में महामारी का ख़तरा है। पावरलूम की मशीनें और मकानों का मलवा ख़रीदने के लिए कबाड़ी फेरे लगाने लगे। पानी में डूबे मकानों का तय-तोड़ होने लगा। रियल इस्टेट के दलाल समझा रहे थे कि हर साल तबाही लाने वाली ज़मीन से मुसलमान औने-पौने में जितनी जल्दी पिंड छुड़ा लें उतना अच्छा है। यासीन की खाला ने अपने दूल्ला भाई को संदेश भेजा था कि मोमिनपुरा में अबकी न घर बचेगा, न रोजगार बचेगा, इसलिए फिजूल की चौकीदारी करने की बजाए जल्दी से कुनबे समेत यहां चले आएं,

उनके बसने और रोटी का इंतजाम हो जाएगा। परवेज और इफ्फन के पूरे ख़ानदान को उनके मामू जबरन अपने साथ घसीट ले गए थे।

परवेज और इफ्फन, ये दोनों भाई मोमिनपुरा के मशहूर स्पिनर थे। यासीन उस निराली टीम का कप्तान था जिसका कोई नाम नहीं था। इसके ज़्यादातर खिलाड़ी ढरकी और तानी भरने की उम्र पार कर चुके थे। अब वे बिनकारी, डिजाइनिंग और फेरी के वक़्त ग्राहकों से ढाई गुना दाम बताकर आधे पर तोड़ करना सीख रहे थे। लेकिन यह सब वे अब्बुओं और फूफियों से काफ़ी फटकारे-धिक्कारे जाने के बाद ही करते थे।

ज़्यादातर समय वे तानों के रंग-बिरंगे धागों से घिरे मैदान में में खपच्चियां गाड़ कर क्रिकेट की प्रैक्टिस किया करते थे। किट थी लुंगी, ढाका से आई रबड़ की सस्ती चप्पलें और गोल नमाजी टोपी। गिजा थी बड़े का गोश्त और आलू का सालन। रियाज था तीन दिन में पचास गांवों की साइकिल से फेरी और कोच था टेलीविजन। शुएब अख्तर, सनत जयसूर्या, सचिन तेंदुलकर, जोन्टी रोडस, डेरेल टफी, शेन वार्न सभी दिन में उनकी नसों में बिजली की तरह फिरते थे और रातों को सपने में आकर उनकी पसंद की लड़कियों और प्रेमिकाओं को हथिया ले जाते थे।

मोमिनपुरा की लड़कियां भी कैसी बेहया थीं जो छतों से छुप-छुप कर इशारे उन्हें करती थीं, तालियां उनके खेल पर बजातीं थीं लेकिन हरजाई हंसी हंसते हुए उन चिकनों की लंबी-लंबी गाड़ियों में बैठ कर फुर्र हो जाती थीं।

अब ये ब्लास्टर, स्विंगर और गुगलीबाज छतों पर गुमसुम लेटे आसमान में मंडराती चीलों को ताकते थे, भीतर कहीं घुमड़ती मस्जिद की अजान सुनते थे और नीचे बजबजाते पानी से बतियाते रहते थे।

ख़बर आई कि बढ़ियाई नदी में पम्प लगाए जा रहे हैं जिसका पानी भी इधर ही फेंका जाएगा। एक दिन हवा के थपेड़ों से पगलाए पानी ने यासीन से पूछा, 'तुम्हारे अल्ला मियां कहां हैं? क्या अब भी... ।' यासीन ने कुढ़कर सोचा, अब यहां का गंधाता पानी निकालने के लिए भी क्या अल्ला मियां को ही आना होगा।

मल्लाहों के नाव देने से मना कर देने के बाद बस्ती के जैसे हाथ-पांव ही कट गए थे। ऐसे में पता नहीं कहां से पैसे इकट्ठा कर यासीन और उसके निठल्ले दोस्त एक पुरानी नाव ख़रीद लाए। टीम काम पर लग गई। लड़कों ने पुरानी नाव का रंग-रोगन किया, जरी के एक टुकड़े पर एमसीसी लिख कर डंडे से टांग दिया। इस तरह उस गुमनाम टीम का नाम मोमिनपुरा क्रिकेट क्लब पड़ गया और दो चप्पुओं से बस्ती की ज़िंदगी सीवर के पानी में चलने लगी। फिर टीम मदद मांगने बाहर निकली।

पहले वे उन नेताओं, समाज सेवियों और अख़बार वालों के पास गए जो दो बरस पहले हुए दंगे के दौरान बस्ती में आए थे और उन्होंने उनके बुजुर्गों को पुरसा दिया था। वे सभी गरदनें हिलाते रहे लेकिन झांकने नहीं आए। फिर वे सभी पार्टियों के नेताजियों, सरकारी अफ़सरों, स्वयंसेवी संगठनों के भाइजियों और मीडिया के भाईजानों के पास गए।

हर जगह टीम के ग्यारह मुंह एक साथ खुलते, 'जनाब, ख़ुदा के वास्ते बस एक बार चल कर देख लीजिए हम लोग किस हाल में जी रहे हैं। पानी ऐसे ही बढ़ता रहा तो सारे लोग मर जाएंगे।'

किसी ने सीधे मुंह बात नहीं की। पता चलते ही कि मोमिनपुरा वाले हैं उन्हें बाहर से टरका दिया जाता। वे गू-मूत में लिथड़ी महामारी थे जिनसे हर कोई बचना चाहता था। फलां के पास जाओ, पहले

काग़ज़ लाओ, देखते हैं... देख रहे हैं... देखेंगे... ऐसा करते हैं, वैसा करते हैं...सुनते-सुनते वे बेजार हो गए।

देर रात गए जब वे अपनी साईकिलें नाव पर लाद कर घरों की ओर लौटते, अंधेरी छतों से आवाज़ें आतीं, 'क्या यासीन मियां, वे लोग कब आएंगे?'

अंधेरे में लड़के एक-दूसरे को लाचारी से ताकते रहते और नाव चुपचाप आगे बढ़ती रहती। टीम के लड़के दौड़ते रहे, लोग टरकाते रहे और बस्ती पूछती रही। एक रात बढ़ियाते पानी ने घर लौटते लड़कों से कहा, 'बेटा, अब वे लोग नहीं आएंगे।'

'काहे?' यासीन ने पूछा।

'तजुरबे की बात है, उस दुनिया के लोग यहां सिर्फ़ दो बख़त आते हैं या दंगे में या इलेक्शन में। गलतफहमी में न रहना कि वे यहां आकर तुम्हारे बदन से गू-मूत पोंछ कर तुम लोगों को दूल्हा बना देंगे।'

अगले दिन यासीन ने दांत भींचकर हर रात, सैकड़ों आवाज़ों में पूछे जाने वाले उस एक सवाल का जवाब नाव पर सफ़ेद पेन्ट से लिख दिया, 'दंगे में आएंगे।' ताकि हर बार जवाब देना न पड़े।

काला पानी कब से लोगों से यही बात कह रहा था लेकिन वे जाने किससे और क्यों मदद की उम्मीद लगाए हुए थे। भोर की प्रभात फेरी में पाकिस्तानियों को ईद की मुबारकबाद देने वालों की तादाद बढ़ती जा रही थी। घंटे-घड़ियाल और शंख की ध्वनियां नियम और अनुशासन के साथ हर सुबह और गगनभेदी होती जा रही थीं।

छह बच्चों के दफनाने के बाद एमसीसी के लड़कों ने घर जाना बंद कर दिया था। तीन-चार लोग नाव पर रहते थे, बाक़ी एक ऊंचे मकान पर चौकसी करते थे। दो महीने से पानी में डूबे रहने के बाद अब मकान आए दिन गिर रहे थे। रात में गिरने वाले मकानों में फंसे लोगों की जान बचाने के लिए यह इंतजाम सोचा गया था।

दिन बीतने के साथ बदबूदार हवा के झोकों से नाव झील में डोलती रही, तीन तरफ़ से बस्ती को घेरे कालोनियों की रोशनियां काले पानी पर नाचती रहीं, हर रात बढ़ते पानी के साथ बादलों से झांकते तारों समेत आसमान और क़रीब आता रहा। सावन बीता, भादों की फुहार में भींगते शहर से घिरे दंड-द्वीप पर अकेली नाव में रहते काफ़ी दिन बीत गए और तब लड़कों के आगे रहस्य खुलने लगे।

पानी, हवा, घंटे-घड़ियाल मर कर उतराते जानवर, गिरते मकान, रोशानियों का नाच, सितारे और चींटियों के झुंड सभी कुछ न कुछ कह रहे थे। एक रात जब पूरी टीम बादलों भरे आसमान में आंखें गड़ाए प्रभात-फेरी का इंतज़ार कर रही थी, पानी बहुत धीमे से बुदबुदाया, 'दंगा तो हो ही रहा है।'

'कहां हो रहा है बे।' यासीन के साथ पूरी टीम हड़बड़ा कर उठ बैठी।

रुंधी हुई मद्धिम आवाज़ में पानी ने कहा, 'ये दंगा नहीं तो और क्या है। सरकार ने अफ़सरों को इधर आने से मना कर दिया है। डाक्टरों ने इलाज से मुंह फेर लिया है। जो पम्प यहां लगने चाहिए उन्हें नदी में लगाकर पानी इधर फेंका जा रहा है। करघे सड़ चुके, घर ढह रहे हैं, बच्चें चूहों की तरह डूब कर मर रहे हैं। सबको इसी तरह बिना एक भी गोली-छुरा चलाए मार डाला जाएगा। जो बेघर-बेरोज़गार बचेंगे, वे बीमार हो कर लाईलाज मरेंगे।'

नाव की पीठ पर सिर पटकते हुए पानी रो रहा था।

टीम में सबसे छोटे गुगलीबाज मुराद ने सहम कर पूछा, 'यासीन भाई, हम सबको क्यों मार डाला जाएगा?'

'क्योंकि हमलोग मुसलमान हैं बे। इतना भी नहीं जानते।' यासीन तमतमा गया।

'हम लोग जिनके पास गए थे, क्या वे लोग भी हमें नहीं बचाने आएंगे?'

'आएंगे, आएंगे! जब आमने सामने वाला दंगा होगा तब आएंगे।'

उस रात के बाद पानी से टीम की एक साथ कोई बात नहीं हुई। सब अलग-अलग लहरों को घूरते और बतियाते रहे।

अगले जुमे को एमसीसी की टीम के सभी ग्यारह खिलाड़ियों ने फजर की नमाज के वक़्त नाव में सिजदा कर एक ही दुआ मांगी, 'दंगा भेजियो मोरे मौला, वरना हम सब इस नर्क में सड़ कर मर जाएंगे। गू-मूत में लिथड़ कर मरने की जिल्लत से बेहतर है कि खून में डूब कर मरें।'

दो दिन बाद मोमिनपुरा में भरते पानी के दबाव से हाई-वे की पुलिया टूट गई। काली झील कई जगहों से सड़क तोड़ कर उफनाती हुई पास के मोहल्लों और गांवों के खेतों में बह चली। घंटे-घड़ियाल-शंखों का समवेत शोर बर्दाश्त के बाहर हो गया।

प्रभात फेरी करने वालों की अगुवाई में शहर और गांवों से निकले जत्थे मोमिनपुरा पर चढ़ दौड़े। सीवर के बजबजाते पानी में हिंदू और मुसलमान गुत्थमगुत्था हो गए। अल्लाह ने हताश लड़कों की दुआ कबूल कर ली थी।

E-mail: oopsanil@gmail.com

अंधेरी दुनिया के उजले कमरे में गुर्र-गों

राकेश तिवारी

पहले मुझे लगा था वह आलाप किसी अनाड़ी का है या कोई शास्त्रीय संगीत की खिल्ली उड़ा रहा है। पर जब मैंने उसे दम साध कर और मुट्ठियां भींच कर फटते हुए देखा और सुना, तब जाकर यक़ीन हुआ कि स्वर उसी का है। यह आलाप था ही नहीं। इसमें संगीत और संगीत में मनोरंजन का तत्व ढूंढना बेरहमी होती। उसका 'आ' जब लंबा खिंचता चला गया तो स्वर-दीर्घता के साथ आई भर्राहट से मुझे यक़ीन हुआ कि वह गा नहीं रही, बल्कि बदहवास-सी रो रही है। स्वर-भंग के बावजूद उसका आलाप रुकता नहीं था। जैसे किसी यांत्रिक खराबी का नतीजा हो। बगैर रोके अब इसका रुकना जैसे नामुमकिन हो, और इसकी आवृत्ति अनंत काल तक गूंजती रहने वाली हो।

एक परछाईं उस चीख़ से बेचैन हो उठी। इसलिए कि इससे उसकी अपनी रिदम टूट रही थी। परछाईं के इरादे में इससे खलल पड़ गया था।

यह घटना एक दृश्य की तरह घटी थी। इसी भू पर और इसी देश में घटित होने के बावजूद घटना का भूगोल इसे समझने में मेरी मदद नहीं कर रहा था। क्योंकि इस दृश्य के चारों तरफ कोई और दृश्य था ही नहीं। यह ऐसा ही था जैसे पृथ्वी एक कमरा हो और मैं उसकी परिधि पर छिपकली की तरह चिपका हूं और एक सूराख से पृथ्वी के अंदर झांक रहा हूं। बाहर शून्य है और अंदर आंख के दायरे में एक ही दृश्य आता है, बाकी सब अदृश्य है। कोई पुलिसिया डपट के साथ अगर पूछे कि मैं वहां कर क्या रहा था, तो कह सकता हूं कि किसी ने मुझे यहां लाकर पटक दिया था। या यह कि मेरी आंखों पर पट्टी बांध कर यहां लाया गया। यह भी कहा जा सकता है कि मैं यहीं था और मुझे यह दृश्य दिखा कर डराया जा रहा था। हालांकि बाल की खाल निकाली जाए तो यह भी हो सकता है कि मैं उसी युवती के साथ था। इस संभावना को भी नकारा नहीं जा सकता कि मैं परछाईं के साथ था। सच कहूं, मैं जो भी था, यह सब देख कर होश-हवास खो बैठा था। मेरी टांगें कांप रही थीं।

पर यहां दूर-दूर तक कोई नहीं था जो मेरी मौजूदगी को लेकर सवाल करे। यहां सिर्फ़ अंधकार था, मैं था, वह थी और थी एक परछाईं।

उसके अनवरत रुदन से कमरे के पर्दे थरथराने लगे थे। वह रुदन धीरे-धीरे चीख़ में बदलने लगा। अचानक खनखनाकर कुछ टूटने और बिखरने की आवाज़ उसकी चीख़ में घुलती-मिलती चली गई, जैसे ध्वनि तरंगों में विस्फोट की तीव्रता हो और शायद उसी से खिड़कियों के शीशे दरक गए हों। 'शायद' इसलिए क्योंकि यक़ीनी तौर पर कहा नहीं जा सकता कि खिड़कियों के शीशे चटख कर बिखर गए होंगे।

या फिर स्वर की तीव्रता से ही बिखरे हों और उसने फूलदान जैसी कोई भारी चीज़ उस साये की तरफ नहीं उछाली होगी और जो खिड़की से टकराई नहीं होगी।

यह चुटकियों में घटित हुआ। ठीक उस वक़्त जब मैंने कमरे की छत की तरफ नज़र उठाई, ताकि छत दिखाई दे, जिस पर लटके चमगादड़ फड़फड़ाकर उड़े हों। लेकिन जहां मैं था, वहां से छत नहीं दिखाई देती थी... किसी भी कोण से। न कोई चमगादड़ ही उड़ता हुआ मेरी आंख के दायरे में आया। दरअसल, वहां चमगादड़ हों यह ज़रूरी नहीं था, क्योंकि कमरे में रोशनी होने और उस रोशनी में परछाईं की हरकत साफ़-साफ़ दिखाई देने के बावजूद यह तय नहीं था कि यह रात का ही वक़्त है। बाहर कोई मुंडेर भी नज़र नहीं आती थी, जिस पर कोई कौआ कर्कश कांव-कांव के साथ तेज़ी से उड़ा हो और मैं यक़ीन के साथ इसे सुबह का वक़्त कह सकूं। और इसी गफलत में आंखों से उस दृश्य को पकड़ने में चूक हो गई जिससे मैं कांच के बिखरने की कोई ठोस वजह बयान कर सकूं या फिर यक़ीन के साथ यही बता सकूं कि कुछ और नहीं बल्कि कांच ही बिखरा था। अभी तो उसके रोने और चीख़ने की सही-सही वजह ही मुझे पता नहीं थी। सिर्फ़ एक अनुमान था।

सही वजह पता करने के इरादे से मैंने सूराख पर कान लगाया। वह सचमुच चीख़ रही थी। अब मैंने सूराख से आंख सटाई। इससे यह साफ़-साफ़ दिखाई दे गया कि चीख़ते हुए उसके गले की नसें फूल गई हैं। उसी तरह जैसे दमे की मरीज मेरी दादी की नसें खांसते-खांसते फूल जाया करती थीं और सांस उखड़ने लगती थी। दम साध कर चिल्लाने और पूरी शक्ति झोंक देने से उसकी सांस भी उखड़ती लग रही थी। उसके शरीर का सारा रक्त चेहरे पर आकर रुक गया था। अचानक उसकी भिंची हुई मुट्ठियां खुलीं और एक झटके में उसने अपना कुर्ता तार-तार कर दिया... बटन खोल कर उतार फेंकने की जहमत उठाए बगैर। उसका ऊपरी शरीर जिस अंतर्वस्त्र के सहारे अब भी नग्न होने से बचा हुआ था, उसने अगले ही क्षण उसे भी नोंच कर एक तरफ फेंक दिया।

अगर मैं इस लड़की से प्रेम करता होता और कोई दूसरा यह क़िस्सा बयान कर रहा होता तो मैं यक़ीन नहीं करता कि वह सीपियों-सी आंखों वाली लंबी-छरहरी युवती ऐसा कर सकती है, जो सभ्य और सुसंस्कृत भी लगती है। संस्कृति-रक्षण का भार चूंकि मेरे कंधों पर नहीं था, इसलिए मैंने उसकी हरकत का बुरा नहीं माना। मैं इस नतीजे पर भी कतई नहीं पहुंचा कि वह पागल है। हालांकि मैंने, ख़ुद अपनी आंखों से, उसे अपने आप को वस्त्रविहीन करते देखा था। और किसी स्त्री को ऐसा करते देखना मेरे जीवन में पहली बार घटा था। मैं अवाक् था। पर यक़ीन के साथ कह सकता हूं कि वह पागल नहीं थी। उसके कुर्ते में बिच्छू भी नहीं घुसा था। लेकिन कोई वजह तो थी। आख़िर क्यों उसने ख़ुद ही अपने शरीर के ऊपरी हिस्से को निर्वस्त्र कर दिया?

उसका अपने ही कुर्ते को तार-तार करना छिछोरों के लिए निश्चित ही सदमे की तरह होता, क्योंकि उसके ऐसा करने से परपीड़न या लज्जित करने का आनंद उनके हिस्से नहीं आता। सज्जनों के लिए धर्मसंकट की स्थित होती कि वे नज़रें फेर कर कनखियों से कैसे देखें। मैं अपनी जगह छिछोरे और सज्जन के बीच मानता था। मेरे जैसे लोग किसी को लज्जित नहीं करते और पीड़ा नहीं पहुंचाते, किंतु मज़ा लेने से भी नहीं चूकते। मेरे जैसे लोग कनखियों ने नहीं, सीधे देखते हैं। लेकिन फिर भी मेरा स्नायुतंत्र लूला हो गया था।

मुझे तेज़ झुरझुरी हो रही थी और हाथ-पैर इस कदर सुन्न हुए जा रहे थे कि लगा मैं कश्मीर में कहीं

हूं। लेकिन माथे पर पसीने की बूंदें भी थीं, जो साफ़-साफ़ तो नहीं लेकिन आशंका पैदा कर रही थीं कि कहीं मैं उत्तर प्रदेश के किसी शहर में तो नहीं हूं। मैं कहां हूं, यह जानने की कोशिश में अगर कानों को चौकन्ना करूं तो कहीं दूर से छप-छप की आवाज़ आने का भ्रम होता था और मैं यह अनुमान लगाने लगता कि कहीं गोवा या कन्याकुमारी में हूं, और यह जगह समुद्र के किनारे कहीं हो। हालांकि छप-छप की कोई आवाज़ दूर-दूर तक नहीं थी। बहरहाल, यह बिना किसी वजह के कोलकाता भी हो सकता था और इस घटना के भूगोल में जाने के लिए जबरन इसका इतिहास खोजने का प्रयास किया जाए तो इसका देश की राजधानी या उसके आस-पास का इलाका होना ज़्यादा तर्कसंगत लगता था।

पता नहीं। कुछ भी पता नहीं। क्योंकि बाहर घुप्प अंधेरा है। कोई अगर यह पूछे कि आपके हाथ में कितनी उंगिलयां हैं और आप एक हाथ में छह और दोनों मिला कर ग्यारह भी कहना चाहें तो, इसे कोई गलत साबित नहीं कर सकता था। हाथ को हाथ नहीं सूझता हो तो आंख को उंगलियां कैसे सूझेंगी? यह घुप्प अंधेरा कब से है, नहीं पता। पर सदियों पुराना लगता है। जैसे पीढ़ियों से यहां किसी ने सूरज देखा नहीं होगा। शायद जब पहली बार सूरज उगे तो लोग उसकी उजास से डर जाएं और इतना डर जाएं कि मर ही जाएं। ऐसे घुप्प अंधेरे समय में आप घड़ी देख कर समय नहीं बता सकते।

बहरहाल, यह क़िस्सा सिलसिलेवार इस तरह है कि... एक दीवार है। जिसको छूने से पता चलता है कि शायद दीवार ही है। वह वर्गाकार भी हो सकती है और अंडाकार भी। दीवार में कोई खिड़की नहीं है। शायद पहले खिड़की रही हो, लेकिन यहां रहने वालों की सुरक्षा के लिए उसे हाल ही में पाट दिया गया था। खिड़की के बगल में एक सूराख है, पर इतना छोटा कि छिपकली नहीं घुस सकती। शायद कोई आधे इंच का पाइप अंदर ले जाने के लिए या शायद बाहर निकालने के लिए छेद किया गया हो। या कौन जाने, छिपकलियों के अंदर झांकने के लिए ही किया हो... यह सोच कर कि छिपकली बयान नहीं दे सकती और उसकी उंगलियां फेसबुक पर पोस्ट नहीं लिख सकतीं।

उस दीवार के सूराख से झांकने पर पता चलता है कि यह किले की दीवार नहीं, किसी कक्ष की है। चूंकि सूराख की तरफ वाली दीवार पर पहले खिड़की रही होगी, इसलिए वहां अब भी सफेद पर्दे टंगे हैं। एक पर्दा कुछ हटा हुआ है और उसके हटने की वजह से ही वह युवती दिखाई देती है। हालांकि इस दृश्य में भी आधा दृश्यमान है तो आधा अदृश्य। क्योंकि आधे में पर्दे की ओट है। लेकिन उस आधे हिस्से को पूरी तरह अदृश्य इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि वहां परछाइयां मौजूद हैं, रोशनी के कारण जिनकी गतिविधि पर्दे के पार देखी जा सकती है। कमरे में, युवती के सिवाय कुछ भी नज़र नहीं आता। सिर्फ़ युवती के उल्टे हाथ वाली दीवार पर पेंटिंग जैसी कोई चीज़ टंगी है। दूर से, जहां मैं हूं, ऐसा लगता है कि उस पेंटिंग में कुछ अंक दर्ज हैं। पर वे निश्चित ही तारीखें नहीं हैं, क्योंकि तारीखों की पेंटिंग नहीं होती, कैलेंडर होते हैं। अंक इतने स्पष्ट हैं जैसे वे किसी तरह के उल्लंघन के ख़िलाफ़ ताकीद करते हों और उलझन से बचाने के लिए ही इतने स्पष्ट और चकमकार हों। इस अंकों से पटी पेंटिंग की पृष्ठभूमि में हल्के सलेटी रंग से बनी एक मानवाकृति है, जिसने गोल चश्मा पहना है। युवती असहाय होकर जब-जब उस पेंटिंग की तरफ देखती है, वह झट से बदल जाती है, जैसे लज्जित हो रही हो। तब वहां न मानवाकृति होती है और न उसका गोल चश्मा। इससे, उस चित्र के मक़बूल फिदा हुसेन की पेंटिंग होने का आभास होता है। पर यह इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वहां घोड़ा नहीं, बल्कि बकरी है। गोल और बड़ी-बड़ी आंखों वाली चितकबरी बकरी, दूर से जिसकी आंखें चश्मे का फ्रेम लगती हैं। और ये जो अंक दिखाई देने

का भ्रम है, वह संभवतः बकरी के लिए डाला गया चारे जैसा कोई झांसा हो।

इतने सारे भ्रम हैं और आशंकाएं हैं। इसी से संदेह होता है कि कहीं यह किसी अज्ञात चित्रकार की माया-रचना तो नहीं!

युवती के सामने वाले अर्द्ध अदृश्य, या यूं कहें कि अर्द्ध दृश्यमान हिस्से में एक अनवरत चल रहा छाया-नाट्य है और हैं आवाज़ें। पर वे आवाज़ें मनुष्यों की तरह नहीं हैं... सिर्फ़ किसी जानवर के गुर्राने जैसी गुर्र-गों होती है। आप अनुमान नहीं लगा पाते कि ये आवाज़ें किस जानवर की हैं। इनकी गुर्र-गों कुत्तों, भेड़ियों और लोमड़ियों से काफी मिलती है। पर यक़ीनन कुछ भी नहीं कहा जा सकता। यह भी नहीं कि ये संख्या में कई हैं या सिर्फ़ एक। इससे यह तय करने में काफी कठिनाई हो रही है कि यह जंगली जानवरों का सामूहिक हमला है या किसी जंगली हो गए पालतू पशु का एकल प्रयास। लेकिन, इससे भी ज़्यादा भ्रमित करने वाली बात यह है कि, आप यक़ीन नहीं करेंगे, कमरे की रोशनी से सफेद पर्दे पर जो परछाइयां बनती-बिगड़ती हैं वे हूबहू मनुष्यों जैसी हैं। मैं हैरान हूं। बेहद हैरान हूं कि मनुष्य किसी जानवर की तरह गुर्र-गों कैसे कर सकता है? और अगर जानवर ही है, तो हमलावर होने पर मनुष्य की तरह दो टांगों पर कैसे खड़ा हो सकता है?

बाहर किसी ट्रेन के धड़धड़ाने की आवाज़ नहीं है। कोई चौकीदार 'जागते रहो' की टेर नहीं लगा रहा। कोई कुत्ता भौंकता नहीं, सियार हुआ-हुआ नहीं करते। पानी बरस कर अभी-अभी थमा नहीं है, क्योंकि पानी बरसा ही नहीं है। नीला या बादलों से पटा आकाश भी नहीं है। इसलिए तारे नहीं टिमटिमा रहे और चांद न निकला है, न निकलने के आसार हैं। अमावस की रात है कि खग्रास, कोई नहीं जानता। चारों तरफ सिर्फ़ अंधेरा है और सन्नाटा है।

ये सन्नाटा, ये आवाज़ें, चमगादड़ों का भ्रम...यह कतई साबित नहीं करता कि यह कोई भुतहा दास्तान है। यह एक सत्य घटना है ... पर सत्य से थोड़ा दूर करार दिए जाने की सारी संभावनाओं से भरी हुई। इस घटना में सबसे स्तब्धकारी युवती का कुर्ता फाड़ना है। बल्कि यह मतिभ्रम पैदा करने वाला है। एक बार आपको लगता है कि 'ऐसा' है और दूसरे ही क्षण लगता है कि नहीं है।

इस क़िस्से में क़िस्सागोई जैसी किसी चटखारेदार शुरुआत का गवाह चूंकि कोई नहीं है, इसलिए इसे वहीं से बयान किया जा सकता है, जहां मेरी, यानी इस छिपकली जैसे प्राणी की आंख ने सूराख के अंदर झांका। हां, मैं एक सूराख से छिपकली की तरह ही अंदर झांक रहा था। या यूं कहा जाए कि अंदर के हालात देख कर मैं छिपकली हो गया था। आप मेरा सही-सही लिंग निर्धारण करने और मेरे नर-बोध को सहलाने के लिए मुझे 'छिपकला' कह सकते हैं। खैर, मैं इस घटना का आगे बयान करूं, इससे पहले, बेहतर यह होगा कि आप अपने दिमाग की स्लेट से एक वाक्य को मिटा दें कि युवती ने अपना कुर्ता तार-तार कर दिया। यूं मान लीजिए कि कहानी फिर से सिलसिलेवार शुरू हो रही है। एक छिपकले ने एक सूराख से अंदर झांका है, जहां एक युवती दिख रही है। उसने अभी तक अपना कुर्ता नहीं फाड़ा है और आपको जरा भी इलहाम नहीं हुआ है कि वह कुर्ता फाड़ सकती है।

हां, तो एक अंधेरी दुनिया के उजले कमरे में एक युवती खड़ी है। पता नहीं वह उसी का घर है या वहां लाई गई है। यह भी पता नहीं कि वह जबरन लाई गई या फुसला कर। वह बेहद डरी है। वह डरी हुई इसलिए है क्योंकि वह घिरी हुई है। पता नहीं उसे किसने घेरा है। क्योंकि उसके सामने जो है या हैं, वे दिखाई नहीं देते। बस, गुर्र-गों की आवाज़ें हैं। गुर्र-गों जब भी होती है, मैं पुतलियों को

छोटा-बड़ा करता हूं, ताकि कोई साफ़ आकृति दिखाई दे।... हां, दिखाई देने लगी। पर वह किसी पशु-मानव जैसी दीखती है। पशु-मानव को न मैंने कभी देखा है और न संभवतः उस युवती ने कभी देखा होगा। हम उसकी कल्पना कर सकते हैं, बस। इतना यक़ीन है कि वह ऐसा ही होता होगा। ऐसा ही, जो कभी पशु लगे और कभी मानव। जिसका सिर पशु का हो और धड़ मानव का। या जिसका धड़ पशु का हो और सिर मानव का।

मुझे सिहरन होने लगती है कि कहीं वह अकेली और निहत्थी युवती पशु-मानव के चंगुल में फंस तो नहीं गई? मुझे एक पुरा-आख्यान का स्मरण हो आता है। ख़ास तौर से उसका नरसिंह अवतार प्रसंग। पर यहां तो पशु-मानव दुर्बल को बचा नहीं रहा, बल्कि उसकी तरफ हमलावर निगाहों से देख रहा है। यह पशु-मानव सचमुच खूंखार लगता है।

पुतलियों को और सिकोड़ता हूं तो आकृति कुछ और स्पष्ट होने लगती है। उसके लंबे लहरिया केश काले दिखते हैं। पर यक़ीन के साथ नहीं कह सकता कि वे काले ही हैं। हो सकता है चटाई जैसे उन केशों में चमकदार सफेदी हो और वे परछाईं में काले नज़र आते हों... जैसे कि उसका चेहरा कालिख पुता लगता है। .....और यह उसके हाथ में क्या है? शायद कुछ नहीं है। वह आदतन अपने दाएं हाथ की मुट्ठी को भींचे हुए है। जैसे उसे कोई झंडा, डंडा या हथौड़े जैसी चीज़ थामे रहने की आदत हो। वह आकृति जब भी मिनमिना कर कुछ कहती है, तो वाक्य पूरा करते ही दाएं हाथ की मुट्ठी को धाड़ू से अपनी बाईं हथेली पर मारती है। इससे उसे थोड़ी तकलीफ हो रही है। या शायद याद आता हो कि उसके दाएं हाथ में कुछ नहीं है। और शायद इस बेवकूफी पर उसे शर्मिंदगी होती हो। वैसे, शर्मिंदगी होती होगी, यह मेरा अनुमान भर है। क्योंकि इस अनुमान के उलट छाया-नाट्य में उसका चेहरा सपाट लगता है। गोया, शर्मिंदगी उसे छू न पाती हो।

वह मिनमिनाती आवाज़ में हर बार जैसे आदेश देती है। आदेश देना भी शायद उसकी आदत है। वह 'खोल दो' जैसा कुछ कहती है। मानो, उससे किसी ने सआदत हसन मंटो की कहानी का नाम पूछा हो। पर कभी भी 'खोल दो', साफ़-साफ़ 'खोल दो' नहीं सुनाई देता। परछाईं शायद नाक से बोलती है, इसलिए आवाज़ में मिनमिन का स्वर इतना प्रबल है कि जब वह 'खोल दो' कहती है तो काफी हद तक वह 'तोल दो' जैसा सुनाई देता है। पर मैं यक़ीन से कह सकता हूं कि वहां चूंकि कोई तराजू नहीं है, इसलिए निश्चित तौर पर वह 'तोल दो' नहीं कह रही होगी। यह बात मैं इसलिए भी कह सकता हूं क्योंकि वह आकृति किसी कबाड़ी या कुंजड़े की नहीं लगती। परछाईं में भी साफ़-साफ़ पहचाने जा रहे उसके कोट से उसके रुतबे का अनुमान लगाना मुश्किल नहीं है। ऐसा रुतबा रद्दी या सब्जी तोलने वाले का यक़ीनन नहीं हो सकता।

वह परछाईं 'तोल दो' (जैसा सुनाई देता है) कहती हुई जब आगे बढ़ी तो पर्दे के एक कोने से उसकी थूथन बाहर झांकने लगी। थूथन उसकी वास्तविक थूथन थी या छद्म, यह संशय बहुत गहराई के साथ पैदा हुआ था। उसके लंबूतरे मुंह को आप सूअर से जोड़ कर देख सकते थे। यह जर्मन शेपर्ड या लोमड़ी की थूथन भी हो सकती थी। थूथन से कोई आधा फुट पीछे, उसकी आंखों से थोड़ा हट कर कुछ लटक रहा था। दरअसल ये उसके केश थे। उसके लहरिया केश गोल्डन रिट्रीवर के कानों की तरह लगते थे जो कनपटी पर झूल रहे थे। इससे उसके कान दिखाई नहीं देते थे। फिर भी मैं भरोसा कर सकता था कि पशु-मानव बहरा नहीं होता होगा।

उसने ज्यों ही 'गुर्र-गों' की, बिजली-सी चमक के साथ उसके दांत दिखाई पड़े। अरे बाप रे, यह कौन-सा प्राणी है जिसके दांत इतने लंबे हैं और जर्जर व घिसे हुए भी? लेकिन घिसे होने के बावजूद फाड़ने को आतुर हैं? यह सचमुच कोई पशु-मानव है। शायद पशु-मानव रिटायर दांतों से भी शिकार करता हो।

परछाईं अचानक बदल रही है। वह बड़ी होती जा रही है। उसकी थूथन पर्दे के पार निकलती चली जा रही है। वह इतनी लंबी हो गई है कि घड़ियाल का मुंह बनती जा रही है। मैं चूंकि छिपकला हूं, इसलिए अपने सरीसृप बिरादरी के बड़े भाई को देख मुझे बड़ी कोफ्त हो रही है। अपने आप को लानत देने का मन होता है... कि मैं, इसी परिवार का, मकोड़ों का शिकार करता हूं और यह मनुष्य की ओर टकटकी लगाए है। उस सरीसृप की खाल बेशर्मी की हद तक मोटी है और उसकी आंख बहुत ही शातिर। उसके मुंह से लगातार गुड़गुड़ की आवाज़ निकल रही है। मैं समझता हूं, यह उसका ठहाका है। पर यक़ीन से कैसे कहूं कि जब घड़ियाल स्तनधारियों पर घात लगाता है तो साथ में ठहाका भी लगाता है। नहीं, शायद वह अपनी ताकत का एहसास कराने के लिए गुड़गुड़ का स्वर निकाल रहा है।...या शायद कुछ और है। घड़ियाल अपने शातिर स्वभाव के विपरीत अपने पंजों से धरती को पीछे धकेलता हुआ आगे बढ़ने लगा है। वहां मिट्टी नहीं है, इसलिए धूल नहीं उड़ती। लेकिन मुझे लगता है धूल उड़ रही है। सब कुछ धूल-धूसरित और धुआं-धुआं हो रहा है। युवती की चीख़ तेज़ हो रही है और साये की गुड़गुड़। लगता है जैसे उन दोनों स्वरों की आवृत्ति को कई गुना बढ़ा दिया गया हो। मैंने अगर दीवार को पकड़ा न होता तो अपनी उंगलियां कान में घुसेड़ लेता।

घड़ियाल अचानक झपट्टा मार कर उस युवती की टांग खींच लेता है। यह सब सेकेंड के भी आधे हिस्से में होता है। इसलिए मैं यह साफ़-साफ़ नहीं देख पाता कि वह घड़ियाल का मुंह था कि मनुष्य का हाथ जिसने युवती को अपनी ओर घसीट लिया। अब गुड़गुड़ के साथ छीना-झपटी और युवती के चिल्लाने का स्वर गड्डमड्ड हो रहे थे। बस इतना पता चलता था कि चीख़ने का स्वर जनाना है और गुड़गुड़ का मर्दाना। मुझे पसीना छूट रहा था। कहीं सचमुच मैं दिल्ली में तो नहीं हूं? धरती हिल रही है। किंतु मुझे लगता है मैं किसी वाहन में सवार हूं। वह युवती भी। वह परछाईं भी।

एकाएक युवती ने अपने को मनुष्य के पंजे से मुक्त करा लिया। मनुष्य के पंजे का होना क्योंकि साबित नहीं हुआ है इसलिए आप कह सकते हैं कि उसने घड़ियाल के मुंह से ख़ुद को छुड़ा लिया। ऐसा लगा जैसे उसने दूसरे पाले में जाकर काफी देर तक कबड्डी-कबड्डी कहा और सांस टूटने से पहले अपने पाले में वापस आ गई। पर शायद यह कबड्डी की तरह आसान नहीं रहा होगा। कुश्ती जैसा कुछ तो हुआ होगा, क्योंकि उसकी सलवार जांघों के पास से फट गई थी और कुर्ता कई जगह से उधड़ चुका था। बाल अस्त-व्यस्त थे।

वह बुरी तरह हांफ रही थी। रुलाई दबाने के प्रयास में वह ज़्यादा कठोर हो गई थी। परछाईं फिर गुड़गुड़ कर रही थी। उसने अपनी थूथन फिर से पर्दे के पार निकाल दी थी। युवती अपने दोनों हाथ घुटनों पर टिका कर आगे की तरफ इस तरह झुक गई जैसे झपटने की बारी उसकी हो। साये ने फिर झपट्टा मारा। लेकिन युवती ने पैंतरा बदल कर ख़ुद को बचा लिया। उसने तुरंत ही एक और झपट्टा मारा और युवती की बांह पकड़ कर उसके कुर्ते के दाएं कंधे को नीचे तक उतार दिया। लेकिन वह युवती को घसीट कर अपने पाले में नहीं ले जा पाया।

युवती ने पेंटिंग की तरफ देखा, जैसे परछाईं को उसकी दुहाई दे रही हो। लेकिन परछाईं पर कोई

असर नहीं हुआ और पेंटिंग पर भी नहीं।

अगले ही क्षण उसने झपट्टा मार कर युवती को नीचे गिरा दिया और अपनी तरफ घसीटा। युवती फिर उसकी गिरफ्त से निकल आई। लेकिन इस बार उसके चेहरे और छातियों पर खरोंच के निशान पड़ गए थे। खरोंचों पर छोटी-छोटी बुंदकियों की तरह खून की लकीरें उभर आई थीं। युवती ने खरोंच पर हाथ फेर कर हाथ का मुआइना किया। हथेली पर खून के धब्बे नज़र आने लगे। खून देख कर पहले वह रुआंसी हुई और फिर अचानक क्रोध में फट पड़ी। वह दम साध कर चीख़ने लगी और चीख़ते हुए उसने अपना ही कुर्ता तार-तार कर दिया। अंतर्वस्त्र भी उसने ख़ुद ही नोंच कर एक तरफ फेंक दिया।

मैं गौर से देख रहा था। लेकिन उस निर्वस्त्रता का सूक्ष्मदर्शी चित्र दिमाग़ में बन नहीं रहा था। मानो, जुनून ने उठने से इनकार कर दिया था। निर्वस्त्र हुए अंग नग्न लगते नहीं थे। हालांकि वे थे और पूरी लपक के साथ लहरा रहे थे। पर उनका अश्लील वर्णन इसलिए संभव नहीं था, क्योंकि हुंकार की तरह जो चीख़ कांच के टुकड़े बिखेरती लग रही थी वह उसकी छाती से निकल रही थी। चीत्कार से वे अंग हिल रहे थे लेकिन फिर भी इतने दृढ़ और स्थिर लगते थे कि उनकी लपक विचलित नहीं करती थी। उनकी नग्नता में जाने क्यों इतनी गरिमा थी। उनका आवरणविहीन होना असहज और अस्वाभाविक नहीं लगता था। उनकी उन्मुक्ता रोचक घटना होनी चाहिए थी, किंतु लगती कतई नहीं। उनकी स्वच्छंदता किसी और की इच्छा या इजाजत की मोहताज नहीं थी। उन्हें स्वच्छंद करने के लिए वस्त्र आप ही फाड़ें ऐसे किसी नियम का उल्लंघन, उन्हें धारण करने वाली युवती ने खुल्मखुल्ला कर दिखाया था।

यहां, इस छिद्र में, मेरी आंख की जगह परमपूज्य छिद्रान्वेषी बाबाजी महाराज की आंख होती तो वे 'हरि ओम' कह कर मुस्कराते। उन्हें तसल्ली होती कि युवती ने अपनी जान बचाने के लिए 'आन' न्यौछावर कर दी। लेकिन, बाबाजी से मेरा अनुरोध है कि वे गौर से देखें। देखें कि भय से नहीं बल्कि क्रोध से उसकी छाती धौंकनी की तरह चल रही है। जैसे आबाद पहाड़ियों के बीच से ज्वालामुखी फूट पड़ा है। शायद इससे निकलने वाला गरम लावा परछाईं की तरफ बढ़ रहा है और इसीलिए वह पीछे हट रही है।

फर्ज कीजिए कि यहां छिद्रान्वेषी महाराज ही परछाईं के रूप में विराजमान हों और उबकाई ला देने वाला गुड़गुड़ का स्वर उन्हीं के मुखारविंद से निकल रहा हो!.....हरि ओम।

परछाईं का, जो इस वक़्त मनुष्य की तरह लग रही थी, मुंह खुला रह गया है। परछाईं को अगर उसके वास्तविक स्वरूप में देखा जा सकता, तो निश्चित ही उसके मुंह से लार गिरना रुक गया होता। चूंकि वह परछाईं थी, इसलिए सिर्फ़ उसका हाथ उठना और मुंह पर फिराना नज़र आता है। शायद वह पहले से गिर चुकी लार पोंछ रही है। लेकिन इस संभावना से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उसका हाथ पसीना पोंछने के लिए उठा हो। गुड़गुड़ का स्वर अब रुक गया है। शायद पसीना छूटने से परछाईं गुड़गुड़ करना भूल गई। मैं यह यक़ीन करना चाहता था कि वह एक सौ आठ अश्व-शक्तिधारी अजेय परछाईं भयभीत हो रही थी।

यह यक़ीन कर लेने की कोशिश में ही यहां मुझे एक और प्रसंग याद आता है... भगवानदास का। अज्ञात धंधे में अंधी कमाई करने वाले मेरे मुहल्ले के भगवानदास का। गुंडई और दबंगई में, उस इलाके में जिनका कोई सानी नहीं था। छोटे-मोटे मजूर, मिस्त्री, कामगार उनके घर के आस-पास से भूल कर भी नहीं गुजरते थे, भले लंबा रास्ता लेकर जाना पड़े। भगवानदास से काम के बदले पैसे मांगने का मतलब था आफत मोल लेना। मान लीजिए, उनके घर में कभी नलका खराब हो गया। उन्होंने प्लंबर बुलाया।

नलका ठीक कर प्लंबर ने पैसे मांग लिए तो आ गई मुसीबत। वे उलटा चढ़ बैठते कि उसने चूड़ी ज़्यादा कस कर उनका सैकड़ों का नुकसान कर दिया। वह सफ़ाई देता और भगवानदास गलती गिनाते। अंततः वह अपने गाल पर भगवानदास की उंगलियों की छाप लेकर लौटता।

एक बार एक राज मिस्त्री ने उनके घर की छत पर मरम्मत और पलस्तर का काम किया। जब पैसा देने की बारी आई तो उन्होंने डपट दिया। राज मिस्त्री गिड़गिड़ाया, 'बाऊजी, घरवाली बीमार है, आज पैसे तो चय्ये।' भगवानदास चिल्लाए, 'अबे, काम खराब कर दिया तो पैसे किस बात के?'

'देखो बाऊजी, पैसे तो देने पड़ेंगे।'

'देने पड़ेंगे? 'देने पड़ेंगे' कहता है? काम बिगाड़ कर ऐंठ दिखाएगा? तू जानता नहीं मैं कौन हूं? मुझे सोचने में एक सेकेंड नहीं लगता और छत से नीचे फेंक देता हूं... समझा!'

राज मिस्त्री ने भी सोचने में एक पल नहीं गंवाया। वह छत की मुंडेर की तरफ दौड़ पड़ा। दौड़ते-दौड़ते पलट कर बोला, 'पैसे नहीं दिए तो मैं ख़ुद कूद जाऊंगा।...चिल्ला के ये भी बताऊंगा कि जान क्यों दे रहा हूं।'

भगवानदास की समझ में नहीं आया कि दांव उलटा कैसे पड़ गया। वे उसे मनाने लगे। वे जितनी बार उसे मना कर लाएं, वह उतनी ही बार मुंडेर की तरफ दौड़े। आगे-आगे मिस्त्री, पीछे-पीछे भगवानदास। भगवानदास गिड़गिड़ाएं और मिस्त्री तेज़ स्वर में कहे... नहीं, अब तो तय कर लिया। मरना है, तो मरना है।

बहरहाल वह मरा नहीं। वह मरता या नहीं मरता, आप दोनों ही स्थितियों में इस क़िस्से को यहां अप्रासंगिक कहते। पर मैं आपसे सवाल करता हूं कि कोई कमज़ोर और निहत्था ऐसे आसन्न संकट की घड़ी में आख़िर कौन-सा हथियार चला सकता है?

युवती कुर्ता फाड़ कर चिल्लाई थी... आ देख। देख इन्हें। देख साले! हिम्मत है तो आ, आगे बढ़।

परछाईं कदम समेटने लगी, जबकि युवती बड़े-बड़े डग भर रही थी। उसकी चीख़ से परछाईं के पैर डगमगा रहे थे। वह बचाव की मुद्रा में आ रही थी। उसे युवती का अर्धनग्न शरीर डराने लगा था। उसका साहस जवाब दे रहा था। युवती 'मां... बहन... बेटी' जैसा कुछ कह रही थी, लेकिन साफ़-साफ़ सुनाई नहीं देता। शब्दों को स्पष्ट सुनाई देने में मानो संकोच हो रहा हो। जैसे वे 'खोल दो' से भी ज़्यादा मारक हों।

समय जैसे रुक गया है। शायद यह कभी ख़त्म न होने वाली रात थी, जिस रात की कोई सुबह नहीं थी। नहीं, शायद थी। क्योंकि अभी-अभी ऐसा लगा कि उसकी चीख़ से अंधेरे की चादर फट जाएगी। शायद यह अंधेरा इसीलिए इतना घना है, ताकि वह अपने कुर्ते के बाद अंततः अंधेरे को फाड़ दे।

पर अफसोस, कुर्ते के बाद उसने क्या फाड़ा, दिखाई नहीं दिया। अंदर झांकने का वह अकेला सूराख बंद हो चुका था। उसके आगे कोई काला पर्दा-सा लग गया था। शायद अंदर रोशनी गुल हो गई थी। सूराख के साथ कान सटाने पर सिर्फ़ आख़िरी बार जनाना आवाज़ में 'तेरी मां की' और दबी हुई मर्दाना आवाज़ में 'आह' सुनाई दी थी।

नोट : इस घटना का सत्य से कोई लेना-देना नहीं है। समूचे घटनाक्रम को रचने के लिए जिन पात्रों का सहारा लिया गया है वे सभी काल्पनिक हैं। अगर यह कहानी किसी व्यक्ति या व्यक्तियों अथवा घटनाओं से मेल खाए तो इसकी सारी जिम्मेदारी उन लोगों की होगी जो जन्मकुंडलियों की तरह बेवजह घटनाओं का मिलान करते हैं।

मो. : 09811807279

ज़ब्तशुदा नाटकों पर अनूठी शोध दृष्टि

मुरली मनोहर प्रसाद सिंह

'सितम की इन्तिहा क्या है' नामक पुस्तक आधुनिक हिंदी साहित्य के इतिहास लेखन के लिए पर्याप्त नयी सामग्री को संकलित कर नयी अंतर्दृष्टि प्रदान करने के उद्देश्य से श्री सत्येंद्र कुमार तनेजा ने तैयार की है और इसका प्रकाशन राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय ने किया है। पूर्वपीठिका और खंड-1 के अंतर्गत 1857 के प्रथम राष्ट्रीय स्वाधीनता आंदोलन से लेकर भगत सिंह और चंद्रशेखर आजाद तक विशेष रूप से पृष्ठभूमि और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध चल रहे मुक्तिसंग्राम की गाथाओं के राष्ट्रीय उन्नायकों पर विस्तार से श्री सत्येंद्र कुमार तनेजा मूल्यांकनपरक आलेखन प्रस्तुत करते हैं। यह सामग्री 128 पृष्ठों में फैली हुई है।। इसके बाद खंड-2 में सात ज़ब्तशुदा हिंदी नाटकों के मूल पाठ के साथ नाटकों के मूल पाठ तो दिये ही गये हैं, इन नाटकों की कथावस्तु, चरित्र, संवाद तथा नाट्यशिल्प पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। यह सामग्री 129 पृष्ठ से 532 पृष्ठ तक अर्थात लगभग 404 पृष्ठों में तत्कालीन संदर्भों का भरपूर विवेचन भी करती है।

जिन सात ज़ब्तशुदा नाटकों के मूल पाठ दिये गये हैं, उनमें ठाकुर लक्ष्मण सिंह का नाटक 'कुली प्रथा' (1916), किशनचंद जेबा का नाटक 'ज़ख़्मी पंजाब' (1922), देवदत्त का नाटक 'शासन की पोल' (1922), पांडेय बेचन शर्मा उग्र का नाटक 'लाल क्रांति के पंजे में' (1924), गोविन्द राम सेठी का नाटक 'बरबादिए हिन्द' (1929), किसी अज्ञात लेखक द्वारा लिखित नाटक 'रक्तध्वज' (1931), और बुद्धिनाथ झा द्विज 'कैरव' का नाटक 'लवण लीला' (1931) शामिल हैं। नाटकों के मूल पाठ हिंदी पाठकों को अभी तक उपलब्ध नहीं थे। इन नाटकों की खोज कैसे की गयी, ये नाटक अपनी संप्रेष्य कथावस्तु के लिहाज से स्वाधीनता संघर्ष के किन-किन पहलुओं को उठाते हैं, इन नाटकों के चरित्र और पात्र किन मुक्तिकामी प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व करते हैं और नाटकों की रचना प्रक्रिया में किन-किन महत्वपूर्ण घटनाओं को समेटा गया है—इन सभी संदर्भों की विवेचना स्वयं सत्येंद्र कुमार तनेजा ने विस्तारपूर्वक की है। ब्रिटिश औपनिवेशिक राजसत्ता द्वारा इन नाटकों पर लगाये गये प्रतिबंधों के ऐतिहासिक साक्ष्य प्रस्तुत करने के क्रम में बताया गया है कि अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर पाबंदियां सिर्फ़ लेखन तक सीमित नहीं थीं बल्कि इन नाटकों के रंगमंचीय प्रस्तुतीकरण पर भी दमनकारी प्रतिबंध लगा दिये गये थे।

खंड-3 के अंतर्गत तीन परिशिष्टों में हिंदीतर ज़ब्तशुदा नाटकों में बांग्ला, मराठी, गुजराती, तेलुगु,

---

* सितम की इन्तिहा क्या है?, लेखक : सत्येंद्र कुमार तनेजा, प्रकाशक : राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय, नई दिल्ली

कन्नड़ और उर्दू के प्रतिबंधित नाटकों के बारे में विस्तार से बताया गया है। इसके अलावा ज़ब्तशुदा हिंदीतर नाटकों के नाम और रचनाकार बताने के क्रम में इन नाटकों के आमुख और इन पर लिखी गयी समीक्षात्मक टिप्पणियां भी प्रस्तुत की गयी हैं। इन्हीं परिशिष्टों में विस्मयकारी प्रकरण के अंतर्गत नाटकों पर प्रतिबंध का इतिहास बतलाया गया है, हिंदीतर नाटकों के मुख्य चरित्रनायकों का उल्लेख किया गया है, कुछ तत्कालीन समाचारपत्रों की रिपोर्टें दी गयी हैं, राष्ट्रीय गायन का हवाला दिया गया है, क्रांति का विचार और संस्कृत साहित्य पर दृष्टिपात किया गया है, क्रांतिकारी आंदोलन और हिंदी साहित्यकारों की भूमिका का आकलन किया गया है। परिशिष्ट-3 में कुछ चुने काव्यांश, पोस्टर और किताबों के मुख पृष्ठ यथावत् ऐतिहासिक प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत किये गय हैं। परिशिष्ट के अंतर्गत सबसे अंत में हिंदी साहित्यिक कृतियों अथवा नाटकों पर प्रतिबंध के इतिहास को लेकर प्रचलित भ्रांतियों को निर्मूल करने के उद्देश्य से सत्येंद्र कुमार तनेजा यह बताते हैं,

> 'हिंदी साहित्य के लेखन-संसार में जब कभी किसी रचना पर प्रतिबंध लगने की बात उठती है, सबसे पहले 1909 में ज़ब्त हुए नवाब राय, प्रेमचंद के कहानी संग्रह 'सोज़े वतन' को याद किया जाता है। वस्तुस्थिति यह है कि माधवराव सप्रे की कृति 'स्वदेशी आंदोलन और बायकाट' अर्थात 'भारत की उन्नति का एकमात्र उपाय' 1906 में ज़ब्त हुई। नाट्य लेखन पर प्रतिबंध लगने की शुरुआत वृन्दावनलाल वर्मा द्वारा 1909 में लिखित 'सेनापति ऊदल' नाटक से हुई। बाद का क्रम इस प्रकार है :
>
> 1. लाडली प्रसाद श्रीवास्तव, झांसी की रानी, 1924-25
> 2. तुलसीदत्त शैदा, प्रायश्चित का फल, 30 का नाटक
> 3. सेठ गोविन्द दास, प्रकाश नाटक, 30 का दशक
> 4. सेठ गोविन्द दास, सिद्धांत-स्वातंत्र्य, 30 का नाटक
> 5. हरिकृष्ण प्रेमी, स्वर्णविहान, 1930

632 पृष्ठों की इस पुस्तक में दी गयी सामग्री से यह स्पष्ट हो गया है कि आचार्य रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखित 'हिंदी साहित्य का इतिहास' आधुनिक काल के विभिन्न पहलुओं को निहायत अपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करता है। आचार्य शुक्ल के बाद के साहित्यिक इतिहासकारों का यह दायित्व बनता है कि वे सत्येंद्र कुमार तनेजा की इस पुस्तक की मदद से साहित्यिक इतिहास को सर्वांग संपूर्ण रूप में प्रस्तुत करने के लिए नये सिरे से इतिहास-ग्रंथों का पुनर्लेखन करें।

प्रतिबंधित नाटकों के पाठ प्रस्तुत करने के क्रम में शोध और अन्वेषण की नयी परंपरा का सूत्रपात करने की दृष्टि से 'सितम की इन्तिहा क्या है' पुस्तक अपने आप में नयी मिसाल और चुनौती प्रस्तुत करती है। साहित्यिक इतिहास को नयी सामग्री के आलोक में देखने की प्रेरणा देने वाली यह पुस्तक अभूतपूर्व महत्व रखती है।

भाषा बोलती उतना नहीं, जितना देखती है*

मुकेश मिश्र

निर्मला गर्ग ने बोधि प्रकाशन, जयपुर से प्रकाशित अपने चौथे कविता संग्रह *दिसंबर का महीना मुझे आख़िरी नहीं लगता* को 'उस दिन के लिए' समर्पित किया है 'जब किसान आत्महत्या नहीं करेंगे।' इस समर्पण से ही जाहिर है कि निर्मला गर्ग उन कवियों में हैं जो कविता में वैचारिकता के घोर पक्षधर हैं और अपने आग्रहों व सरोकारों को कविता में दो-टूक तरीके से अभिव्यक्त करते हैं। यह दिलचस्प है कि निर्मला गर्ग की कविता में इतिहास भी है और ऐतिहासिक स्थल व मौके भी हैं, तो मौजूदा समय की महत्वपूर्ण घटनाएं भी हैं लेकिन ऐतिहासिक घटनाओं-स्थलों-मौकों और मौजूदा समय की महत्वपूर्ण घटनाओं के जरिये उनकी कविता में आकलन अपने समय का ही हुआ है। 'पुष्कर', 'विवेकानंद रॉक', 'चीन की दीवार', 'ग़ाज़ा पट्टी', 'सिनैगॉग', 'लैंसडाउन', 'लाल चौक', 'सूर्य' शीर्षक कविताओं में इस तथ्य-भाव को देखा/पहचाना जा सकता है। 'पुष्कर' में ज्ञान की देवी सरस्वती के ख़ुद के साथ किए गए पिता के अपराध पर चुप रहने को लक्ष्य करते हुए सरस्वती के लिए उनका सवाल जिस तरह आया, वह उल्लेखनीय है :

> पत्ते के दोने में श्रद्धालु दीया जलाते हैं
> तैरते हैं वे दीये जल में
> उनका उजास
> तुम्हारे अंधेरे बरामदे तक आता है क्या सरस्वती?

निर्मला गर्ग की कविता का बहुत स्पष्ट और लगभग केंद्रीय सरोकार अपने समय का समाज ही है। उसमें व्याप्त शोषण, हिंसा, गैरबराबरी और परतंत्रता की, उसमें समाहित ताकत और सत्ता के आतंक की निर्मला गर्ग ने अपनी कविता में लगातार, गहरी संवेदनशीलता और समझ के साथ, बखान और पड़ताल की है। हमारी दुनिया, जैसा कि टॉमस मान ने कहा है, एक ऐसी दुनिया है जिसमें मनुष्य की नियति अपने को राजनीतिक शब्दावली में व्यक्त करती है। राजनीति को दरकिनार रखकर समकालीन सच्चाई का कोई साक्षात्कार सार्थक और प्रासंगिक नहीं हो सकता है। इस संदर्भ में निर्मला गर्ग का मूल्यबोध उत्कट रूप से उनकी कविता में मिलता है। ऐसे समय में, जबकि अधिकतर कवि राजनीति और राजनीतिक घटनाओं व तथ्यों से या तो बचते हैं या अमूर्त व मिथिकल भाव से उसे छूने का प्रयास-भर करते हैं...निर्मला गर्ग

---

* दिसंबर का महीना मुझे आख़िरी नहीं लगता : निर्मला गर्ग, बोधि प्रकाशन, जयपुर

ठोस सच्चाई के साथ उसे अभिव्यक्त करती हैं। वह यथार्थ को जैसा पाती हैं वैसा ही उसे समझने और विश्लेषण करने की कोशिश करती हैं और इस कोशिश में उनकी कविता का एक बड़ा हिस्सा अनुभव की अनथक व्याख्या और पड़ताल का उत्तेजक साक्ष्य प्रस्तुत करता है। जैसे 'भाई वाले घरों में बहनें रहती हैं पार्श्व में' शीर्षक कविता में :

देश में प्रधानमंत्री बनी थी एक स्त्री
संयोग से उसके भाई नहीं था
उसकी पौत्री लायक है भाई से ज़्यादा
उसे पीछे कर दिया गया

स्त्री के साथ होते इस भेदभाव को 'सूर्य' शीर्षक से कोणार्क के सूर्य मंदिर के संदर्भ में लिखी कविता में इस तरह शब्द मिले :

मुख्य मंदिर से थोड़ी दूरी पर एक छोटा स्थापत्य है
वीरान ... उपेक्षित सा
सूर्य पत्नियां मायादेवी और छायादेवी का मंदिर है यह
गाइड ने बताया

'सूर्य' शीर्षक कविता की इन पंक्तियों से ठीक पहले की पंक्तियां भी गौर करने लायक हैं :

ऐश्वर्य-सत्ता और राज्य-सत्ता दोनों मिलकर
आम आदमी को कुचल रही हैं
यह तथ्य तेरहवीं सदी में जितना सच था
उतना ही सच आज भी है

निर्मला गर्ग की कविता उपलक्षित रूप में कविता के लिए विचार-प्रणाली की प्रासंगिकता के सवाल को मुखर और सार्थक तरीके से रेखांकित करती है। ऐसा करते हुए उन्होंने अपनी कविता में अपने आस-पड़ोस की चीज़ों को नए ढंग से पहचानने की कोशिश की है, और ऐसे विषयों पर भी कविता लिखी है जो न तो परंपरागत रूप से कविता के विषय रहे हैं और न जिन्हें उनके समकालीनों और/या उनके बाद उभरे कवियों ने ही छूने की कोशिश की है। और बात सिर्फ़ विषय की भी नहीं है, बल्कि तेवर की भी है। दरअसल अपने दो-टूक तेवर के कारण ही - कविकर्म और जीने के बीच, शब्द और कर्म के बीच जो फांक हम देखने-मानने के अभ्यस्त हैं, निर्मला गर्ग की कविता उससे अछूती है। यह भी एक कारण है कि उनकी कविता का केंद्रीय मूल्य साहस का है। 'हम हत्यारों का स्वागत नहीं करते' शीर्षक जैसी कविता निर्मला गर्ग ही लिख सकती हैं। इस कविता में वह पूछती हैं 'बुश, तुम भारत क्यों आये हो?' क्योंकि :

हमें न्याय चाहिए शांति चाहिए और चाहिए समानता
इनमें से कुछ भी नहीं है तुम्हारे पास
फिर तुम क्या करने आए हो?

इसी तरह 'काठमांडो बदल रहा है' शीर्षक कविता में 'प्रधानमंत्री प्रचंड' को संबोधित करते हुए यह कहना गौरतलब है :

सगरमाथा के देश में
अर्थव्यवस्था को भी दिखाओ धूप
राजाओं राणाओं के सिंहासनों के नीचे
बुसती रही है वह

निर्मला गर्ग की कविता ने पत्रकारिता की भाषा और दैनंदिन विषय-वस्तु को कविता बनाने की अक्सर ही जो चेष्टा की है, उसमें कविता को सच्चाई की प्रतिनिधि और परिवर्तन की साक्षी के रूप में देखने के उनके विश्वास के संकेत मिलते हैं। इसी विश्वास के चलते उन्होंने कविता पर कई कविताएं लिखी हैं। ऐसे समय में जबकि विज्ञान की शब्दावली और चिंतन-पद्धति का हमारे सोच-विचार के सभी क्षेत्रों पर गहरा और शायद निर्णायक प्रभाव है, निर्मला गर्ग अपनी एक कविता में कहती हैं :

अच्छे दिनों में ज़रूरी है कविता
बुरे दिनों में और ज़रूरी हो जाती है कविता
बुरे दिन अभी समाप्त नहीं होंगे,
अभी और ज़रूरी होगी कविता सबके लिए।

सचमुच, क्योंकि जीवन सिर्फ़ एक भौतिक तथ्य भर नहीं है और न सिर्फ़ भौतिक तथ्यों का अध्ययन करने वाले औजारों से उसका पूरा अध्ययन ही किया जा सकता है। आज की अंधाधुंध उत्पादन और उपभोक्ता प्रक्रिया को देखें तो एक अजीब तरह के अपव्यय का अहसास होता है। चीज़ों की बहुलता हमें मानवीय अर्थों में समृद्ध बना रही है या हमारे बीच दूरियां बढ़ा रही है - इस सवाल की छानबीन हमें एक ऐसी जगह ला कर खड़ा करती है जिसका ताल्लुक गहरे आत्मपरीक्षण से है। यहीं कविता हमारी मदद करती है। वह हमारी संवेदना का विस्तार करती है और हमारी उस दृष्टि को बदल देती है जिससे अब तक हम चीज़ों को देखते आ रहे थे। इस नाते लेखन को एक सामाजिक दायित्व के रूप में पहचाना गया है। इसी तथ्य को अपनी एक अन्य कविता में निर्मला गर्ग इस तरह कहती हैं :

कविते! तुम्हारी उदात्तता के क्या कहने
हाथ पकड़कर हमारा तुम बीहड़ में घुस जाती हो
वह बीहड़ फिर पूंजीवाद का हो
या रिश्तों का
खोलती हो पोल-पट्टी सत्ता के शतरंज की
आंखें यदि खुली हैं तो देख सकते हैं लोग
तुम उनके बीच हो
लगे हैं जो अस्तित्व बचाने की जद्दोजहद में
जुबान हो उनकी
जिन्हें मुंह बंद रखना सिखाया गया गर्भ से ही
उनका सम्मान हो और संघर्ष भी
पददलित हुए जो सदियों से।

कविता से हम अपने जीवन-संघर्ष में मदद की उम्मीद करें, यह कोई बेजा बात नहीं है। लेकिन यह मदद कैसी होगी और किन स्तरों पर, यह ज़रूर समझने की बात है। यह एक सार्वभौमिक स्वीकार है कि कविता हमें जीवन के साथ, जीवन के उद्देश्य के साथ जोड़ती है। जीवन की अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में संसार को समझने/पहचानने की दृष्टि देती है। कविता की इस भूमिका को पहचानते हुए ही अपनी एक अन्य कविता में निर्मला गर्ग कुछ कुछ खीज़ और निराशा के साथ कहती हैं :

कविता को तो हम लगातार बाहर धकेलते जा रहे हैं
अपनी दिनचर्या से

एक अन्य कविता में जैसे वह उलाहना-सा देती हैं :

कविता तुम सिर्फ़ प्रश्न पूछती हो
सुरक्षित दूरी से।

इस सब से कविता में चीज़ों और हलचलों के रोजमर्रा संसार के गहरे ऐंद्रिय अहसास के प्रति उनकी संवेदना का सुबूत ही मिलता है। ऐसी ऐंद्रियता निर्मला गर्ग की कविताओं में अक्सर देखने को मिल जाता है। लगभग अमूर्त लगते दृश्यालेख को अपनी संवेदना के सहज ताप से मूर्त करना उनका मिज़ाज़ जैसा रहा है, जिसे उनके इस नए संग्रह की कविताओं में भी पाया जा सकता है :

जिस तरह रात के भीतर रात होती है
बरसातें बरसात के अंदर
शहर की देह में एक और शहर होता है
उसी तरह एक मैं हूं अपने भीतर

अपने आसपास के प्रति संवेदनशीलता और जो दिखता या महसूस होता है उसे भाषा में सहेज और दिखा पाना आसान नहीं है। हम अपने आसपास ऐसी कविताओं का ढेर पाते हैं जो बिंबों और रूपकों के व्यापक इस्तेमाल के बावजूद हमें साफ़-साफ़ कुछ दिखा नहीं पातीं। ऐसे में निर्मला गर्ग की कविताएं पढ़ना कई मानों में दृष्टिमयी रचनाएं पढ़ना है, वह कविता को जैसे उसकी स्वाभाविक दृष्टि वापस देना है। निर्मला गर्ग की कविताओं में भाषा 'बोलती' उतना नहीं है जितना 'देखती' है और उसके काव्य-प्रभाव में हम भी अपने देखने की शक्ति को अधिक एकाग्र और सक्रिय कर पाते हैं :

बादल तुमसे लिपट लिपट जाते हैं
सुनाते हैं वे अपनी आवारगी की कथाएं तुम्हें
हवा जिन्हें लिपिबद्ध करती है

तुम्हारे आसपास घास पत्ते और छोटे छोटे नारंगी फूल खिले हैं :
जिस मिट्टी ने इन्हें जन्म दिया
उसका बचपन सुखद रहा होगा

निर्मला गर्ग की सजग संवेदनशीलता का दुर्लभ पक्ष उन कविताओं में मिलता है जो उन्होंने अपने काम और संघर्ष से अपनी पहचान बनाने वाले आम लोगों पर लिखी हैं और या जिनमें मामूली समझे जाने वाले लोगों का जिक्र या संदर्भ आया है। ऐसे लोगों का जो धड़कता संसार उनकी कविता में है वह यूं

तो हमारी रोजमर्रा की जिंदगी और उसके गहनतम अनुभवों में शामिल संसार ही है, लेकिन निर्मला गर्ग की कविता में कुछ कुछ नाटकीयता के बावजूद वह जिस आत्मीयता के साथ अभिव्यक्त होता है, उसके चलते उनकी कविता एक भिन्न किस्म का अहसास पैदा करती है :

हमारी मुसाफिरगिरी का हनीफ सबसे जीवंत अवयव है
याद आयेगा वह हमें
नदी पहाड़
घास मैदान
चीड़ बर्फ से ज़्यादा

यह अहसास इस बात की तरफ ध्यान खींचता है कि निर्मला गर्ग मात्र विचार की ही नहीं, अनुभूति की भी कवि हैं। उनकी कविता में अनुभूतिपरकता, विचारशीलता, अहसास और समझ एक-दूसरे से घुले-मिले हैं और इसीलिए उनकी कविता बौद्धिक और भावात्मक स्तर पर लगभग साथ-साथ संयोजित और सक्रिय दिखती है। 'मछली मारने का चीनी जाल' शीर्षक कविता की यह पंक्तियां गौर तलब हैं :

पूर्णिमा की रात
उद्वेलित होता है जब समुद्र
भर जाता है जाल मछलियों से
चांदनी फिसल रही होती है उन पर

सोचती हूं मछलियों से पूछूं
जाल के बारे में वे क्या सोचती हैं
उसमें फंस जाना अपनी नियति मानती हैं
या बाहर आने का स्वप्न भी देखती हैं?

इसी 'स्वप्न' को निर्मला गर्ग अपनी कविता में तरह-तरह से 'देखती' हैं, और यही देखना उनकी कविता को जीवन के साथ और जीवन के प्रति पारदर्शी और दायित्वपूर्ण बनाता है।

मो. : 09871008424

'हल्ला बोल' उत्सव

अशोक तिवारी

1 जनवरी, 1989 को जन नाट्य मंच जब झंडापुर, ग़ाज़ियाबाद में नाटक *हल्ला बोल* कर रहा था, तभी कांग्रेस आई समर्थित गुंडों ने हमला किया गया। इस हमले में जन नाट्य मंच के संयोजक एवं संस्कृतिकर्मी सफ़दर हाश्मी और मज़दूर राम बहादुर की हत्या हुई। ये हमला न सिर्फ़ किसी नाटक या किसी ग्रुप(मंडली) पर था बल्कि ये हमला एक विचारधारा पर था। ये हमला मिल मालिकों के हितों पर चोट करने वालों पर था, ये हमला उन लोगों पर था जो मेहनतकश के हक़ में खड़े होकर उनकी आवाज़ में आवाज़ मिलाते हैं। ये हमला पूंजीवादी ढांचे को तोड़कर समतावादी समाज स्थापित करने वालों पर था। ये हमला उन सांस्कृतिक मूल्यों पर था जो शोषण और अन्याय पर आधारित व्यवस्था के ख़िलाफ़ एकजुट होने की बात करते हैं।

इस दिन को 1990 से हर साल उसी जगह पर जन नाट्य मंच और सी.आई.टी.यू. शहीद दिवस के तौर पर मनाते हुए साझा कार्यक्रम आयोजित करते हैं। जनम पिछले चालीस सालों से जनता के बीच, जनता के मुद्दों को लेकर जनवादी संस्कृति के प्रचार-प्रसार में लगातार लगा हुआ है। सफ़दर हाश्मी ने कहा था 'जनम के नाटकों का काम एक स्वस्थ मनोरंजन के साथ-साथ जनता को जनवादी जुझारू संगठनों के पीछे लामबंद करना भी है।'

इस साल सफ़दर हाश्मी के 25वें शहादत दिवस के मौक़े पर जनम और सी.आई.टी.यू. (सीटू) ने तय किया कि इस दिन को सिर्फ़ किसी दिवस तक सीमित न करके पूरा साल 25 वें शहादत वर्ष के तौर पर मनाया जाये, जिसमें कलाकार और मेहनतकशों की एकजुटता को मज़बूत करने के अपने संकल्प को दोहराते हुए अलग-अलग इलाक़ों में सांस्कृतिक गतिविधियां चलें।

इसके लिए कार्यक्रमों की शृंखला की शुरुआत 26 अक्टूबर, 2013 का होने वाले सेमिनार के साथ हुई। ये सेमिनार अन्य सेमिनारों से कई मामलों में भिन्न था जो ग़ाज़ियाबाद शहर की मीनामल धर्मशाला में आयोजित किया गया। इसमें वक्ताओं के साथ-साथ श्रोताओं की भागीदारी को भी सुनिश्चित किया गया था। सेमिनार का विषय था, 'मज़दूर आंदोलन में संस्कृति की भूमिका।' इसमें वक्ता के तौर पर पटना(बिहार) प्रेरणा के साथी इमाम हुसैन तथा भोपाल से सीटू उपाध्यक्ष बादल मौजूद रहे जिन्होंने अपने निजी अनुभवों के साथ-साथ मज़दूर आंदोलन में संस्कृति की भूमिका पर अपनी बात को रखा। बादल सरोज ने अपने विभिन्न तजुर्बों को आंदोलन के साथ जोड़कर अपनी बात कही। वक्ताओं के बोलने के बाद सेमिनार में मौजूद रिस्पोंडेंट के तौर पर कई श्रोताओं ने इसी संदर्भ को आगे बढ़ाते हुए और अपने

अनुभवों को सामने रखते हुए मौजूदा परिस्थितियों पर टिप्पणी की। सेमिनार की अध्यक्षता विख्यात कवि एवं मार्क्सवादी आलोचक कांतिमोहन ने की। विभिन्न क्षेत्रों में तीन सेमिनारों की शृंखला में यह पहली थी। अगला सेमिनार मई 2014 में मोदी नगर में होने के लिए प्रस्तावित है।

अगले कार्यक्रम के तौर पर दिसंबर में बड़े-बड़े पपेट्स की मदद से अंबेडकर पार्क झंडापुर में 'स्पोर्ट्स डे' मनाया गया, जिसमें जनम के कलाकारों के साथ-साथ बहुत से स्थानीय बच्चों को इसमें शरीक़ किया गया। 100 मीटर की दौड़, बाधा दौड़ आदि में दर्शकों ने बढ़-चढ़कर हिस्सा लिया। वहीं इसी पार्क में आयोजित एक 'मेला' में दिनभर बहुत सी गतिविधियों को अंजाम दिया गया। गीतों, क्लाथ पेंटिग, मेकअप आदि के साथ-साथ जादूगरी के खेल आयोजित किए गए। यह मेला रविवार को आयोजित किया गया। इन सभी कार्यक्रमों को देखने के लिए सैकड़ों की संख्या में लोग आए। बच्चों की भरमार थी। कार्यक्रम की शुरुआत करने से पहले झंडापुर की गलियों में बड़े बड़े मास्क पहनकर जनम के कलाकार घूमे।

अर्थला, नंदग्राम, कड़कड़ मॉडल आदि विभिन्न इलाक़ों में नुक्कड़ नाटक की प्रस्तुतियां की गईं। झंडापुर और आसपास के इलाक़ों के बारे में लागों को जानने तथा इन जगहों के इतिहास और भूगोल की व्यापक जानकारी के लिए 'इतिहास' की स्मिता वत्स की देखरेख में कई हिस्ट्री वॉक का आयोजन किया गया। इसमें ख़ासतौर से उस इतिहास के बारे में जो कई कारणों से सामने नहीं आ पाता, बातचीत के ज़रिए सामने लाया जाता है। यह अनुभव अपने आप में अनूठा रहा।

स्थानीय स्कूली बच्चों के लिए जन नाट्य मंच हर साल दो दिन की एक कला कार्यशाला का आयोजन करता है। इसकी समयावधि भी क़रीब-क़रीब तय होती है - दिसंबर का आख़िरी हफ़्ता। इसमें तरह-तरह की गतिविधियों के ज़रिए बच्चों के साथ खेल किए जाते हैं। क्ले मॉडलिंग, वॉल पेंटिंग, स्टोरी टैलिंग, पेपर फ़ोल्डिंग, गाना इत्यादि के ज़रिए बच्चों के साथ ख़ूब मज़ा किया जाता है। बच्चे भी इन गतिविधियों में इस क़दर रमे होते हैं कि एक-एक गतिविधि को कई-कई बार करना चाहते हैं। इन गतिविधियों को सुचारु करने में जनम के साथियों के अलावा विद्यालय के टीचर्स एवं बी. एलएड. की छात्राओं की प्रमुख भूमिका होती है। इसी के साथ-साथ स्थानीय कई विद्यालयों में वर्कशॉप का आयोजन भी किया जाता है, जिनका प्रदर्शन एक जनवरी को झंडापुर के अंबेडकर पार्क में होने वाले कार्यक्रम में किया जाता है। एक जनवरी का कार्यक्रम दिल्ली और आसपास के इलाक़े में विख्यात है। यह कार्यक्रम मज़दूरों और कलाकारों के साझे कार्यक्रम के तौर पर जाना जाता है जिसका लोग इंतज़ार करते हैं।

सफ़दर की शहादत के पच्चीसवें साल में होने वाले कार्यक्रमों की इसी कड़ी में जनम और सीटू द्वारा मेहनतकश कलाकर्मियों का एक अनूठा उत्सव आयोजित किया गया - 'हल्ला बोल'। 21, 22 और 23 फ़रवरी, 2014 को किया गया तीन दिन का यह उत्सव ख़ासतौर से उन कलाकारों की प्रस्तुतियों का था जो मेहनतकश हैं, जो अपने काम के साथ साथ अपने कलाकर्म के ज़रिए जनता के अंदर एक पहुंच रखते हैं। यह उत्सव देशभर के तमाम मेहनतकश कलाकारों का एक मेला रहा। इसमें तमाम उन विधाओं को सम्मिलित किया गया जो लोक में वर्षों से न केवल प्रचलित रही हैं बल्कि आज भी देश के बहुत से इलाक़ों में देखी और समझी जाती हैं। निःसंदेह इनमें कई नाट्य रूप आंचलिक भाषाओं की बानगी को समेटे हुए थे।

रंगकर्मी हबीब तनवीर कहा करते थे 'इस देश में जो आर्थिक रूप से सबसे ग़रीब हैं वो सांस्कृतिक तौर पर सबसे समृद्ध हैं।' सफ़दर मानता था कि मेहनतकश अवाम और कला, दुनिया बदलने की ताक़त

रखते हैं। सफ़दर की याद में होने वाला ये उत्सव मेहनतकश जनता की रचनात्मकता और प्रतिभा के अनेक रंगों को एक मंच पर लाने के साथ-साथ, कला और मेहनत के बुनियादी संबंध को बल देता है। उत्सव का नाम 'हल्ला बोल' उस नाटक के नाम पर रखा गया जिसे करते हुए जनम और सफ़दर पर 1 जनवरी, 1989 में हमला हुआ था। ये उत्सव भी झंडापुर, साहिबाबाद में उसी जगह पर आयोजित किया गया जहां पर हुए हमले में 25 साल पहले सफ़दर और मज़दूर राम बहादुर की मौत हुई थी। आज सफ़दर का नाम नुक्कड़ नाटक, कलाकारों और मजदूरों की एकजुटता और सांस्कृतिक प्रतिरोध का प्रतीक बन चुका है।

'हल्ला बोल' उत्सव में कला के तमाम रूपों को शामिल किया गया। रागिनी, आल्हा, ढोल्हा, कव्वाली, बिरहा, नट करतब, जादू का खेल, सफेरा-फरसा व नौटंकी के साथ साथ अशोक शादी बेंड एवं फ्रांस का ब्रास बैंड एवं स्थानीय गायकों के क्रांतिकारी गीत उत्सव में शामिल किए गए।

इस कार्यक्रम के एक आकर्षण रहे अशोक शादी बैंड ने इस कार्यक्रम के लिए 5 क्रांतिकारी गीतों को परचम की सी.डी. से ख़ासतौर से तैयार किया। इसी के साथ फ्रांस के ब्रास बैंड की ऊर्जा से भरपूर ख़ूबसूरत प्रस्तुति की गई। साथ ही उन्होंने एक हिंदी गीत को उसी अंदाज़ में पेश किया जिसमें अशोक बैंड की प्रस्तुति रही। दोनों ही बैंडों की जुगलबंदी देखने लायक़ थी।

उत्सव का मंच अमरीका के मशहूर गायक पीट सीगर के नाम पर रखा गया। पीट सीगर ताउम्र मेहनतकश अवाम के संघर्षों को स्वर देते रहे। वे न केवल मज़दूरों के हकों के लिए लड़ते रहे, बल्कि उन्होंने अमरीका की साम्राज्यवादी जंगों के ख़िलाफ़, अमन के लिए, पर्यावरण की रक्षा के लिए, नस्लवाद के ख़िलाफ़ जैसे अनेक मुद्दों पर भी गीत रचे और रैलियों में जाकर गाए। ब०ब डिलन, ब्रूस स्प्रिंगस्टीन जैसे कई गायकों के लिए वे प्रेरणा बने।

21 फ़रवरी दोपहर तीन बजे अशोक बैंड के गीतों के साथ उत्सव की शुरुआत हुई। अशोक बैंड के कलाकार गुलावटी, हापुड़, मुरादाबाद आदि जगहों से आते हैं जो ज़्यादातर मेहनत मज़दूरी तथा खेती-बाड़ी करते हैं। इनका काम आमतौर पर सीजनल होता है।

रागिनी के कलाकार हडोली माजरा, शामली, मुज़फ़्फ़रनगर की सुरेशपाल एंड पार्टी रागिनी के मशहूर कलाकार हैं। ये सभी कलाकार आमतौर पर किसान हैं। आप शादी-ब्याह, मुंडन, मौत और मेलों के अवसर पर गाते हैं। कार्यक्रम में शरीक़ आल्हा और ढोल्हा के कलाकारों की ज़िंदगी ज़मीन से जुड़ी है। किसानी करते ये कलाकार या तो छोटे किसान हैं या खेत मज़दूर हैं। आप लोग अपने खाली समय में, यानी कटाई या बुवाई के बाद गाना-बजाना करते हैं। आप ढोल, नगाड़ा, चिमटा और हारमोनियम जैसे साज बजाते हैं।

किसान सभा से सालों से जुड़े रतन गंभीर बुलंदशहर एवं आसपास के किसान और मज़दूर आंदोलनों में अपने गीतों के ज़रिए शिरकत करते रहे हैं। वे ख़ुद भी लिखते हैं और नई या प्रचलित धुनों में संगीतबद्ध करके तमाम जनवादी कार्यक्रमों में गाते हैं। लोनी से आए क़व्वाली के कलाकार कामकाजी हैं जो अपने खाली वक़्त में पारंपरिक गीतों के अलावा जनवादी गीत एवं कव्वाली गाते हैं।

बिरहा की दो मंडलियां बलिया, उत्तर प्रदेश से आईं। दोनों मंडलियों के कलाकार ज़्यादातर किसानी में जुटे हैं। आप सामाजिक त्यौहारों में भी गाते हैं। शादी, ब्याह, मुंडन वग़ैरा। आप लोग कड़ताल, ढोलक और ऊंचे सुर की पेटी (हारमोनियम) के अलावा लोहे के फाट हाथ में पकड़कर बजाते हैं। आप इलाक़े के कई मेलों में भी जाते हैं। हर मंडली में एक लेखक होता है जो पत्रिकाओं में छपी किसी कहानी या

समाज की घटना को लेकर विरहा की तर्ज में शब्द लिखता है। अक्सर ये मंडलियां खानदानी होती हैं।

नट करतब और जादू का खेल दिखाने वाले कलाकार पारंपरिक तौर पर अपने करतब दिखाते हैं। साधारण परिवार में जन्मे ये कलाकार पुश्तैनी काम को अपनाए हुए हैं जिन्होंने अपना हुनर अपनी पहली पीढ़ी से सीखा है और जिसका प्रदर्शन आप देश-विदेश में करते हैं।

बलरामपुर से आए फरसा-सफेरा के कलाकार अवधी में गीत गाते हैं। सारे कलाकार मज़दूरी या किसानी करते हैं। सफेरा में मर्द कलाकार लहंगा/साड़ी पहनकर गाने के साथ नाचते हैं। हाथ में फरसा का जोड़ पकड़कर बजाते हैं। ये नाच-गाना समाजी उत्सव (जन्म, शादी) और कार्तिक पूर्णिमा मेला, दशहरा, बैशाखी के मौक़ों पर होता है। इनकी प्रस्तुतियां नुक्कड़ प्रस्तुतियों की तरह होती हैं। इनकी एक मशहूर प्रस्तुति 'जागो रे मज़दूर जागो रे किसनवा /शहीद सफ़दर हाश्मी का यही रहा सपनवा' रही जो बेहद पसंद की गई।

उत्सव के आख़िरी कार्यक्रम के तौर पर बलरामुपर की नौटंकी रही, जो देर रात से शुरू होकर अगले दिन सुबह तक चली। 'द ग्रेट नौटंकी पार्टी' के कलाकार नाटक के खेल व पाठ के अलावा विदेशिया पर नाच भी करते हैं और भोजपुरी, अवधी में पारंपरिक गीत भी गाते हैं। अपने इलाक़े के मेले, शादी-ब्याह, मुंडन वग़ैरा में अक्सर भाग लेते हैं। आमतौर पर ये किसान मज़दूरी का काम करते हैं। इनके खेलों में पौराणिक गाथा और वीरता की कहानी होती है।

तीन दिन के उत्सव में दर्शकों की संख्या में लगातार इज़ाफ़ा होता चला गया। उत्सव के आख़िरी दिन अंबेडकर पार्क खचाखच भरा था। अब अंबेडकर पार्क सांस्कृतिक गतिविधियों के एक केंद्र के तौर पर अपनी पहचान बना चुका है। इसमें होने वाले कार्यक्रमों का यहां के लोगों को न केवल इंतज़ार रहता है बल्कि वे हरसंभव मदद के लिए भी सामने आते हैं। उत्सव में हर रोज़ कार्यक्रम दोपहर से शुरू होकर देर रात तक चले। दर्शकों का आना, कार्यक्रम देखना और चले जाना उनकी सुविधा के अनुसार हुआ जिससे वे लोग अपनी पसंद के कार्यक्रम को अच्छी तरह से देख पाए।

मेहनतकशों द्वारा संयोजित मेहनतकश कलाकारों का उत्सव 'हल्ला बोल' अपनी तरह का एक अनूठा उत्सव रहा है। एक ख़ास बात ये रही कि इसे सीटू के साथियों ने संयोजित किया है। कलाकर्मियों की टीमों के चयन में जनम की भूमिका मददगार के रूप में ही रही है।

उत्सव में प्रस्तुत किए गए बहुत से लोकरूपों से लोग पहली बार परिचित हुए। संस्कृति के क्षेत्र में आज मीडिया का जिस तरह का हस्तक्षेप हुआ है जिसके ज़रिए थोथी एवं विकृत संस्कृति और विचारहीनता को नई-पुरानी पीढ़ी के सामने परोसा जा रहा है - वो बेहद चिंताजनक है। टी.वी. के कार्यक्रमों (जिनका स्तर निरंतर गिरता ही जा रहा है) एवं सस्ती लोकप्रियता के चलते विभिन्न तरह की सी.डी., डी.वी.डी.एवं अन्य उपादानों के चलते स्वस्थ परंपरा को समाज में रोपित करने वाले कार्यक्रमों में लगातार कमी होती जा रही है। ऐसे में जन नाट्य मंच और सीटू की पहल पर किए गए इन उत्सवों की ज़रूरत एवं प्रासंगिकता और बढ़ जाती है। ये कार्यक्रम कहीं न कहीं जन समुदाय को आशान्वित तो करते ही हैं साथ ही सांस्कृतिक तौर पर समृद्ध भी करते हैं। लोगों के अंदर जो सांस्कृतिक भूख मौजूद है जिसके लिए उन्हें एक स्वस्थ विकल्प की हमेशा तलाश होती है, निःसंदेह 'हल्ला बोल' जैसे कार्यक्रम उस भूख को मिटाने व मेहनतकश संस्कृति को समाज में रोपित करने के लिए कुछ क़दम आगे लेकर जाते हैं।

मो. : 09312061821

ग्रंथ शिल्पी प्रकाशन ही नहीं, राजनीतिक और सांस्कृतिक आंदोलन भी है

इतिहास, राजनीतिशास्त्र और समाजशास्त्र

रोमिला थापर
अशोक और मौर्य साम्राज्य का पतन 350.00/250.00
वंश से राज्य तक 395.00/195.00
आदिकालीन भारत की व्याख्या 425.00/225.00
प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास 675.00/325.00
सोमनाथ : इतिहास एक : स्वर अनेक 495.00/250.00
मौर्य साम्राज्य का पुनरावलोकन 175.00/85.00

उपेंद्रनाथ घोषाल
हिंदू राजस्वव्यवस्था का इतिहास 550.00

रामशरण शर्मा
मध्य-गंगाक्षेत्र में राज्य की संरचना 250.00/125.00

सुकोमल सेन
भारत का मजदूर वर्ग 1475.00/525.00

के.एन. पणिक्कर
औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारधारात्मक संघर्ष 400.00

प्रभात कुमार शुक्मल
इतिहासलेखन की विभिन्न दृष्टियां 1250.00/575.00

रोडनी हिल्टन (सं.)
सामंतवाद से पूंजीवाद में संक्रमण 475.00/250.00

रोज़े बूर्दरों
फासीवाद : सिद्धांत और व्यवहार 275.00

पामीरो तोग्लियात्ती
फासीवाद और उसकी कार्यपद्धति 225.00/125.00

रविंदर कुमार
आधुनिक भारत का सामाजिक इतिहास 725.00/375.00

सलिल मिश्र
सांप्रदायिक राजनीति का आख्यान 725.00

रमेंद्रनाथ नंदी
प्राचीन भारत में धर्म के सामाजिक आधार 375.00/175.00

सुवीरा जायसवाल
वैष्णव धर्म का उद्भव और विकास 675.00/375.00
वर्णजाति व्यवस्था 525.00/375.00

मुशीरुल हसन
भारत में राष्ट्रवाद और सांप्रदायिक राजनीति 575.00

इब्ने हसन
मुगल साम्राज्य का केंद्रीय ढांचा 675.00/325.00

एरिक.जे. हॉब्सबाम
इतिहासकार की चिंता 525.00
दुनिया को कैसे बदलें 725.00/550.00

हरबंस मुखिया
फ्युडलिज्म और गैरयूरोपीय समाज 775.00/375.00

सुमित सरकार
बंगाल में स्वदेशी आंदोलन 650.00
सामाजिक इतिहासलेखन की चुनौती 825.00

दीपक कुमार
प्रौद्योगिकी और भारत में अंग्रेजी राज 525.00

गिरीश मिश्र
बाज़ार : अतीत और वर्तमान 350.00
आधुनिक भारत का आर्थिक इतिहास (संशोधित) 595.00/295.00
नवउदारवाद : विभिन्न आयाम 475.00/350.00

डब्ल्यू.एच. मोरलैंड
अकबर की मृत्यु के समय का भारत 450.00/175.00

सतीश चंद्र
मध्यकालीन भारत में इतिहासलेखन, धर्म और राज्य का स्वरूप 425.00/225.00

आर्थर मारविक
इतिहास का स्वरूप 425.00

गग्लील्मो कारचेदी
वर्ग विश्लेषण और सामाजिक अनुसंधान 350.00

जे.डी. बरनाल
विज्ञान की सामाजिक भूमिका 985.00

बी. शेख अली
हैदर अली के साथ अंग्रेजों के संबंध 450.00

लिओ ह्युबर्मन
मनुष्य की लौकिक संपदा 450.00

अयोध्या सिंह
फासीवाद 575.00
हिंदुस्तान का स्वाधीनता आंदोलन और कम्युनिस्ट 375.00/150.00
भारत का मुक्तिसंग्राम 1050.00/425.00

फिदेल कास्त्रो
नव उदारवाद का फासीवादी चेहरा 325.00
अपराजेय योद्धा चे ग्वेरा 425.00/225.00
आधी सदी गवाह है 350.00/175.00

चे ग्वेरा
गुरिल्ला युद्ध 325.00/125.00
मोटरसाइकिल डायरी 400.00/275.00

फ्रैंज फेनॉन
धरती के अभागे 500.00/375.00

इरफ़ान हबीब
इतिहास और विचारधारा 475.00/225.00

ई.एम.एस. नंबूदिरिपाद
भारत का स्वाधीनता संग्राम 1050.00/325.00
एक भारतीय कम्युनिस्ट की स्मृतियां 475.00/350.00

कार्ल मार्क्स
गोथा कार्यक्रम की आलोचना 195.00/95.00

मार्क्स-एंगेल्स
कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणापत्र 175.00/20.00

राल्फ मिलीबैंड
पूंजीवादी समाज में राजसत्ता 450.00

टॉमस. एस. कुन
वैज्ञानिक क्रांतियों की संरचना 325.00

मैक्स वेबर
प्रोटेस्टेंट आचारशास्त्र और पूंजीवादी चेतना 375.00

एमिल दुर्खीम
आत्महत्या : समाजशास्त्रीय अध्ययन 750.00

हेरॉल्ड जे. लास्की
कम्युनिस्ट घोषणापत्र 200.00
राजनीति का व्याकरण 850.00
यूरोपीय उदारवाद का उदय 425.00

देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय
प्राचीन भारत में विज्ञान और समाज 950.00

मोहित कुमार हालदार
भारतीय नवजागरण और पुनरुत्थानवादी चेतना 225.00

मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह (सं.)
समाजवाद का सपना 650.00

मुरलीमनोहर प्रसाद सिंह, रेखा अवस्थी (सं.)
1857 : बग़ावत के दौर का इतिहास 1250.00

विस्तृत जानकारी के लिए लिखें

ग्रंथ शिल्पी (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, बी-7, सरस्वती कामप्लेक्स, सुभाष चौक, लक्ष्मी नगर, दिल्ली 110092
फोन : 22025140, 65179059, (R) 64688542, 22731014
e-mail: granthshilpi.delhi@gmail.com; Website: www.granthshilpi.com